उसके बाद हम देखते हैं कि पार्थिव अग्नि का जन्म अश्म, अथवा 'अद्रि' से होता है [१२६१]। प्रत्यक्ष रूप से जान पड़ेगा जैसे यह चकमक पर चोट करने का कार्य है।[1] किन्तु इस रूप में अग्निजनन यौगीय विधि नहीं। वस्तुतः 'अश्म' संज्ञा के साथ 'वल का गो-निगूहन' अर्थात् आवरणकारी शक्ति द्वारा अन्तर्ज्योति के चारों और पत्थर की दुर्भेद्य प्राचीर रचने का प्रसंग जुड़ा हुआ है।[2] इसी अन्तर्ज्योति को कहीं 'गो' अथवा कहीं 'अग्नि' बतलाया गया है।[3] इन्द्र जब दो अश्म से अग्नि उत्पन्न करते हैं तब वज्ररूपी अश्म[4] द्वारा अचिति के अश्म पर चोट करते हैं एवं उसी से चिदग्नि उज्ज्वलित, प्रज्वलित हो उठता है। इस प्रकार वे 'गो' अथवा ज्योति की धारा को भी अश्म के आवरण से मुक्त करते हैं।[5] बृहस्पति अपने वज्रनाद अथवा मंत्रवीर्य द्वारा भी वही करते हैं।[6] उनका अनुसरण करते हुए यथाभार ऋषिगण भी वही करते हैं।[7] इसके अतिरिक्त जब अग्नि को 'अद्रि पुत्र' कहा जाता है[8] तब उसका भी यही तात्पर्य है। लेकिन 'अश्म' एवं 'अद्रि' पर्यायवाची शब्द हैं, फिर भी अद्रि में विशेष रूप से सोम कूटने के पत्थर के अर्थ की भी यहीं ध्वनि है। अग्निमन्थन अथवा सोमसवन दोनों का ही अर्थ है शक्ति और आनन्द को अचिति की पकड़ से मुक्त करना।

बहना); ओषधियाँ सोम का धाम हैं ९।५९।४ (इन्द्र और अग्नि का भी अधिष्ठान १।१०८।११, अतएव ऋक् संहिता के तीन प्रधान देवता ही नाड़ी संचारी हैं; तु. तंत्र की सुषुम्ना, वज्राणी और चित्राणी)। सोम ओषधि १०।८५।३। ४ द्र. 'द्रविणोदाः' आगे चल कर। ५ तु. ७।८४।२ (द्र. टी. १२५६[3])। ६ १।१६६।५, २।१।१, २।३४।१०, ५।४१।८, ४२।१६, ७।३४।२३, ८।२७।२, १०।६५।११ ...। ७ और भी तु. ऋ. इमां खनाम्य् ओषधिं वीरुधम १०।१४५।१; फिर ७।७।३, २१। ८ तु. २।१।१४, वियो वीरुत्सु रोधन् महित्वा १।६७।१० (ऊर्ध्व संचार की ध्वनि लक्षणीय); १०।७९।६, ७।९।३; सोम ९।११४।२। ९ तु. पर्जन्य द्वारा ओषधि में गर्भाधान ५।८३।१। 'ओष' रूप में अग्नि ही यह गर्भ है। इसी से ओषधि और अप का सहचार ३।५५।२२, ५।४१।११, ७।३४।२३, २५, ५६।२५, ८।५९।२, १०।५८।७। तु. अप्स्व् अग्ने सधिष् (निवास) टव सौषधीर् अनुरुध्यसे (साथ साथ धारा के विरुद्ध चलो) ८।४३।९।

[१२६१] तु. ऋ. त्वम् अश्मनस् परि ... जायसे शुचिः २।१।१, यो (इन्द्रः) अश्मनोर् अन्तर् अग्निर् जजान २।१२।३; अद्रि में १।७०।४, यम आपो अद्रयो वना गर्भम् ऋतस्य पिप्रति (ऋत के बीज रूप में पुष्ट करता है) ६।४८।५ (द्र. टी. १२४८६), अद्रेः सूनुम् आयुम् आहुः (पाषाण से उत्पन्न प्राण रूप में, द्र. टी. १३२८१) १०।२०।७। १ तु. तैत्तिरीय संहिता. सायण भाष्य. 'त्वम् अश्मनस् परि', पाषाणस्यो- परि पाषाणान्तर संघट्टनेन जायसे ४।१।२।५। २ वल का आख्यान ऋ. १०।६८।५-९; तु. ६।७।३-८, पणि-सरमा संवाद १०।१०८ सूक्त ...। ३ तु. यस्य (सोमस्य) गा अन्तर् अश्मनो मदे दृळ्हा अवासृजः (इन्द्र). ६।४३।३; बाहुभ्यां धमितं ... (मन्थनोत्पादितम्, सायण) 'अग्निम्' अश्मनि २।२४।७; अन्यत्र गुहानिहित दिव्य निधि : अविन्दद् दिवो निहितं गुहा निधिं वेर् (पक्षी का) न गर्भं परिवीतम् अश्मन्य् अनन्ते अन्तर् अश्मनि १।१३०।३, तु. २।२४।६। ४ तु. २।१४।६, 'अश्म' वज्र, उसी से शम्बर का पुरभेदन। ५ ६।४३।३। ६ तु. बृहस्पतिर् उद्धरन्न् अश्मनो

तो फिर पार्थिव अग्नि का जन्म वन, ओषधि एवं पाषाण से निश्चय ही प्रत्यक्षत: एवं राहस्यिक अर्थ में भी होता है। वे पृथिवीस्थान देवता हैं इसलिए पृथिवी के जिस स्थान पर प्राण और चेतना के रूप में तप:शक्ति का आविर्भाव होता है वहाँ ही वे हैं; संक्षेप में वे 'पृथिवी की नाभि' हैं [१३५२]। इसके अतिरिक्त वे पृथिवी के पुत्र भी हैं।[1] किन्तु पृथिवी यदि उनकी माता है तो द्युलोक उनका पिता है। अग्नि द्यावापृथिवी के पुत्र हैं, इसका उल्लेख अनेक स्थानों पर है।[2] अग्नि का प्रत्यक्ष आश्रय पृथिवी है, इसके बावजूद स्वरूपत: वे द्युलोक के शिशु हैं,[3] उनका जन्म परमव्योम[4] में होता है और मातरिश्वा द्युलोक से ही उनको मनुष्य के बीच ले आए हैं;[5] अर्थात् हमारे भीतर जो अभीप्सा की शिखा उन्मुख होती है, वह दिव्य चेतना के ही आवेश अथवा शक्ति से उन्मुख होती है।[6]

द्युलोक में जिस प्रकार अग्नि का प्रथम जन्म, फिर हम सब के भीतर द्वितीय जन्म होता है उसी प्रकार उनका तृतीय जन्म अप में होता है [१३५३] इसलिए वे 'अपां गर्भ:' हैं[1] एवं इसी कारण उनकी एक विशिष्ट संज्ञा 'अपांनपात्' हुई।[2] पृथिवी में जल

गा: ... वि त्वचं (वलस्य) बिभेद (उससे आधार 'सूर्यत्वच्' हुआ, तु. अपालाम् इन त्रिष्पूतम् अकृणो: सूर्यत्वचम् ८।९१।७) १०।६८।४, ८; और भी तु. ६७।३, ५।...। [7]२।२४।६। सोम भी वही करते हैं: य उस्रिया (आलोकदीप्त) अप्या (अर्थात् प्राणोच्छल) अन्तर् 'अश्मनो निर् गा अकृन्तत् (तोड़कर लाए) ओजसा ९।१०८।६ ('अश्मनो मेघनामैतत्' सायण; मेघ भी आवरणकारी शक्ति तु. नि. २।१६)। ऋ. १०।३०।७; तु. 'अद्रिजा' ४।४०।५, सूर्य में अग्निधर्म का उपचार; ६।४८।५, अद्रौ चिद् अस्मा (इनको आहुति दो) अन्तर् दुरोणे (आधार में) ७।७०।४।

[१३५२] तु. शौ. ये अग्नये अप्स्व अन्तर् ये वृत्रे ये पुरुषे ये अश्मसु, य आविवेशौषधीर् यो वनस्पतीन् ... य: सोमे अन्तर् यो गोष्व अन्तर् य आविष्टो वय:सु यो मृगेषु, य आविवेश द्विपदो यश् चतुष्पद: ... ३।२१।१-२, १२।१।१९, यो नो अग्नि: पितरो हृत्स्व अन्तर् आविवेशामृतो मर्त्येषु २।३३; ऋ. १।७०।३, १०।४५।६, ३।२९।१०; १।५९।२ (टी. १३४८[1])। [1] तु. तं ... गर्भं भूमिश् च ... बिभर्ति ७।४।५; और भी तु. अस्मद् द्वितीयं परि जातवेदा: (१०।४५।१: ... यह द्वितीय जन्म देवयोनि में — उत्तरवेदि में अथवा अरणि में)। [2] तु. १।५९।४, ३।१।७, २।२, ३।११, ७।७।३, १०।१।२, २।७, १४०।२ ..., द्युलोक-भूलोक के 'उपस्थ' में १।४६।१, ६।७।५, ७।६।६ ...; अतएव 'द्विजन्मा' १।१४९।४, ५, ३।९।३ ...। [3] तु. ४।१५।६, ३।२५।१, १०।४५।१, ८ असुरस्य जठरात् ३।२९।१४। [4] तु. १।१४३।४; १४३।२, ६।८।२, ८।११।७। [5] तु. १।९३।६, ६।८।४, १०।४६।९। [6] तु. श्रद्धा के आवेश से नचिकेता के भीतर अभीप्सा का जागरण, क. १।१।२।

[१३५३] ऋ. दिवस् परि प्रथमं जज्ञे अग्निर् अस्मद् द्वितीयं परि जातवेदा:, तृतीयम् अप्सु नृमणा अजस्रम् इन्धान एनं जरते स्वाधी: — सब से पहले अग्नि द्युलोक से जन्मे, दूसरी बार हम सब से (जन्मे) जातवेदा; तीसरी बार अप के भीतर नर के मन के साथ; अविराम समिद्ध रखकर स्वच्छन्द ध्यानी इसकी स्तुति गाते हैं १०।४५।१। द्युलोक में अग्नि का जन्म सूर्यरूप में (सायण), भूलोक में उत्तरवेदि में जातवेदो रूप में और अन्तरिक्ष में वैद्युत 'अपांनपात्' रूप में (द्र. २।३५ सूक्त)। लगता है, द्युलोक और भूलोक हमारे अस्तित्व के सुमेरु और कुमेरु हैं; उनके मध्य अन्तरिक्षचारी विद्युत की दीप्ति या कौंध — नाड़ीचक्र में (लक्षणीय अपांनपात् 'नाद्य अथवा नदीजात २।३५।१)

बहकर नदी की धारा में जाकर समुद्र में गिरता है किन्तु नदी के जल का उत्स अन्तरिक्ष में पर्जन्य के मूसलधार वर्षण में है। वहाँ हम अग्नि को विद्युत रूप में देख पाते हैं।[3] अतएव अन्तरिक्ष में यह अग्नि का तृतीय जन्म है जिसमें विश्वप्राण मरुद्गण का ज्योतिर्मय आवेश है।[4] वृष्टि और वायु के आधार के रूप में अन्तरिक्ष प्राणलोक है। वह प्राण अग्निगर्भ है, रेतोधा पर्जन्य उसको ओषधि में निषिक्त करते हैं।[5] ओषधि का रस या सार पुरुष अथवा मनुष्य है क्योंकि उसके शरीर-प्राण-मन जो भी कहें, सब ओषधि के परिणाम हैं।[6] इस रूप में अप् अग्नि, ओषधि एवं प्राण अन्योन्य सम्पृक्त हैं। अतएव अग्नि का पार्थिव जन्म जिसप्रकार अभीप्सा की शिखा के रूप में और दिव्य जन्म परमचेतना के रूप में होता है उसी प्रकार उन का यह तृतीय जन्म भुवनसंजीवन अन्तरिक्षचर महाप्राण के रूप में हुआ।

द्युलोक, भूलोक एवं अन्तरिक्ष इन तीन लोकों में अग्नि के तीन जन्म का उल्लेख ऋक्संहिता में नाना रूप में है [१३६४]।[1] वे विश्वभुवन में व्याप्त त्रिधास्थित अर्चि हैं, दीप्ति हैं — द्युलोक में सूर्यरूप में, अन्तरिक्ष में वायुरूप में एवं पृथिवी में अग्नि रूप में स्थित हैं। उस कारण वे 'त्रिषधस्थ', अर्थात विश्व भुवन के चित्केन्द्र[2] में अवस्थित हैं। इसी केन्द्र से वे सर्वत्र

अथवा हृद्य समुद्र में (तु. २; 'उर्व', समुद्र)। नृमणाः ('नृम्ण', निघ. 'बल' २।९ 'धन' २।१०) < नृ (॥ नर < √नृत, तु. 'नरा मनुष्या नृत्यन्ति कर्मसु', अर्थात कर्म जिनके लिए नृत्य जैसा है, निरुक्त. ५।१) + मनस्। 'नृ' भाववचन में पौरुष, ओजस्विता (तु. निघ. 'मनुष्य' २।३; 'अश्व' १।१४, द्र. ऋ. १।८३।१०)। विशेष रूप से वृत्र का वध अन्तरिक्ष लोक में ही; इसलिए अग्नि वहाँ 'नृमणाः'। [1] १।७०।३; तु. ३।१।१२, १३, ८।९।३, १०।९१।५, २।१।१, ५।८५।२; १०।८।१। [2] द्र. २।३५ सूक्त; व्याख्या आगे चलकर। ऋक्संहिता में उनका वर्णन: 'स श्वितानस् तन्यतू रोचनस्था अजरेभिर् नानदद्भिर् यविष्ठः' — (विद्युत में) चमचमाते वज्र हैं वे, ज्योतिर्लोक में स्थित हैं — जरा हीन (शिखाओं के) निनाद में तरुणतम ६।६।२; तु. अक्रन्दद् (गरज उठे) अग्निः स्तनयन्न् (प्रतिध्वनित करके) इव द्यौः क्षामा (पृथिवी) रेरिहद् वीरुधः समञ्जन् (लिप्त करके, भिगोकर) १०।४५।४ (उसके बाद ही 'आभा' का वर्णन); तैब्रा. वैश्वानरो यदि वा वैद्युतो असि ३।१०।५।१। और भी तु. क. पंचाग्नि में 'नेमा विद्युतो भान्ति' २।२।१५। अन्तरिक्ष में ही अग्नि स्वरूपतः 'अब्जाः'; पृथिवी में उसका ही उपचार या साधर्म्य नदी में एवं सिन्धु में। नदी में: तु. ऋ. 'यो अग्निः सप्तमानुषः' (आधियाज्ञिक दृष्टि से सात होता, आध्यात्मिक दृष्टि से सात शीर्षण्य प्राण) श्रितो विश्वेषु सिन्धुषु (तु. २।३५।१, ३) तम् आगन्म त्रिपस्त्यं (त्रिस्रोता अथवा 'त्रिषधस्थ') मन्धातुर् (समाधिमान पुरुष के) दस्युहन्तमम् ८।३९।८। समुद्र में: त्रीणि जाना (जन्म) परिभूषन्त्य (यजमान को घेरे हैं) अस्य समुद्र एकं दिव्य एकम् अप्सु १।९५।३, समुद्रे त्वा नृमणा (यजमान) अप्स्व् अन्तर् नृचक्षा (देववत् सर्वसाक्षी द्र. टी. १४५०) ईधे दिवो अग्न ऊधन् (थन में, ज्योतिःक्षार) १०।४५।३; तु. समुद्रवाससम् ८।१०२।४ (लक्षणीय 'और्वभृगुवत्', वही; पुराण में समुद्र की आग 'और्व', तु. ऋ. २।३५।२)। [4] तु. तृतीये त्वा रजसि —

विच्छुरित एवं अनुप्रविष्ट हैं इसलिए वे पुनः 'भुवनस्य गर्भः' अर्थात विश्वभुवन के अन्तर्यामी चिद्‌विन्दु हैं।[2] इसके अतिरिक्त रहस्यवेत्ता की दृष्टि में वे ही सब कुछ होने के[4] कारण एक साथ पिता माता पुत्र अर्थात स्वयम्भू विश्वसम्भूति हैं।[5] उनके जन्म के रहस्य के चरम विन्दु का स्पर्श करते हुए बार्हस्पत्य भरद्वाज कहते हैं : मां के गर्भ में वे पिता के पिता हैं, बिजली की तरह अक्षर परम व्योम में कौंधते रहते हैं — जब आसन्न या आगतप्राय रूप में ऋत की योनि में अवस्थित होते हैं।[6]

तस्थिवांसम् अपाम् उपस्थे महिषा (ज्योतिर्मय मरुद्‌गण) अवर्धन् १०।४५।३। [5] तु. ५।८३।१, ४, ५, ६, ७, १०, ७।१०१, ६, १०२।२। [6] तु. छा. 'एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसो अपाम् ओषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग् (< अग्नि) रसः १।१।२; और भी तु. ६।५।११।
[१३७४] तु. ऋ. उत त्रिमाता विदथेषु सम्राट् ३।५६।५ (तु. द्विमाता होता विदथेषु सम्राट् ५५।७; तीन माता 'ऋतावरीर् योषणास् तिस्रो अप्याः त्रिर् आ दिवो विदथे पत्यमानाः' — ऋतम्भरा तीन अब्जा नारी, दिन में तीन बार अर्थात तीन सोमसवन में जो विदथ की ईश्वरी होती हैं ५६।५, सायण के मतानुसार इला, सरस्वती भारती जो पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक की अन्तर्यामिनी हैं), १०।८८।१० (द्र. टी. १२७०१), १।९५।३, १०।४५।१, त्रिर् अस्य ता परमा सन्ति सत्या स्पार्हा (हमारे स्पृहणीय) देवस्य जनिमान्य् अग्नेः ४।१।७, १०।२।७ (त्वष्टा पिता और त्रिलोकी माता; इसलिए अग्नि सर्वव्यापी; तु. ४६।८ तु. श्वे. १२।१।२०। द्र. टी. १२७०१। अग्नि वायु सूर्य, तीन लोक में तीन ज्योति, द्र. ऋ. शम अग्निर् अग्निभिः करच् छं नस् तपतु सूर्यः, शं वातो वात्व् अरपा (चुपचाप) अप (दूर करके) स्रिधः (अरिष्ट, अमंगल सब) ८।१८।९, १०।१५८।१, १।१६४।४४ (अग्नि वायु सूर्य तीनों ही केशी, अर्थात रश्मिविशिष्ट; किन्तु 'ध्राजिर् एकस्य ददृशे न रूपम्' अर्थात एक में वेग है किन्तु उनका रूप नहीं दिखाई पड़ता; तु. 'घोषा इद् अस्य शृण्विरे न रूपम्' १०।१६८।४, यद्यपि अन्यत्र वायु 'दर्शत' १।२।१, तु. अपश्य गोपाम् १६४।३१)
[2] द्र. ३।२०।२, ५।४।८; ११।२, ६।८।७, १२।२; तु. 'त्रिपस्त्य' ८।३९।८। अधियज्ञ दृष्टि से तीन अग्निवेदि, अध्यात्म दृष्टि से तीन 'आवसथ'। [2] तु. विश्वस्य केतुर् (चिद्‌विन्दु, चिल्लेखा) भुवनस्य गर्भ आ रोदसी अपृणाज् जायमानः (उनके आविर्भाव मात्र से चेतना का विश्वमय विस्फारण, फैलाव), वीळुं (अचल) चिद् अद्रिम् अभिनत् परायन् (व्याप्त होते हुए) जना यद् अग्निम् अयजन्त पञ्च १०।४५।६। **पञ्चजनाः** वेद में यह एक बहुप्रयुक्त पदगुच्छ है, ऋक् संहिता के प्रत्येक मण्डल में उल्लिखित ऐब्रा. की दृष्टि में, देव, मनुष्य, 'गन्धर्वाप्सरसः' सर्प एवं पितृगण अर्थात तिर्यक् योनि अथवा मानवेतर प्राणी जाति, मनुष्य और तीन ऊर्ध्वजन (तु. तैउ. आनन्द-मीमांसा २।८) २।३। यास्क बतलाते हैं — 'गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसि इत्येके, चत्वारो वर्णा निषादः पंचम इत्यौपमन्यवः (नि. ३।८)। निघण्टु में मनुष्य नाम के अन्तर्गत 'पंचजनाः' प्राप्त होता है (२।३) Roth और GELDNER के विचार से 'मनुष्यजाति' — चारों ओर अनार्य, मध्य में आर्य। Zimmer का कहना है — अनु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वश और पुरु यही पाँच आर्य जाति हैं (१।१०८।८; ७।१८ सूक्त द्रष्टव्य, किन्तु वहाँ अनेक जातियों का उल्लेख है)। ऋक् संहिता में हम देखते हैं कि तीन प्रधान देवता 'पाञ्चजन्य' हैं (अग्नि ९।६६।२०, इन्द्र ५।३२।११, सोम 'ये वा जनेषु पञ्चसु' ९।६५।२३)। इसके अलावा देखते हैं पंचजन सरस्वती के तट पर (सरस्वती 'त्रिषधस्था सप्तधातुः पञ्चजाता वर्धयन्ती' ६।६१।१२); अत्रि ऋषि पाञ्चजन्य (१।११७।३)। इससे यूरोपीय पंडितों का कहना है कि पञ्चजन तो विश्वजन हो सकता नहीं। किन्तु ठीक इन्हीं कारणों से ही पञ्चजन से जीवमात्र का बोध होता है क्योंकि अग्नि, इन्द्र, सोम और चित्राणी नाड़ी सब के भीतर ही हैं, सभी उत्तरायण के पथिक हैं अतएव अत्रि, (< अत् तु. अग्नि 'अतिथि') यह भावना आर्य भावप्रवण के मन में
१५४

इसके बाद अधिदैवत दृष्टि से अग्नि का जन्म। 'द्यौः' — आलोक-दीप्त आकाश जिसका प्रतीक है — वह विश्व का आदिपिता है[१३६५] क्योंकि उसके सब कुछ के मूल में एक अनिबाध व्याप्ति चैतन्य की ज्योतिर्मयि प्रेषणा है। अन्यान्य देवताओं की तरह अग्नि भी इसी द्यौः के 'सूनु' अथवा 'शिशु' हैं।[१] अतः उनका प्रथम जन्म द्युलोक में अथवा परमव्योम में होता है; अर्थात् हमारी ज्योतिरीप्सा उस परम ज्योति का ही प्रसाद है। इसके अलावा विश्व सृष्टि की

सहज में ही आएगी। ऐतरेय ब्राह्मण द्वारा तिर्यक् योनि अथवा मनुष्येतर प्राणियों को भी पञ्चजन के अन्तर्गत स्वीकार करके विश्वभूत में व्यापक दृष्टि का परिचय दिया गया है। जान पड़ता है 'पञ्च जनाः' एक वैदिक वाग्‌भंगिमा है, जैसे हमारे 'पाँचजन' = सभी (तु. 'पंचायत' जो इस देश का अति प्राचीन प्रतिष्ठान है; इतिहास में श्रीकृष्ण का 'पाञ्चजन्य', अर्थात् उसका ब्रह्म घोष सब के लिए है तु. गीता ८।३२, ३३ क्योंकि वे 'विशां गोपाः' हैं)। जैउब्रा. में अधिदैवत दृष्टि से बतलाया जा रहा है — 'ये देवा असुरेभ्यः पूर्वे पञ्चजन्य आसन्, य एवा- सावादित्ये पुरुषो यश्च चन्द्रमसि यो विद्युति यो अप्सु यो इयम् अक्षन्न् अन्तर् एष एव ते, तद् एषा (= अदिति; ऋ. १।८९।१०) एव' १।४१।६। रूपान्तर: 'पञ्च मानुषाः', कृष्टयः, क्षितयः, चर्षण्यः, जातानि, मानवाः'। ४ द्र. ऋ. १०।६१।१९ (टी. १३१६५)। ५ तु. 'धिया चक्रे वरेण्यो भूतानां गर्भम् आ दधे, दक्षस्य पितरं तना' — ध्यान चेतना में (वे) वरेण्य समिद्ध हुए, भूतसमूह के बीज को उन्होंने आहित किया (अपने भीतर : अग्नि स्वयं भूतबीज १०।४५।६, १।७०।३; फिर वे ही सब कुछ में गर्भ के आधाता हैं ३।२।१०; यह सब कुछ अदिति १।८९।१०, एवं अग्नि भी अदिति द्र. टी. १३१६४; अतएव अग्नि एक ही साथ पिता, माता एवं पुत्र अदिति की ही तरह) (आहित किया) दक्ष के पिता को (भूतबीज रूपी स्वयं को : दक्ष एक जन आदित्य ऋ. २।२७।१ एवं देवगण के पिता ६।५०।२, ७।६६।१०, अतएव अग्नि के भी पिता; किन्तु परमदेवता के रूप में अग्नि दक्ष के भी पिता हैं) निरन्तर (तना < √तन्, विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय, द्र. १।३।४ 'नित्यम्' सायण भाष्य; अन्तोदात्त 'तनया' १०।९३।१२; सायण द्वारा अन्वय एवं व्याख्या- 'पितरं अग्निं दक्षस्य तना तनया वेदिरूपा धारयति') ३।२७।९। ६ तु. गर्भे मातुः पितुष् पिता विदिद्युतानो अक्षरे, सीदन् ऋतस्य योनिम् आ ६।१६।३५। अग्नि की माता पृथिवी ३।२९।१४ (सायण), अरणि, ५।९।३, अथवा अदिति १०।५।७ द्र. टी. १३१५, १३१६[६]। उनके पिता अत्यन्त 'असुर' ३।२९।१४ द्यौ, २५।१, त्वष्टा (विश्वरूप) १।९५।२, ५, ३।७।४..., अथवा दक्ष २७।१०। वे पिता के भी पिता ३।२७।९ जब वे परमव्योम में सदसत् के उस पार १०।५।७। उनका विद्योतन तु. के. ४।४। ऋतस्य योनिः निघ. में— 'उदक' १।१२; तु. सलिलानि ऋ. १।१६४।४१, अम्भः ... गहनं गभीरम् १०।१२९।१, तम आसीत् तमसा गूळ्हम् अग्रे अप्रकेतं सलिलं सर्वम् आ इदम् ३...। ऐउ. में द्युलोक, अन्तरिक्ष एवं मर्त्यलोक के चारों ओर 'अम्भः' (कुहासे की तरह) एवं 'आपः' (लबालब छलक रहे हैं) १।१।२। पुराण में कारण सलिल प्रसिद्ध। वही 'ऋत' की अथवा शाश्वत विश्वविधान की 'योनि' अथवा उत्स है। स्मरणीय 'योनि का मौलिक अर्थ है गर्भवेष्टनी (नि. २।८)। अग्नि 'प्रथमजा ऋतस्य' ऋ. १०।५।७, ६१।१९। सोम भी 'सीदन् ऋतस्य योनिम् आ' ९।३२।४, ६४।११। पदगुच्छ का प्रयोग सोम के लिए भी बहुत ज़्यादा किया गया है। इसके अलावा विश्व के मूल में है एक 'अभीद्धतपः', (१०।१९०।१), जिससे ऋत एवं सत्य का जन्म होता है। अतएव वह विश्वादि अग्नि भी 'ऋतस्य योनिः'।

[१३६५] तु. ऋ. द्यौः ... नः पिता १।९०।७, द्यौर् मे पिता जनिता नाभिर् अत्र १६४।३३, द्यौष् पिता जनिता ४।१।१०। द्र. द्यौः। १ ३।२५।१, ४।१५।६, ६।४९।२। तु. यो अस्य पारे रजसः शुक्रो अग्निर् अजायत १०।१८७।५।

दृष्टि से विश्वकर्मा आदि पिता को 'त्वष्टा विश्वरूपः' कहा जाता है— जिस प्रकार बढ़ई काठ को काट-छाँट कर सुडौल बनाता है उसी प्रकार वे स्वयं को ही विश्व के रूप में 'तक्षण' करते हैं; गढ़ते हैं।[२] अग्नि त्वष्टा के भी पुत्र हैं क्योंकि अपादशीर्षा गुहाहित[३] अग्नि को मातरिश्वा एवं देवतागण तक्षण करके ही जन्म देते हैं।[४] मनुष्य का जो अग्निमन्थन है वही देवताओं का है एवं उसके मूल में सविता के रूप में त्वष्टा की प्रेरणा है।[५] फिर आदिमाता अदिति से उनका जन्म परमव्योम में होता है।[६] वे अदिति के नटखट पुत्र हैं।[७] एक जगह हम पाते हैं कि दिव्य धेनु पृश्नि उनकी माता हैं— जो विश्वप्राण का लोकोत्तर अमृत निर्झर हैं।[८] ये सभी अग्नि के दिव्य जन्म हैं, जिसकी आध्यात्मिक व्यंजना कुछ इस प्रकार है: हम सब की अभीप्सा की शिखा अथवा तपस्या की आग जल उठती है उसी परम चैतन्य या परमा शक्ति अथवा परम प्राण की प्रेषणा से।

दक्ष सात आदित्यों में एक आदित्य हैं [१२८६]। वे देवगण के पिता हैं,[१] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार प्रजापति हैं। दिव्य सिसृक्षा

---

२ ३।५५।१९, १०।८१।४; तु. १।१६४।४१। द्र. आप्री देवगण 'त्वष्टा'। ३ तु. ४।१।११। द्र. टी. १३०७[४]। ४ तु. ऋ. द्यावा यम् अग्निं पृथिवी जनिष्टाम् आपस् त्वष्टा भृगवो यं सहोभिः (उत्साहस के वीर्य से), ईळेन्यं (जिन्हें जगाना पड़ता है) प्रथमं (क्योंकि यज्ञ अथवा उत्सर्ग की भावना के आदि में वे ही हैं) मातरिश्वा देवास् ततक्षुर् (तक्षण-क्रिया, काट-छाँट, तराशा) मनवे यजत्रम् (यजनीय को) १०।४६।९। अव्यक्त अग्नि को वस्तुतः देवशिल्पी त्वष्टा ही तक्षण द्वारा व्यक्त करते हैं। देवतागण उनके निमित्त मात्र हैं एवं त्रिलोक उस तक्षण का आधार है; अर्थात् अग्नि परम पुरुष की सिसृक्षा से आविर्भूत एक सर्वव्यापी चिन्मय वीर्य हैं। इस अग्नि को विश्वप्राण मातरिश्वा मनुष्य के भीतर निवेशित करते हैं। अग्नि-ऋषि भृगु उनकी प्रत्यक्षता उपलब्ध करते हैं। तु. १०।२।७; त्वष्टुर् गर्भः १।९५।२ त्वष्टुः... जायमानः ५, त्वाष्ट्र ३।७।४। ५ त्वष्टा सिसृक्षा की भूमिका में 'सविता', क्योंकि उनका तक्षण सविता की तरह अँधेरे से उजाले की पहली झलक दिखलाना एवं उसके बाद उसे विश्वरूप में विभात करना है (तु. ३।५५।१९ (१०।१०।५)। ६ द्र. १०।५।७ टी. १२७१, १३१६। ७ १०।११।१। ८ २।२।७

[१२८६] तु. ऋ. शृणोतु मित्रो अर्यमा भगो नस् तुविजातो वरुणो दक्षो अंशः २।२७।१। सात आदित्यों के नाम: वरुण, मित्र, अर्यमा, भग, अंश, दक्ष एवं तुविजात [इन्द्र; द्र. टीमू. १२५७[४]]। इस मंत्र के प्रसंग में यास्क की व्याख्या दो स्थानों पर दो प्रकार। एक जगह उनका मन्तव्य है 'एवम् अन्यासाम् अपि देवतानाम् आदित्यप्रवादाः स्तुतयो भवन्ति, तद् यथैतन् मित्रस्य वरुणस्यार्यम्णो दक्षस्य भगस्यांशस्येति (२।१३)'। यहाँ स्पष्टतः यही मंत्र उनका लक्ष्य है किन्तु आदित्यों की संख्या छः है। अन्यत्र इसी मंत्र की व्याख्या में वे बतलाते हैं— 'मित्रश् चार्यमा च भगश् च, तुविजातश् च धाता, दक्षो वरुणो अंशश् च (१२।३६)'। **धाता** उनकी दृष्टि में एक मध्यस्थान देवता हैं (११।१०)। इन्द्र भी वही हैं। ऋक् संहिता में 'धाता' संज्ञा प्रायशः सामान्यवाची है (तु. ७।३५।३, १०।१७०।३, १८।५, धाता धातॄणां भुवनस्य यस् पतिर् देवं त्रातारम् अभिमातिषाहम् १२८।७ [सा. इन्द्रः; सविता वा; शौ. का पाठ है 'देवः सविता' ५।३।९; किन्तु ऋक् संहिता में इसी 'धाता' का इन्द्र होना ही संभव, क्योंकि वे ही

उनका स्वरूप है।[3] अग्नि इसी दक्ष के पुत्र हैं।[4] अतएव हम सब की वेदी अथवा आधार में वे आदि देवता के दिव्य संकल्प के प्रतिरूप या प्रतिबिम्ब हैं। वह संकल्प मनुष्य के नचिकेता-हृदय में विद्या की अभीप्सा के रूप में उद्दीप्त हो उठता है। अग्नि के इस जन्म के मूल में इन्द्र एवं विष्णु के भी वृत्र-नाशन वीर्य का संवेग है। वे दोनों ही अभीप्सा को चरम लक्ष्य तक ले जाते हैं।[5]

इसके अलावा अग्नि 'उषर्बुत' हैं अर्थात् उषा की ज्योति में, श्रद्धा के आवेश एवं प्रातिभ संवित के उन्मेष में जाग्रत होते हैं। इसलिए उषा भी अग्नि की जननी हैं; हम प्रतिदिन उनको देखते हैं आँखों के सामने झिलमिला कर ज्योति बिखेरते, अग्नि, यज्ञ और सूर्य को जन्म देते; और देखते हैं निरानन्द अँधेरे को विपरीत दिशा में विलीन होते [१३६७]। 'प्रत्यूष मुखी यह

वहाँ सु-त्रामा हैं ६।४७।१२, १३ = १०।१३१।६, ७], अन्यान्य देवताओं के साथ १५८।३, १८१।१, २, ८५।४७, १८४।१, ७।५७।२८ [तु, तैब्रा. १।७।२।१])। किन्तु ऋ. संहिता में 'धाता' विशेष रूप से विश्वकर्मा (१०।८२।२) एवं इन्द्र (१६७।३) हैं। गृत्समद की प्रसिद्ध इन्द्रप्रशस्ति में इन्द्र विश्वकर्मा के आसन पर स्थापित हैं (२।१२ सूक्त)। वहाँ उनको एक स्थान पर 'तुविष्मान' बतलाया गया है (१२)। फिर, उनके इस आदित्य सूक्त में हम देखते हैं कि समस्त सूक्त में विशेष रूप से बार-बार वरुण, मित्र, अर्यमा और 'इन्द्र' का नाम लिया जाता है (२७) और प्रसंगतः अदिति का भी। इन सब का विवेचन करने पर मंत्र का तुविजात आदित्य ही इन्द्र है, इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता। १ देवतागण 'दक्षपितरः' ६।५०।२, ८।६३।१०। २ श. २।४।४।२; उनके द्वारा प्रवर्तित यज्ञ 'दाक्षायण यज्ञ'। ३ **<u>दक्ष</u>** निघ. में 'बल' २।९ (तु. 'दक्षिण', <u>Gk</u>. dexiós 'on the right, propitious, skilful' < ※ deks- < dek- 'to seem good, be suitable') मूल अर्थ सामर्थ्य से 'संकल्प शक्ति'; तु. ऋ. 'न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर् विभीदको अचित्तिः, अस्ति ज्यायान कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेद अनृतस्य प्रयोता' — वह तो अपनी इच्छा नहीं है वरुण, वह है द्रोहबुद्धि (तु. ७।६०।९; सा. 'नियति') सुरा, मन का प्रक्षोभ, बहेड़े से निर्मित (पासे की गोटी) अथवा अविवेक; बड़े (अर्थात प्रबलतर प्रवृत्ति) छोटे के पास ही है; निद्रा भी शायद अनृत का उत्स है ७।८६।६ (तु. गी. ३।३६-३७), १।७६।१; 'उद्दीपना': 'अलर्ति (सक्रिय होता है) दक्ष उत मन्युर् इन्दो', 'नैपुण्य': दक्षस्य चिन् महिना मृळता नः ७।६०।१०, दक्षं दधाते अपसम् १।२।९ देवतागण विशेष रूप से मित्र और वरुण 'ऋतदक्ष' (तु. 'सत्य सकल्प'), १।२३।४, ५।६६।४, ८।२३।३०, २५।१, ६।२१।९, १०।९२।४...। सृष्टि के मूल में परम देवता का यह दक्ष ही 'आदित्य दक्ष'। परम रूप में वे प्रजापति हैं, परम व्योम उनका धाम है, अदिति से उनका जन्म हुआ है १।८९।३; ※ १० ६४।५, ※ ५।७, ७२।४। अवम रूप में 'अग्नि'; मर्त्य के अध्वर में कविक्रत रूप में आविर्भूत (३।१४।७); उस समय आध्यात्मिक दृष्टि से 'अदितिर् ह्य् अजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव, तां देवा अन्व् अजायन्त' (दक्ष से उनकी दुहिता अदिति का जन्म, उनके बाद देवगण का जन्म १०।७२।५; ४)। यही दाक्षायणी पुराण में

अग्नि जिस प्रकार 'दिवो दुहिता' उषा के पुत्र हैं उसी प्रकार फिर यज्ञानुकाशिनी मनुकन्या इला के भी पुत्र हैं जो 'इलायास्पद' में अथवा उत्तरवेदि में[1] अथवा अपने ही किसी परिचित 'वयुन' अथवा नाड़ी में जल उठते हैं।[2] द्युलोक के आवेश में तब भूलोक की अभीप्सा ध्वनित होती है। संक्षेप में, यद्यपि दृश्यतः यज्ञवेदी में अरणिमन्थन से अग्नि का आविर्भाव होता है किन्तु वस्तुतः उनको देवगण ही जन्म देते हैं।[3]

इसके अलावा उनके अधिदैवत जन्म का परम रहस्य यह है कि वे देवताओं के पुत्र होकर भी उनके पिता हैं [१३६८]। अर्थात् देवताओं के आवेश से हम सब के भीतर मन को प्रेरित करके अग्नि का आविर्भाव प्रज्वल चक्षु के रूप में होता है।[1] उसके बाद वह मनरूपी दिव्य चक्षु ही[2] देवताओं को यजमान की चेतना में प्रकट करता है।

फिर अध्यात्म दृष्टि से अग्नि का जन्म अधियज्ञ भावना के साथ ओत-प्रोत रूप में है क्योंकि यज्ञ वस्तुतः एक राहस्यिक अनुष्ठान है जिसका लक्ष्य आत्मचेतना से विश्वचेतना में व्याप्ति, लोक से लोकान्तर में उत्तरण और यजमान के हिरण्मय शरीर का निर्माण है [१३६९]। अग्नि यज्ञ के साधन हैं। वे जिस प्रकार बाहर हैं उसी प्रकार हमारे भीतर भी तपः एवं ज्योति रूप में, प्राण एवं प्रज्ञा रूप में हैं। किन्तु आपाततः अपादशीर्षा गुहाचर होकर हैं। बाहर में अग्निमन्थन की तरह अन्तर में भी ध्यान-निर्मन्थन द्वारा उनका आविष्करण आध्यात्मिक अग्निजनन है।[1]

'सती' अर्थात् दक्ष की कनिष्ठा कन्या, नक्षत्र चक्र के बाहर अर्थात् विश्वोत्तीर्ण शिव में नित्यसंगता कन्याकुमारिका (द्र. वेदमीमांसा टी. १०६५)। [4] २।२६।५; द्र. टी.मूल १३०४[5]। [5] तु. क. १।२।४; इस दृष्टि से भी अग्नि हम सब के दक्ष अथवा अभीप्सा के तनय हैं। [6] वे दास और असुरों का विनाश करते हैं 'उरुं यज्ञाय चक्रथुर उ लोकं जनयन्ता सूर्यम् उषासम् अग्निम्' (ऋ. ७।९९।४, ५; द्र. टीमू. ११७६)।

[१३६७] तु. ऋ. एता उ त्याः प्रत्य अदृश्रन् पुरस्ताज् ज्योतिर् यच्छन्तीर् उषसो विभातीः, अजीजनन्त् सूर्यं यज्ञम् अग्निम् अपाचीनं तमो अगाद् अजुष्टम् ७।८०।२। यह अन्धकार दुरित अथवा दुश्चरित (तु. क. १।२।२४): द्र. ऋ. उषा याति ज्योतिषा बाधमाना विश्वा तमांसि दुरिताप देवी ७।७८।२। तीन उषा अग्नि की तीन जननी द्र. टी. १३११[4]; तु. १०।९२।२। [1] 'इला' द्र. टी.मूल १३४९[3]। [2] तु. इलायास् पुत्रो वयुने अजनिष्ट ३।२९।३। अग्नि 'विश्वानि वयुनानि विद्वान्' १।१८९।१ ('वयुन' पथ, अग्निप्रवाहिनी नाड़ी, नदी के साथ उपमित, द्र. टी. १३४९[3]। [3] तु. १।१२६।१०, ५९।२ (द्र. टी. १३४८[1]), ३।४।३, ६।७।१ (द्र. टी. १३४६[1]), १०।१६।९ (द्र. टी. १३७५[4])।

[१३६८] ऋ. भुवो देवानां पिता पुत्रः सन् १।६९।१। [1] तु. ५।८।६ (द्र. टी. १३३८[4])। [2] छा. ८।१२।५।

आध्यात्मिक अग्नि समिन्धन का आन्तर साधन एक ओर 'सहः' अथवा सर्वाभिभावन या सर्वजित वीर्य एवं 'ऊर्ज'श्चा चेतना को मोड़ देने का सामर्थ्य है;[2] दूसरी ओर मन एवं धी है।[3] सब मिलकर — औपनिषद भावना का वही प्राण एवं प्रज्ञा है। और आधार में इस अग्निजनन का फल उपनिषद की भाषा में 'योगाग्निमय शरीर प्राप्त करना'[4] और संहिता की भाषा में 'सूर्यत्वक्' होना है।[5]

३— अग्नि और अन्यान्य देवता

अग्नि के रूप, गुण, कर्म एवं जन्मरहस्य की व्याख्या से हमें मोटे तौर पर उनका एक परिचय प्राप्त हुआ। हमने देखा कि अग्नि अमूर्त हैं। हम सब के भीतर वे प्राणचेतना एवं तपः शक्ति के रूप में आविर्भूत हैं। वे कवि-क्रतु हैं अर्थात उनकी क्रान्तदर्शी प्रज्ञा हमारे हृदय में देवयानी अभीप्सा की ऊर्ध्व शिखा जगाती है। परमव्योम उनका उत्स है; वहाँ से वे विश्व-प्राण के चिन्मय संवेग द्वारा मनुष्य के भीतर आविष्ट हुए हैं अर्थात उसके आधार में अन्तर्गूढ़ अधूमक ज्योति के रूप में विराजमान हैं। मनुष्य और देवता के बीच वे दूत हैं अर्थात दिव्य एवं मर्त्य इन दो कोटियों के बीच युगपत आदेश और अभीप्सा के वाहन हैं। देवकाम यजमान की उत्सर्ग-भावना के प्रत्येक मोड़ पर वे ही दिग्दर्शक हैं अर्थात उसके आदि-अन्त से जुड़े हैं।

[१३७८] तु. ऋ. अगन्म ज्योतिर् अविदाम देवान् (८।४८।३; एक ज्योति का अनेक देवताओं में विच्छुरण होता है); 'पुमाँ एनं तनुत उत् कृणत्ति पुमान् वि तत्ने अधि नाके अस्मिन्' — मनुष्य इसको (यज्ञतन्तु को) वितत करता है, उसे ऊपर की ओर लपेट लेता है (जैसे तकली में); और उसको वितत या प्रसारित करता है इस विशोक लोक में १०।१३०।२; ऐब्रा. २।३, १४।... स्म. यज्ञानुष्ठान 'कल्प' (तु. ऋ. १०।१३०।५)। [1] तु. श्वे. १।१४, २।१२; ऋ. ३।२।३, द्र. टी. १३३४[1]। बाहर के मन्थन में अग्नि ऋत्विक अथवा यजमान के पुत्र: 'पितुर् यत् पुत्रो ममकस्य जायते १।३१।११, त्वं पुत्रो भवसि यस् ते अविधत् (साधना का लक्ष्य करके) ५।१।९, होता जनिष्ट चेतनः पिता पितृभ्यः (यजमान एक साथ पिता एवं पुत्र) ५।१...। [2] इसलिए अग्नि 'सहसः सूनुः' अथवा 'ऊर्जोनपात', द्र. टी. १२६८[1])। [3] तु. अग्निम् इन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः, अग्निम् ईधे विवस्वभिः ८।१०२।२२ (द्र. टी. १३५४[5])। [4] तु. श्वे. २।१२; ऋ. ८।३९।८ (द्र. टी. १२७३[3])। [5] जिस प्रकार अपाला हुई थीं ८।९१।७। इसी प्रसंग में तुलनीय शरीरेन्द्र अस्माकं यूयं मर्तासो अभिपश्यथ १०।१२६।२: मुनियों का कथन। वे ही विशेष रूप से कायसिद्ध। तु. समान जयाज् ज्वलनम्, योगसूत्र ३।४० समान नाभि संस्थित, और योग में नाभि अग्निस्थान है।

यास्क की भाषा में 'यही इनका कर्म है — हवि का वहन और देवताओं का आवाहन; इसके अतिरिक्त जो कुछ दृष्टि विषयक है, वह अग्नि का ही कर्म है' [१३८०]; अर्थात साधना के प्रत्येक पर्व या मोड़ पर हम जिस सत्य का दर्शन प्राप्त करते हैं वह उनके ही प्रकाश में प्राप्त करते हैं। एषणा और रूपान्तर की दिशा में उनकी आनन्दमय सप्तपदी सूर्य की सप्तरश्मियों से सुदीप्त है।[१]

'अग्नि के समस्त समिध ही देवयानी' हैं अर्थात पृथिवी से द्युलोक तक प्रसारित सत्य के पथ पर हमें केवल अग्नि समिन्धन करके ही चलना होता है [१३८१]। अतएव साधना के प्रत्येक पर्व या सोपान पर देवता के साथ अग्नि का सम्बन्ध अति घनिष्ठ है। हमारी अभीप्सा के समय अग्नि जिस प्रकार 'देवेद्धः' अथवा देवताओं द्वारा समिद्ध[?] उसी प्रकार हमारे भीतर उनके आवेश के समय अग्नि ही उनके 'पुरोगाः' है।[२] जीवन के प्रभात में जब श्रद्धा के आवेश से हृदयाकाश में नई चेतना का पद्मराग प्रस्फुटित होता है तब देवयानी आकूति की जो शिखा देवता की आनन्दमय स्वीकृति से लहक उठती है, वही शिखा प्रज्वलतर होकर माध्यन्दिन सौरदीप्ति का संकेत देती है। यहाँ की प्रार्थना-कामना ही वहाँ की प्राप्ति का पुरोधा होकर पुनः यहाँ लौट आती है! साधना का आदि और अन्त, उसके ज्वार-भाटे की दोनों धाराएँ ही वैश्वानर के अनिर्वाण दहन से अथवा अनिर्वापित ज्वलन से प्रभास्वर हो उठती हैं।

[१३८०] नि. ७।८।३। १ तु. ऋ. 'अधुक्षत् पिप्युषीम् इषम् ऊर्जं सप्तपदीम् अरिः, सूर्यस्य सप्त रश्मिभिः' — दोहन किया आप्यायिका सप्तपदी एषणा और आवर्जन शक्ति को उस समर्थ पुरुष सूर्य की सात रश्मियों द्वारा ८।७२।१६। **इष** एवं ऊर्ज का सहचार वेद में अनेक स्थानों पर है (द्र. ऋ. १।६३।८, २।१९।८, २२।४, ५।७६।४, ६।६२।४, ६५।३, ८।९३।२८, सा नो मन्द्रेषम ऊर्जं दुहाना धेनुर् वाक् १००।११, ९।६३।२, ६६।१९, ८६।३५, इषम् ऊर्जम् अभ्य् अर्ष ... उरु ज्योतिः कृणुहि (सोम) ९।४।५, १०।२०।१०, ४।३९।४ ...)। निघ. इष। ऊर्क् 'अन्न' २।७; निरुक्त में एक स्थान पर 'इष' अप १०।२६; फिर तु. निघ. वर्गः। वृजनम् वृक् 'बल' २।९; तु. निरुक्त ३।८ 'इष' < √इष् 'खोजना, चाहना'; 'ऊर्ज' < √वृज 'मरोड़ना, मोड़ घुमा देना' (तु. IE *ūrg* — 'to swell with energy', AV. *varəzəna* 'effectiveness') ऊर्ज के साथ अग्नि का विशेष सम्बन्ध लक्षणीय है; अग्नि 'ऊर्जो नपात्' ऋ. १।५८।८, २।६।२, ५।१७।५, ६।१६।२५, ८।७१।३, ९, ७।१६।१ ... ऊर्जः पुत्रः १।९६।३। अग्नि मन्थन के लिए बल की आवश्यकता है। 'इष' और 'ऊर्ज' सहचरित हैं क्योंकि चित्त में पहले एषणा जागती है, उसके बाद ही अन्तरावर्तन अथवा अन्तर्मुखता की शक्ति जाग्रत होती है (तु. क. कश् चिद् धीरः ... 'आवृतचक्षुर् अमृतत्वम् इच्छन्' २।१।१)। **सप्तपदी** तु. अग्नि के सप्त धाम ऋ. ४।७।५, १०।१२२।३, सप्त पद १०।८।४, विष्णु के सप्तधाम १।२२।१६; यज्ञ के सप्तधाम ९।१०२।२। ऋक् का **अरिः** कौन? **सायण** कहते हैं 'वायु' और Geldner बतलाते हैं 'Patron'। किन्तु इसके पूर्व के ऋक् में ही है 'इन्द्रे अग्ना नमः' एवं उसी के साथ है सोम के द्युलोक में स्वर प्रस्फुटित करने का उल्लेख; एक ऋक् के बाद ही है सोम के गुह्य पद एवं अग्निशिखा की व्याप्ति का उल्लेख द्युलोक में। अतएव यहाँ अग्नि ('अरि' < √ऋ 'चलना' तु. 'ऋषि' अग्नि 'अरति'; नि. अरिर् अमित्रः ऋच्छतेः,

अतएव साधना के प्रत्येक मोड़ पर, देवाविष्ट चेतना के प्रत्येक सन्धिबिन्दु पर देवताओं के साथ अग्नि का सम्बन्ध एक सामान्य घटना है। आप्री सूक्तों के देवगण के सुकल्पित विन्यास में एवं अग्नि रूप में प्रत्येक देवता की भावना करने के बीच यही स्पष्ट हुआ है। अग्नि समिन्धन में चेतना के जागरण एवं स्वाहाकृति में सूचित देवात्म भाव में उसका जो परिणाम होता है, उसमें प्रारम्भ से अन्त तक हमें एक अग्निध्वान्त अनुभव का क्रम प्राप्त होता है। वस्तुतः जीवन यज्ञ आद्यन्त एक अग्निदहन है।

अग्नि के साथ देवताओं के इस सामान्य सम्बन्ध का परिचय संहिता में यत्र-तत्र उनके साथ अन्यान्य देवता के सहचार के उल्लेख में प्राप्त होता है। आपाततः अनेक स्थानों पर इस सहचार के किसी निर्दिष्ट क्रम का पता नहीं चलता। किन्तु यास्क ने लोकानुसार देवताओं के वर्गीकरण का जो प्रकल्प उपस्थापित किया है उसे मान लेने पर अक्रम में भी क्रम का पता लगाना बहुत मुश्किल नहीं होता। अवश्य साधक जीवन में क्रम की बात ही बड़ी नहीं है बल्कि तंत्र की परिभाषा के अनुसार कहा जा सकता है कि साधना क्रम, अक्रम एवं क्रमाक्रम इन तीन धाराओं को पकड़कर ही की जा सकती है एवं उससे जीवन की स्वच्छन्द सावलीलता उजागर होती है जो साधना को अस्वच्छन्द अथवा यांत्रिक नहीं होने देती। वैदिक देवताओं के अन्योन्य साहचर्य की बात सोचते समय अक्रम को एक विशेष मर्यादा या सम्मान देना उचित होगा। किन्तु आगे चलकर जो भी क्यों न हो किन्तु संहिता के मन्त्रवर्ण में हमें एक उल्लसित प्राणोच्छ्लता का परिचय प्राप्त होता है। बुद्धि यदि क्रमानुसारी होना चाहे भी तो प्राण सब समय क्रमाक्रम की राह पकड़ कर ही चलता है, इस क्षेत्र में उस बात को ध्यान में रखना अच्छा है।

अग्नि के साथ अन्यान्य देवताओं की सहचरता को हम तीन दृष्टियों से देख सकते हैं। संहिता में आप्री सूक्तों के अतिरिक्त अनेक स्थलों पर ही अग्नि के सहचर देवताओं में हम कोई भी क्रम नहीं देख पाएँगे। किन्तु उस क्षेत्र में भी हमारी बुद्धि में स्थित क्रम को आरोपित करके साधना का सूक्ष्म संकेत प्राप्त किया जा सकता है यास्क ने अग्नि के जिन सब संस्तविक देवताओं का उल्लेख किया है, उसमें क्रम और अक्रम का मिश्रण हुआ है एवं क्रम की भित्ति भी एक नहीं है। पहले ही बतलाया गया है [१२८२], कि यास्क के द्वारा उल्लिखित संस्तव के बाहर भी सहचर देवताओं का संधान मिलता है एवं भावना की दृष्टि से इस साहचर्य का विशेष महत्व भी है।[१] यास्क की ही परिकल्पना के अनुसार अग्नि सहचर इन देवताओं को तीन क्रमों में सजाया जा सकता है। एक क्रम विष्णु की सप्तपदी में द्युस्थान चेतना के उन्मेष का और एक क्रम अन्तरिक्ष स्थान

[१२८२] द्र. टीका मूल १२८४। [१] टीमू. १३८६।

प्राण के शत्रुंजय संक्षोभ का अनुसरण करेगा। उसके बाहर भी कुछ सहचर देवता रह जाएँगे, जिनको किसी भी क्रम में निबद्ध करना सम्भव नहीं क्योंकि उनके साहचर्य की व्यंजना दार्शनिक है।

आग्नि के पूर्ववर्ती प्रसंग में नाना प्रकार से इस साहचर्य की बात कुछ-कुछ आ गई है। इसलिए इस विषय को संक्षेप में क्रमबद्ध करके बतलाने की चेष्टा करेंगे। इसे हम यास्क की 'साहचर्य व्याख्या' के द्वारा ही आरम्भ करते हैं।

यास्क के कथनानुसार 'अग्नि के संस्तविक देवता हैं इन्द्र, सोम, वरुण, पर्जन्य, एवं ऋतुगण [१३८३]।' यहाँ हम आरम्भ में ही अग्नि, इन्द्र एवं सोम को पाते हैं जो ऋक्संहिता के तीन प्रधान देवता हैं। अग्नि सर्वत्र अनुस्यूत हैं। एक बार फिर स्मरण करें कि अग्नि मर्त्यचेतना की ऊर्ध्वमुखी अभीप्सा, इन्द्र अन्तरिक्ष के अथवा प्राणलोक की वृत्रघाती ओजस्विता और सोम द्युलोक के अमृत आनन्द हैं।[1] इसलिए यहाँ चेतना के उदयन का एक क्रम आभासित हो रहा है। किन्तु संहिता में ही देखते हैं कि जो सौम्य अमृतलोक एक ओर से अजस्र ज्योति से उच्छल एवं उद्भासित है और दूसरी ओर से वही फिर मृत्यु के देवता यम की वैवस्वत परःकृष्णता में निथर, निस्तब्ध है, द्युलोक की ज्योति वहाँ अवरुद्ध है।[2] यह अवरोध ही ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा में वारुणी रात्रि है, उपनिषद् में जिसे अनालोक लोकोत्तर और दर्शन में शून्यता की संज्ञा दी गई है।[3] अतएव यास्क की व्याख्या में सोम के बाद वरुण को पाते हैं। ये वरुण निश्चय ही मध्यस्थान नहीं, परन्तु आदित्य हैं।[4] उनमें ही हम सब की समस्त प्रीति का पर्यवसान है, उसके बाद 'और कोई भी संज्ञा नहीं रहती'।[5] किन्तु उसके बाद भी यदि कोई नचिकेता की तरह वैवस्वत मृत्यु के मुख से प्रमुक्त होकर पुनः यहाँ लौट आते हैं तो वे रेतोधा पर्जन्य होकर आते हैं। उस समय उनकी एषणा की आग

[१३८३] नि. ७।८।४। पारमार्थिक दृष्टि से यदि हम इन्द्र को आदित्य के रूप में मान लें तो फिर तंत्र के अग्नि-सूर्य-सोम को पाते हैं। इस त्रयी को ऋक्संहिता में भी पाते हैं — कन्या के प्रसंग में: 'सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः, तृतीयो अग्निष्टे पतिस् तुरीयस् ते मनुष्यजाः' — सोम ने तुमको पहले प्राप्त किया, उसके बाद गन्धर्व ने प्राप्त किया, अग्नि तुम्हारे तृतीय पति हैं और तुम्हारा चतुर्थ पति है मानव-पुत्र १०।८५।४०। यह गन्धर्व विश्वावसु हैं (द्र. ११६३, ११६४) एवं परमार्थतः वे विश्वभासक सूर्य हैं (द्र. १०।१२९ सूक्त, तत्र 'दिव्यो गन्धर्वो रजसो विमानः' ५; तु. शब्रा. 'असाव आदित्यो दिव्यो गन्धर्वः' ६।३।१।१९)। तंत्र में इस त्रयी का उल्लेख नाना रूपों में है। वैदिक साधना में उसका मूल है सूर्यद्वार भेद करके सौम्य आनन्द के धाम में पहुँचना। किन्तु यास्क के इन्द्र और सोम दोनों ही अन्तरिक्षस्थान देवता हैं (नि. १०।८, ११।२)। अधियज्ञ दृष्टि से सोम को उन्होंने वहाँ ओषधि रूप में ग्रहण किया है। चन्द्रमा के साथ उसके सम्बन्ध को उन्होंने अवश्य ही स्वीकार किया है किन्तु चन्द्रमा भी अन्तरिक्षस्थान (११।५) हैं। अन्तरिक्ष साधना की भूमि है और सिद्धि की भूमि द्युलोक एवं उसके भी उस पार है। तैब्रा. के अनुसार 'आदित्य के नीचे जो सारे लोक हैं वे अवश्य ही विशाल हैं; किन्तु आदित्य के उस पार जो हैं वे विशालतर हैं। जो आदित्य के नीचे के लोकों पर जय प्राप्त करते हैं वे अन्तवान् और क्षयिष्णु लोकों पर ही जय प्राप्त करते हैं। अनन्त अपार अक्षय लोक पर वही विजय प्राप्त करते हैं जो आदित्य के उस पार के लोकों पर विजय

हमारे भीतर फैल जाती है और दिव्य आवेश का मूसलधार वर्षण आधार के बाँझपन को दूर कर देता है।[६] द्युलोक से भूलोक में पुनः वापस आकर सम्भूति द्वारा अमृत का आस्वादन देवताति को सर्वताति अर्थात देवात्म भाव को सर्वात्म भाव में पर्यवसित करना, यही हमें सिद्धि के पश्चात की साधना का एक नया क्रम प्राप्त होता है। लोकोत्तर से लोक में उतर आने पर 'ऋतु' अथवा काल की अपेक्षा रहती है। कालातीत अमृत का उपभोग जिस प्रकार 'सत्य' है, कालवाहित अमृत का उपभोग उसी प्रकार ऋत है। सत्य और ऋत का मिथुनी भाव 'देवहित आयु' की परिपूर्ण सार्थकता है इसलिए देखते हैं कि अन्तिम पर्व में सिद्ध की अग्नि-चेतना ऋतु-चक्र में आवर्तित होकर ऋतु देवताओं के साथ सोम्य सुधा का पान करती चलती है। वे तब संवत्सर रूपी प्रजापति और सर्वभूत के साथ एकात्मक होते हैं।

प्राप्त करते हैं (३।११।८।४)।' अतएव यास्क का चन्द्रमा आदित्य के नीचे — साधन मात्र है; और ऋक् संहिता का सोम आदित्य के उस पार की सिद्ध चेतना है (तु. बृ १।५।१४-१५)।[२] ऋ. यत्र ज्योतिर् अजस्रं यस्मिन् लोके स्वर् हितम्... यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः यत्रामूर् यह्वतीर् (उच्छल, सर्वत्र व्याप्त) आपः ... (९।११३।७, ८। द्युलोक के 'अवरोधन' के सम्बन्ध में Geldner का मन्तव्य :- 'उत्तम द्युलोक, जो अदृश्य है, मनुष्य की दृष्टि से परे है।' लक्षणीय, यम यहाँ 'वैवस्वत' अर्थात आदित्य के उस पार हैं, वरुण के साथ उनका सहचार है द्र. १०।१४।७, ५)। ३ तु. तैब्रा. १।७।१०।१, क. २।२।१५ तु. श. रात्रिर् वै कृष्णा शुक्लवत्सा, तस्या असाव आदित्यो वत्सः ।२।३।२०; यह योगी का व्युत्थान, नचिकेता का मृत्यु या यमलोक से आदित्यभास्वर प्रमुक्ति के साथ लौट आना है।[४] मध्यस्थान वरुण मेघ होकर 'आवृत' करते हैं (नि. १०।३)। आदित्य वरुण (नि. १२।२१-२५) यास्क के उदाहृत ऋक् समूह में पावक सूर्य एवं वरुण (ऋ. १।५०।५-७)।[५] तु. बृ. २।४।१२, ४।५।१२। द्र. ऋ. में वरुण 'समुद्रो अपीच्यः (गोपन, निगूढ़)', उनका आच्छादन जिस प्रकार सफेद है उसी प्रकार काला है (८।४१।८, १०)। ६ तु. ऋ. 'अग्नीपर्जन्याव् अवतं धियं मे अस्मिन् हवे सुहवा सुष्टुतिं नः, इलाम् अन्यो जनयद् गर्भम् अन्यः प्रजावतीर् इष आ धत्तम् अस्मे' — हे अग्नि-पर्जन्य, तुम दोनों मेरे ध्यान को आहुति (आह्वान) में हे स्वच्छन्दाहूत (अर्थात पुकारने पर जो अनायास उत्तर देते हैं), (आच्छादित किए रहो) हम सबकी रम्य स्तुति को; (उनमें) एक ने एषणा को जन्म दिया और एक ने गर्भ को; हमारे भीतर तुम दोनों सन्तत एषणा आहित करो ६।५२।१६। सायण इला को अन्न के अर्थ में ग्रहण करके कहते हैं कि इलाजनन पर्जन्य का कार्य है और गर्भजनन अग्नि का कार्य है; किन्तु वेंकट माधव बतलाते हैं कि अग्नि ही इला को जन्म देते हैं और पर्जन्य गर्भ को। यह व्याख्या ही संगत है। इला के साथ अग्नि का सम्बन्ध सुप्रसिद्ध है (आप्री देवगण द्रष्टव्य) और रेतोधा पर्जन्य ही गर्भ के आधाता हैं (द्र. ५।८३।१, ४, ६, ७।१०१।६, १०२।२)। और भी द्रष्टव्य १।१६४।५१, टी. १२३०। **प्रजावतीर् इषः** — 'प्रजा' अपत्य निघ. २।२। अपत्य (< अप-त्य, तु. नि-त्य; किन्तु नि. < √पत् वा तन् ३।१) और प्रजा दोनों ही विसृष्टि एवं तज्जनित प्रवहमानता के बोधक हैं; इसी अर्थ में स्मरणीय है, उपनिषद का 'बहु स्यां प्रजायेय' (छा. ६।२।३। 'प्रजावत्' का राहस्यिक अर्थ 'सन्तत' प्रवहमान है, जिस प्रकार ऋक् संहिता में : रयिं प्रजावन्तम् ४।५१।१०, ५३।७, अस्मे आयुर् नि दिदीहि प्रजावत् १।११३।१७ (१२२।५) प्रजावत् रत्नम् ३।८।६, प्रजावत् सौभगम् ५।८२।४ ब्रह्म प्रजावद् आ भर जातवेदः ६।१६।३६ स (सोमः) मन्दना उद् इयर्ति प्रजावतीः ९।८६।४१, प्रजावतो राजान् १।९२।७ (३।१६।६), प्रजावता राधसा १।७४।१५, प्रजावता वचसा ७।६।४, सहस्रधारे...

अग्नि के संस्तविक देवताओं के यास्क कल्पित विन्यास में हम अध्यात्म जीवन के एक पूर्णायित आदर्श का सन्धान पाते हैं। इसके अतिरिक्त भी अग्नि के द्युस्थान एवं अन्तरिक्ष स्थान और भी संस्तविक अथवा सहचर देवता हैं, यह हम पहले ही बतला चुके हैं। द्युस्थान देवताओं का एक प्रसिद्ध क्रम है - अश्विद्वय, उषा, सविता, भग, सूर्य, पूषा एवं विष्णु। इसके भीतर अप्रकाशित अव्यक्त की अन्धतमिस्रा से मध्याह्नकालीन भास्वरता तक चेतना के उदयन का जो एक संकेत निर्धारित है, वह हमें ज्ञात है। संहिता में इन देवताओं के साथ अग्नि का विशिष्ट साहचर्य प्रणिधान योग्य है। अग्नि के साथ उषा के सम्बन्ध का उल्लेख अनेक स्थानों पर अनेक रूपों में है [१३८४]। निष्कर्ष यह है कि अग्नि 'उषर्भुत' हैं — वे उषा में जागते हैं। द्युलोक में ज्योति की झलक न दिखने पर मर्त्य के हृदय में भी अभीप्सा की आग नहीं जलती। नचिकेता की विद्याभीप्सा श्रद्धा के आवेश और प्रातिभ संवित् की विद्योतना से जागी थी। इसलिए अग्नि (एवं सारे देवता भी) 'उषर्भुत' हैं। किन्तु उषा के पहले जो उजाले-अँधेरे की धूसरता है, उससे भी पहले असूर्य का अप्रकेत या आच्छन्न अधिकार है जिसके अन्तर्गत तमोभाग और ज्योतिर्भाग अश्विद्वय का अदृश्य ज्योति-अभियान जारी है, वहाँ भी दिव्य अग्नि की अतन्द्र प्रेरणा अथवा अनुप्राणना है। यही बात प्रस्कण्व काण्व के कथन में इस प्रकार है- अग्नि 'सजूर् अश्विभ्याम् उषसा' अर्थात एकात्म हैं वे अश्विद्वय और उषा के साथ;[१] केवल वही नहीं, बल्कि इसी सूक्त में अन्यत्र यह भी है 'अनेक लोगों द्वारा आहूत हे अग्नि, प्रचेतन देवताओं को तुम यहाँ शीघ्र ले आओ, (ले आओ) सविता, उषा, अश्विद्वय, भग और अग्नि को रात के बाद भोर होते ही।'[२] विष्णु की सप्तपदी के क्रमबद्ध चार पदों के सुस्पष्ट उल्लेख से ज्ञात होता है कि यास्क की परिकल्पना निर्मूल नहीं।[३] अचित्ति की अन्धतमिस्रा से बालसूर्य के उदय तक देवयान के चारों पर्व या सोपान ही हम देखते हैं कि मर्त्य अग्नि की आकूति और दिव्य अग्नि के आवेश से उद्दीप्त हैं। उसके बाद 'सूर्य' की किशोर अवस्था। संहिता में इस सूर्य के साथ अग्नि की एकात्मता का स्पष्ट उल्लेख है।[४] यह अधिदैवत भावना ही उपनिषद के जीवब्रह्मैक्यवाद में आध्यात्मिक रूप ले लेती है। किशोर सूर्य के बाद 'तरुण' पूषा। अग्नि के साथ उनके सम्बन्ध के

तृतीये रजसि प्रजावती: चतस्रो नाभ: ८।४१।६, प्रजावतीर् इष: २२।३...। ७ तु. ई. १४। ८ ऋक् संहिता में काल के बोध के लिए 'ऋतु' शब्द का ही व्यवहार है। केवल एक जगह 'काले' है (१०।४२।९) द्र. शौ. काल सूक्त १९।५३, ५४। अग्नि का ऋतुसम्पर्क द्र. 'द्रविणोदा:'।

[१३८४] द्र. ऋ. १।८७।१, २।२।१२, ३।५।२, ६।७, ७।१०, ४।१३।१, ५।१।१, २८।१, ७।६।१, ६।७।१, ४।२, ७।६।५, ८।१७।३१, १०।३।१...। और भी द्रष्टव्य — औषसाग्नि सूक्त १।५५। [१] १।४४।२। [२] 'स आ वह पुरुहूत प्रचेतसो ऽग्ने देवाँ इह द्रवत्, सवितारम् उषसम् अश्विना भगम् अग्निं व्युष्टिषु क्षप:' १।४४।७, ८। यहाँ दो अग्नि हैं। एक समिद्ध मर्त्य अग्नि अर्थात हम सब की अभीप्सा; और एक देवताओं के पुरोगामी या अग्रगामी दिव्य अग्नि; अर्थात हम सब के भीतर परम का आवेश [३] किन्तु इसे यूरोपीय पंडितों ने कोई कारण दिखाए बिना ही खारिज कर दिया है। [४] द्र. चा२६।२ टी. १२८६[१], १२०४; ऋ. १०।२ सूक्त। ५ नि. ७।८। ६ ऋ. 'पूषा त्वे तश् च्यावयतु प्र विद्वान् अनष्टपशुर् भुवनस्य गोपा:, स त्वै तेभ्य: परिददत् पितृभ्यो अग्निर् देवेभ्य:

बारे में यास्क का मन्तव्य है, 'आग्नापौष्णं हविर् न तु संस्तवः' अर्थात् अग्नि और पूषा के लिए हवि देने पर भी उनकी स्तुति अलग-अलग है।[5] उसके बाद उन्होंने जिस ऋक् को उद्धृत किया है वह पूषा के प्रति उद्दिष्ट सूक्त खण्ड का प्रथम ऋक् है। इस खण्ड का प्रतिपाद्य विषय है मृत्यु के बाद पूषा का नेतृत्व। उसमें अग्नि के साथ उनके सम्बन्ध की घनिष्ठता उजागर हुई है।[6] पूषा के बाद 'युवाऽकुमारः' विष्णु अर्थात् मध्यगगन के सूर्य। यास्क का मन्तव्य है कि इन दोनों की संस्तविकी कोई भी ऋचा ऋक् संहिता में नहीं है।[7] किन्तु अन्यत्र है।[8] ब्राह्मण में अग्नि-विष्णु के प्रत्याहार के अन्तर्गत सर्वदेवता का समावेश है।[9] संहिता का सूर्य एक सामान्यवाची संज्ञा,[10] विष्णु उसके साथ संयुक्त हैं।

इस प्रकार अग्नि की देशना या आदेश के अनुसार देवयान के मार्ग में हमारा अभियान मध्यरात्रि से मध्यदिन तक, अव्यक्त के कुहर या गर्त से व्यक्त ज्योति की पूर्णता तक है। किन्तु यह चेतना का आरोह है। उसके भी परे है अवरोह। आदित्य की मध्याह्नकालीन द्युति धीरे-धीरे सिमट आती है और सौम्य ज्योत्स्ना के प्लावन के साथ रात्रि का आगमन होता है। जब ज्योत्स्ना भी नहीं रहती तब तारों से आच्छादित वारुणी शून्यता उभरती है। अग्निहोत्री की अन्तर्मुखी चेतना उसके भीतर से राह बनाकर चलते-चलते पुनः सविता के कूल पर उत्तीर्ण होती है। इस प्रकार उजाले और अँधेरे में अस्तित्व का एक आवर्तन पूरा होता है। हिरण्यस्तूप आंगिरस के सावित्र सूक्त के प्रथम मंत्र उसका चित्र इस प्रकार है; "मैं आमंत्रित करता हूँ अग्नि को पहले ही स्वस्ति के लिए; यहाँ आमंत्रित करता हूँ मित्र-वरुण को, इसलिए कि वे रक्षा करेंगे, आमंत्रित करता हूँ रात्रि को—जो अपने आँचल में समेट लेती है जगत को, आमंत्रित

सुविदत्रियेभ्यः' — पूषा तुमको यहाँ से स्थानान्तरित करके अन्यत्र ले जाएँ — वे विद्वान हैं, उनका कोई भी पशु लापता नहीं होता, वे भुवन के रखवाले हैं, तुमको वे इस पितृगण को समर्पित कर दें, अग्नि (समर्पित कर दें) देवताओं को — जो सम्भवतः सहज ही उपलब्ध हो जाते हैं' १०।१७।३। यहाँ यास्क प्रश्न उठाते हैं कि तृतीय पाद का 'सः' पूषा है या कि अग्नि है? पूषा होने पर द्वितीयार्द्ध का अर्थ होता है 'प्रेत को वे पहुँचा देंगे पितृलोक में, अग्नि देवलोक में; और अग्नि होने पर अर्थ होता है, वे ही पहुँचा देंगे दिव्य पितृलोक में (तु. १०।८८।१५)। लगता है, दूसरी व्याख्या ही संगत है क्योंकि समस्त खण्ड में उत्क्रान्ति का जो वर्णन है वह आवर्तन को नहीं बल्कि उत्तरण को सूचित करता है; पूषा अभयतम मार्ग द्वारा 'प्रेत' को सुकृत या सत्कर्म करनेवालों के लोक में ले जाएँगे, स्वस्ति प्रदान करेंगे; आयु विश्वायुरूप में उसकी रक्षा के प्रति सतर्क दृष्टि इत्यादि रखेंगे। यह वैवस्वत मृत्यु का वर्णन है। जो जीवित रहने पर भी हो सकती है, जैसे नचिकेता की हुई थी; उस समय प्रेति, विद्या के बल से लोकोत्तरण। आदि से अन्त तक अग्नि का दिशा-निर्देशन, जैसे कठोपनिषद् में त्रिणाचिकेत के समय। पूषा उसके चरम बिन्दु पर आविर्भूत होते हैं — हिरण्मय पात्र का आवरण दूर करने के लिए (ई.)। इसलिए अग्नि और पूषा का सहचार। [7] नि. ७।८। [8] द्र. शौ. अग्नाविष्णु महि तद् वां पाथो (पान करो) घृतस्य गुह्यस्य नाम, दमेदमे सप्त रत्ना दधानौ प्रति वां जिह्वा घृतम् आ चरण्यात् (चलने दो) अग्नाविष्णु महि धाम प्रियं वां वीथो (आस्वादन करो) घृतस्य गुह्या जुषाणौ (तृप्ति के साथ) दमेदमे सुष्टुत्या वावृधानौ प्रति वां जिह्वा घृतम् उच्चरण्यात् (ऊपर की ओर चलता जाए) ७।२९ सूक्त। [9] ऐ. १।१। [10] द्र. कात्यायन सर्वानुक्रमणी २।१४; १५। ...

करते हैं देव सविता को, इसलिए कि वे हमारी सुरक्षा के प्रति सतर्क दृष्टि रखेंगे [१३८५]।' अग्नि का अतन्द्र अभियान 'मैत्ररह:' और 'वारुणी रात्रि' के भीतर[१] से है अर्थात जो रात्रि राका में सोम्या कुहू में शून्या है;[२] रात्रि के अन्त में 'अपहततमस्क द्युलोक' के कूल पर किरण बिखेरते सविता के[३] अधिकार या सीमा में उनका उत्तरण होता है। दिन के प्रकाश में सविता और मित्र,[४] रात के अँधेरे में सोम और वरुण; इस प्रकार अस्तित्व के आरोह और अवरोह में अग्नि की दिव्य परिक्रमा होती है।

द्युलोक मनोज्योति का [१३८६] प्रतिरूप है, जिसका 'वृत्र' अचित्ति का अन्धकार है। और अन्तरिक्ष का 'वृत्र' प्राण का अवरोध एवं शुष्कता है, जिसका प्रतीक मेघ है। अन्तरिक्ष के प्रधान देवता तीन हैं एवं ऋक् संहिता में अग्नि के साथ विशेष रूप से वे ही संस्तुत हैं।[१] वे देवता हैं, मरुद्गण, इन्द्र एवं पर्जन्य। इनमें मरुद्गण शुद्ध प्राण, इन्द्र शुष्णदमन, और पर्जन्य दिव्य प्राण के मूसलधार वर्षण के प्रतिरूप हैं। अन्तरिक्ष में जो देवासुर का संग्राम होता है, वह प्राण के अवरोध और बन्ध्यात्व को दूर करके उसे स्वच्छन्द एवं सफल करने के लिए है। मरुद्गण की सहायता से इन्द्र मेघ को विद्युच्चकित एवं वज्र से विदीर्ण करके आधार में मुक्त प्राण का प्लावन लाते हैं। हमारी अभीप्सा की चरितार्थता इसमें ही है। अतएव संहिता में विशेष रूप से ये तीनों देवता अग्नि के संस्तविक देवता हैं।[२]

[१३८५] ऋ. ह्वयाम्य् अग्निं प्रथमं स्वस्तये ह्वयामि मित्रावरुणाव् इहावसे, ह्वयामि रात्रीं जगतो निवेशनीं ह्वयामि देवं सवितारम् ऊतये १।३५।१। 'अव:', देवता का प्रसाद — ज्योति जैसा; 'ऊति', उनका चौकस रहना, सतर्कता के साथ रक्षा — कवच की तरह; दोनों ही <√ 'अव्'। 'स्वस्ति', सब कुछ का सुमंगल पर्यवसान (तु. 'शम्')। द्र. क्रमानुसार सूक्त ८।७३, १०।३६; ८।२६, १।१००; १०।३५ (टी. १३५५)। 'मित्रावरुण', तु. ऋ. ५।३।१; द्र. टीमू. १३५०। [१] अहोरात्र द्र. तैब्रा. १।७।१०।१। [२] नि. ११।२९, ३१। [३] नि. १२।१२। [४] सोम फिर वरुण अन्तरिक्ष स्थान एवं द्युस्थान दोनों ही। किन्तु अग्नि के संस्तविक देवता के रूप में उनका द्युस्थान, तु. दुर्ग का उदाहरण नि. ७।८।

[१३८६] तु. बृ. ३।९।१०, छा. ८।१२।५। [१] यास्क के अनुसार अन्तरिक्ष स्थान देवताओं का विन्यास — वायु, वरुण, रुद्र, इन्द्र, पर्जन्य इत्यादि। दुर्ग का मन्तव्य है कि ऊर्जमास के बाद से अर्थात् हेमन्त ऋतु से वायु चारों ओर से जल को खींच कर ले आते हैं और अन्तरिक्ष में गर्भरूप में संचित करते हैं, आठ महीने बाद वर्षा-ऋतु के प्रारम्भ में वही गर्भ जल रूप में प्रसूत होता है। वायु की व्याप्क्रिया से आकाश उस समय मेघों से 'आवृत' होता है, वायु 'वरुण' होते हैं, उसके बाद रोदन अथवा गर्जन करने के कारण 'रुद्र' होते हैं, 'इरा' अथवा जलदान करने के कारण 'इन्द्र', रस का प्रार्जन अथवा प्रकटीकरण के लिए 'पर्जन्य'। इस तरह की आनुपूर्वी या यथाक्रमता द्युस्थान में भी है (नि. १०।१)। वायु का स्थूल रूप 'वात' है एवं सूक्ष्म रूप 'मरुद्गण'। ऋ. में उनकी ही प्रमुखता एवं अग्नि के साथ संस्तव है। [२] ऋ. में अग्नि का मुख्य संस्तव या समस्वरता: मरुद्गण के साथ १।१९ एवं ५।६० सूक्त; इन्द्र के साथ सूक्त १।२१, १०८, १०९, ३।१२, ५।८६, ६।५९, ६०, ७।९३, ९४, ८।३८, ४० (सर्वत्र इन्द्र मुख्य); सोम के साथ १।९३ सूक्त। अग्नि-पर्जन्य का संस्तव ६।५२।१६, १।१६४।५१; अग्नि-वरुण का संस्तव ४।१।२-५, १।३५।१ (वरुण सर्वत्र आदित्य)।

इसके अतिरिक्त निघन्टु में अनेक मध्यस्थान देवताओं का उल्लेख है, यहाँ तक कि मध्यस्थान अग्नि का भी उल्लेख है [१२८७]। उसके अन्तर्गत 'बृहस्पति' अग्नि का एक और रूप है; 'ब्रह्मणस्पति' एवं 'वाचस्पति' बृहस्पति के सगोत्र हैं; 'अपां नपात्' वैद्युत अग्नि; 'वाक्' आग्नेयी। 'यम' और 'त्वष्टा' के अग्नि-सम्बन्ध का उल्लेख पहले ही कर चुके हैं। अनेक देवता इन्द्र के माध्यम से अग्नि के साथ जुड़े हैं। नैरुक्तों के मतानुसार अन्तरिक्षस्थान देवता इन्द्र अथवा वायु के प्रकारभेद हैं।[1] जो कोई भी 'बलकृति' एवं वृत्रवध इन्द्र का वैशिष्ट्य है।[2] इस कारण से पृथिवीस्थानी अथवा द्युस्थानी देवताओं को भी अन्तरिक्ष में स्थान देना अयौक्तिक नहीं। अग्नि में प्रकाश की आकूति है, आकांक्षा है, इन्द्र का शौर्य उसकी बाधा को दूर करता है। अग्नि के साथ इन्द्र एवं उनके माध्यम से अन्यान्य देवताओं के साहचर्य का यही हेतु है। प्रायशः यह साहचर्य अक्रम में या क्रमरहित है।

उसके बाद अग्नि साहचर्य के मूल में दार्शनिक तत्व के प्रसंग में कुछ कहना है। 'अदिति' अबाधिता अबन्धना आनन्त्य-चेतना एवं सर्वात्मिका हैं। अग्नि उनके पुत्र एवं कभी अग्नि ही अदिति हैं [१२८८]। विश्वरूप 'त्वष्टा' अग्नि के पिता हैं। प्रजापति 'दक्ष' कभी अग्नि के पिता या फिर कभी पुत्र हैं। ज्योतिर्मय अव्यक्त के देवता 'वरुण' अग्नि के भाई अर्थात दोनों मूलतः एक ही तत्व हैं।[1] अन्त्येष्टि में वैवस्वत 'यम' जातवेदा अग्नि के ही प्रतिरूप हैं। परमज्योति 'विवस्वान' से विश्वप्राण 'मातरिश्वा' की प्रेरणा से मनुष्य के भीतर अग्नि का आविर्भाव होता है। परमार्थदृष्टि में अग्नि ही 'विश्वेदेवाः' इत्यादि हैं। संहिता के ये तत्व ही उपनिषद् में ब्रह्म, जीव और जगत के एकत्ववाद में प्रपंचित हुए हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि अग्नि के साथ देवताओं का साहचर्य अध्यात्म साधना के आदि और अन्त तक व्याप्त है, क्योंकि देवयानी अभीप्सा के फलस्वरूप हमारे भीतर जागता है, वही 'चित्त' अथवा चेतना की द्युति[2] जिससे देवता और उनकी विभूति को हम जानते हैं एवं प्राप्त करते हैं। तब हमारे भीतर सम्यक्-सम्बुद्ध अग्नि का ही ब्रह्मघोष ध्वनित होता है; "ये सारे देवता मेरे ही हैं, मैं ही यह सब कुछ हुआ हूँ।"[3]

अब हमें यह देखना है कि अग्नि के साथ मनुष्य का क्या सम्बन्ध है। प्रसंगतः उसकी चर्चा पहले ही कुछ-कुछ की जा चुकी है। इस समय उन्हें ही थोड़ा क्रमबद्ध कर लें।

[१२८७] द्र. निघ. ५।४।२३। व्याख्या में निरुक्त की उद्धृत (१०।२६-२७) दोनों ऋचाएँ ही ऋक् संहिता के एक मात्र अग्नि मारुत सूक्त (१।१९) से ली गई हैं। यह अग्नि वैद्युत (१।१९।१-३) और मरुद्गण विद्युन्मय (तु. १।८८।१, ८।७।२५, विद्युन्महसः ५।५४।३...) वात के देवता। [1] द्र. नि. ७।५। [2] नि. ७।१०। [१२८८] यह चर्चा केवल प्रासंगिक है, विस्तृत चर्चा आगे चलकर दर्शनाध्याय में की जाएगी। [1] द्र. ४।१।२-५। जिस प्रकार अनन्तता की अधिष्ठात्री देवी अदिति के निकट ऋषियों की प्रार्थना निरंजनता के लिए, उसी प्रकार वरुण के निकट उनकी प्रसाद-प्रार्थना (२; तु. ७।८९ सूक्त) वे अवहेलना न करें (४।१।४) अचित्ति जनित समस्त प्रमाद क्षमा करें (७।८९।५)। सर्वशून्य आनन्त्य की चेतना प्राप्त होने पर ही कलुष या पाप के पाश से यथार्थ मुक्ति सम्भव। अग्नि सूर्य की तरह अग्नि-वरुण भी यहाँ एक प्रत्याहार। उसके अन्तर्गत देवता का क्रम इस प्रकार है — अग्नि सब के नीचे ('अवम' ५), फिर उषा की ज्योति, उसके बाद 'विश्वभानु' मरुद्गण (२) एवं अन्त में वारुणी शून्यता। [2] तु. अग्ने... रेषु द्युम्नम् (ज्योति) उत श्रव (श्रुति) आ चित्तं मर्त्येषु धाः ५।७।९। [3] तु. १०।६१।१९; द्र. टी. १३१७५)।

४- अग्नि और मनुष्य

पहले भी हमने बतलाया है कि अध्यात्म-चेतना के मूल में किसी बृहत्तर सत्ता के प्रति एक महानता का बोध है। आधार-भेद के कारण यह भेद कभी चेतना को अभिभूत या फिर कभी उद्दीप्त करता है। उद्दीप्त चेतना बृहत् होती है एवं बृहत्तर सत्ता के साथ स्वयं का सायुज्य करती है। महानता के बोध के अनुषंग में एक और बोध उजागर होता है; जो बृहत् है, जो परात्पर है, सर्वश्रेष्ठ है; वह नित्य है, शाश्वत है। आकाश बृहत है, आकाश नित्य है। जिस प्रकार बाह्य दृष्टि में बाहर का आकाश, उसी प्रकार आभ्यन्तर दृष्टि में हृदयाकाश, दोनों ही नित्य हैं। जो नित्य है, उसकी एक और संज्ञा है अमर्त्य अथवा अमृत।

देवता बृहत हैं, देवता अमर्त्य हैं; आपातत: मनुष्य क्षुद्र है, मनुष्य मर्त्य है। किन्तु देवता की उपासना में मनुष्य भी बृहत् हो सकता है, अमृत हो सकता है। एवं इस बृहत अमृतत्व या अमरत्व का अनुभव इस देह में ही प्राप्त करता है। उस समय देवता के साथ उसका सम्बन्ध सायुज्य एवं सख्य का होता है; फिर वह छोटा नहीं बल्कि देवता भी जो, वह भी वही होता है। तब वह 'मध्वद' अथवा 'पिप्पलाद' है, सम्भूति में ही उसका उपभोग लोकोत्तर अमृत का उपभोग है। इसके अलावा वह उपभोग उसकी आत्मविसृष्टि भी है अर्थात विचित्र रूपों में स्वयं को निर्धारित करना भी है। जितने दिन वह जीवित रहता है, वह देखता है कि उसकी शिराओं में संचरमाण जो उत्ताल जीवन-प्रवाह है, वह एक ओर जिस प्रकार स्पन्दमान है, दूसरी ओर उसी प्रकार निस्पंद है। देह की मृत्यु होने पर भी उसके प्राण की मृत्यु नहीं होती बल्कि आत्मस्थिति के बल पर तब भी चलता ही रहता है। यह चलना उसी अमृतस्वरूप का ही चलना है। एक ही सत्ता का एक पक्ष मृत्यु है और एक पक्ष अमृत है। मर्त्य के साथ अमर्त्य की, मनुष्य के साथ देवता की यही लीला है।

ये भावनाएँ दीर्घतमा औचथ्य के इन मंत्रों में उजागर हुई हैं; —"दो 'सुपर्ण' अथवा पक्षी, वे 'सयुक' अथवा नित्ययुक्त दो सखा हैं; एक ही वृक्ष पर उनका बसेरा है। उनमें एक स्वादिष्ठ पिप्पल खाता है और दूसरा बिना खाए उसकी ओर निहारता रहता है। जिस वृक्ष पर मधुभोजी पक्षी सब नीड़ का निर्माण करते हैं और अण्डे देते हैं उसके अग्र भाग में ही तो है वह 'स्वादु पिप्पल'। किन्तु वह उनकी पहुँच में नहीं है जो 'पिता' को नहीं जानते। साँस लेता हुआ शया है त्वरितगति 'जीव' — वह काँप रहा है, धाराओं के भीतर फिर स्थिर होकर अविचल है; मृत का जीव या प्राण 'स्वधा' की शक्ति से चलता रहता है। अमर्त्य और मर्त्य की एक ही योनि है अथवा एक ही उत्स है [१३८९]।"

[१३८९] ऋ. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते, तयोर् अन्यः पिप्पलं स्वाद्व् अत्त्य् अनश्नन्न् अन्यो अभि चाकशीति। ... यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे, तस्ये' द् आहुः पिप्पलं स्वाद्व् अग्रे तन् नोन् नशद् यः पितरं न वेद। ... अनच् छये तुरगातु जीवम् एजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्, जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिर् अमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः १।१६४।२०, २२, ३०। सुपर्ण अनेक स्थानों

चाहे जिस नाम से ही सम्बोधित करें, देवता के साथ वैदिक ऋषि का सम्बन्ध मूलतः इसी सख्य एवं सायुज्य का है। उसमें श्रद्धा, प्रीति अथवा विचित्र भाव-विलास है और विनीत प्रपत्ति अथवा आत्मनिवेदन सभी है – किन्तु भय नहीं है और न देवता को दूर अलग रखने की बात है। बल्कि देवता और उपासक एक ही वृक्ष के दो पक्षी हैं, एक ही रथ के दो रथी हैं अथवा एक ही नौका में दो यात्री हैं [१३८०]। मनुष्य 'अर्धदेव' है।[1] आरम्भ से ही देवता के सान्निध्य में ऋषि के अन्तर में आत्ममहिमा का बोध इस रूप में उद्दीप्त होने का परिणाम वह ब्रह्मघोष है जो इस प्रकार है; 'योऽसाव असौ पुरुषः सोऽहम् अस्मि।' और इस भावना की गंगोत्री नित्य प्रत्यक्ष 'द्यौः' 'परमव्योम' है जो आकाश में आत्मचैतन्य के विस्फोट का अनुभव करना है।

वस्तुतः देवता दूर नहीं बल्कि मेरे अत्यन्त निकट हैं। मेरे ही भीतर वे अग्निरूप में निहित हैं, इसी मर्त्य आधार में ध्रुव अमृत ज्योति रूप में–गुप्तरूप से चित्त और मन की सारी वृत्तियों को अपनी ही ओर आकर्षित करके [१३८१] अवस्थित हैं। जो अन्तर में हैं, अमर्त्य प्राण के रूप में चुपचाप बढ़ते जा रहे हैं, इस मर्त्य तनु के साथ-साथ, उनको ही अपने प्यार की यज्ञवेदी में हम प्रतिष्ठित करते हैं 'गृहपति' के रूप में। तब आहिताग्नि का समस्त जीवन एक यज्ञ है, उसका गार्हपत्य इसी यज्ञनायक गृहपति अग्नि का ही ऋतच्छन्द गार्हपत्य है।[1]

पर सूर्य का उपमान (द्र. १।३५।७, १०५।१, १६४।४६, ४।२५।४, ५।४७।३, ८।१००।८, ९।७१।९...)। यहाँ पिप्पलाद जीव भी सुपर्ण है अतएव जीव के साथ आदित्य के साम्य की ध्वनि है। सूर्यरूपी यही सुपर्ण 'हंस' भी है ४।४०।५; इसके अलावा अग्नि भी हंस (१।६५।५)। **वृक्ष** – [< √व्रश्च् 'काटना', तु. ऋ. १।१३०।४; IE. *urk*- to tear, GK. *rakos* 'a rag'; नि. व्रश्चनात् २।६, वृत्वा क्षां तिष्ठति १२।२९] 'देहवृक्ष', जैसे यहाँ; फिर 'ब्रह्मवृक्ष' भी (२२); तु. ऋ. १०।१३५।१, और भी तु. १।२४।७, वहाँ ऊर्ध्वमूल अवाक्-शाख अश्वत्थ की ध्वनि है; फिर संसारवृक्ष १०।८१।४। यहाँ ब्रह्मवृक्ष 'पिप्पल', अन्यत्र 'उदुम्बर (गूलर) अथवा अश्वत्थ'; बौद्धों का 'न्यग्रोध' या वटवृक्ष; भागवत जनों का 'कदम्ब'। **स्वादु पिप्पल** देवहित मर्त्यभोग, देवता के सायुज्य में मधुमय— नहीं तो वह स्वादु होता नहीं। दिव्य भोग 'रुशत् पिप्पल' (तु. ५।५४।१२, द्र. टी. १२५९[2]; १।१६४।२२)। पिप्पल को स्वादु अथवा स्वादिष्ठ बनाकर जो भोजन कर सकते हैं, वे 'पिप्पलाद'; यह सिद्धपुरुष की संज्ञा है। कूटस्थ पुरुष बिना खाए केवल देखते रहते हैं, तु. सांख्य के पुरुष – न कर्ता, न भोक्ता, वे केवल द्रष्टा हैं। जो पिप्पलाद हैं, वे ही फिर **मध्वद** अथवा मधुभोजी, दिव्य अमृत के सम्भोक्ता हैं (तु. १।७०।६-८; क. मध्वदं ... जीवम् २।१।५) लक्षणीय. उनका 'निवेशन' एवं 'प्रसव' एक साथ चलता है। **निवेशन** पक्षी का अपने नीड़ में वापस आ जाना, अड्डे पर जाना, आत्मस्थिति, स्वधा (तु. ऋ. 'ह्वयामि रात्रिं जगतो निवेशनीम्' १।३५।१, टी. १२८५; १०।१२७।४) किन्तु वही फिर प्रसव या सम्भूति का उत्स है (तु. ईशोपनिषद् के विनाश और सम्भूति का सहवेदन १४)। **पिता** जैसे 'द्यौः' (ऋ. १।१६४।३३) अथवा लोकोत्तर आदित्य (१२), अन्यत्र 'आदित्यवर्ण महान् पुरुष' (मा. ३१।१८)। **जीव** ऋक् के प्रथम पाद में क्लीबलिंग, 'जीवतत्व' का बोधक है; तृतीय पाद में 'पुरुष' (तु. सूर्य 'जीव असुर नः' ऋ. १।११३।१६)। **पस्त्या** – ['पस्त्यम्' गृह निघ. ३।४; 'पस्त्या' जल, नदी, तु. ऋ. ४।१।११, ८।७।२९ (द्र. टी. १२५३[2]) ९।६५।२३...। इसके अलावा अदिति भी 'पस्त्या' ४।५५।३ गृहदेवी के रूप में। व्युत्पत्ति? 'वाजपस्त्यं वाजपतनम्' नि. ५।१५; Uhlenbeck IE *pasto* 'firm' [यहाँ] धाम; तु. शौ. १०।२।७, ११, ११।४।२६, १६९

यही दिव्य गार्हपत्य अन्तर्ग्रथित हैं उनके अजर तारुण्य एवं क्रान्तदर्शी प्रज्ञान और आकूति द्वारा, क्योंकि वे 'कविर् गृहपतिर् युवा' हैं और उसी से हम सब का मानवीय गार्हपत्य भी ऋद्धि से छलक उठता है एवं देवता के तीक्ष्ण तेज से जीवन को धारदार बनाता है।[2]

इसके अतिरिक्त भीतर-बाहर गृहपति के रूप में जो हम सब के इतने निकट हैं, वे अचित्ति की तमिस्रा अथवा विवेकहीनता के अँधेरे से जब आवृत रहते हैं तब बहुत अनुनय-विनय और शब्द-सामर्थ्य द्वारा प्राणप्रवाह के संगमतीर्थ में हमें उनको खोजना पड़ता है[१३५२]। उस समय उस 'अतिसन्निहित अथच गुहाचर के आविर्भाव को' हम सहसा प्रकाश की झलक जैसा प्रत्यक्ष देखते हैं। तब गृहपति होकर भी अग्नि हम सब के 'प्रियतम शिवमय अतिथि' — मित्र की तरह ही प्रिय होते हैं, जिनके विरुद्ध चित्त किसी भी तरह विमुख होना नहीं चाहता। जो

८।२८, २९ (द्र॰ Geldner DR टी॰) और भी तु॰ ऋ॰ ४।५८।५ टी॰ १२८२[6])।

[१३५०] तु॰ ऋ॰ १।१६४।२०, इन्द्रा कुत्सा वहमाना रथेन ५।३१।९ (तु॰ ६।३१।३, ८।१।११), वसिष्ठं ह वरुणो नाव्य आधात ७।८८।४ (तु॰ ३, ५)। [1] त्रसदस्युम् ... इन्द्रं न वृत्रतुरम् अर्धदेवम् ४।४२।८ (९)। स्वयं को इन्द्र के रूप में बृहद्दिव अथर्वा की घोषणा १०।१२०।९; द्र॰ अन्यान्य आत्मस्तुतियां।

[१३५१] तु॰ ऋ॰ ६।१९।४-७; द्र॰ टी॰ ११७०[1]। [1] तु॰ 'गार्हपत्येन सन्त्य ऋतुना यज्ञनीर् असि, देवान् देवयते यज' — गृहपति के गौरव में सत्यस्वरूप तुम (हे अग्नि) ऋतच्छन्द में यज्ञ के नेता तुम (अर्थात ऋतुयाजी), देवताओं का यजन करो, जो देवता को चाहते हैं उनके लिए १।१५।१२। ऋ॰ में 'गार्हपत्य' गृहकर्म का बोधक (तु॰ ६।१५।१९, १०।८५।२७, ३६। किन्तु उल्लिखित ऋक् में 'गार्हपत्य अग्नि' की ध्वनि स्पष्ट है। तु॰ अन्यत्र 'गार्हपत्य अग्निः'- शौ॰ ५।३१।५, ६।१२०।१, ७।६३।२...; तै॰संहिता १।६।७।१, २।२।५।६, ५।२।३।६...। श्रौत यज्ञ के लिए अग्न्याधान करना होता है। अग्न्याधान अथवा अग्न्याधेय एक 'इष्टि' है जिसे चार ऋत्विकों की सहायता से सपत्नीक यजमान निष्पन्न करते हैं। 'विशिष्ट काल में, विशिष्ट देश में, विशिष्ट पुरुष विशिष्ट मंत्र से गार्हपत्य प्रभृति अग्नि के उत्पादन के लिए जो जलता अंगार स्थापित करते हैं उसे अग्न्याधेय कहते हैं' (आश्वलायन श्रौत सूत्र २।१।९, नारायण की टीका)। प्रातः काल, जब सूर्यबिम्ब के न दिखाई देने पर भी उसकी किरणों ने अँधेरा दूर कर दिया अर्थात यास्क ने जिसे 'सवितृकाल' बतलाया है, उसी सन्धिलग्न में अध्वर्यु आरम्भ में ही गार्हपत्य अग्निमन्थन के लिए दशहोतृ मंत्र द्वारा अधरारणि के ऊपर उत्तरारणि स्थापित करते हैं। अध्यात्म दृष्टि से यजमान के अपने भीतर नवचेतना के उन्मेष का आयोजन है। लक्षणीय, यह जैसे यज्ञ का अधिकांश कर्म ही ऋत्विक्गण करते हैं, तब सपत्नीक यजमान भावना अथवा अनुध्यान करते हैं। दशहोतृ-मंत्र ये हैं: ओं चित्तिः (विवेक) स्रुक् (यज्ञ-पात्र विशेष)। चित्तम् (चेतना) आज्यम् (पिघला हुआ घी, ऐब्रा॰ १।२)। वाग् वेदिः। आधीतं (एकाग्र भावना, तु॰ ऋ॰ १।१७०।१) बर्हिः (कुशास्तरण)। केतो (प्रतिबोध, ज्ञानोदय) अग्निः। विज्ञातम् अग्निः। वाक्पतिर् होता। मन उपवक्ता (ऋत्विक् विशेष)। प्राणो हविः। सामाध्वर्युः (तैआ॰ २।१)। इन मंत्रों से ही यज्ञ की आध्यात्मिक व्यंजना सुस्पष्ट हो जाती है। गार्हपत्य अग्नि के आधान के बाद 'भगकाल' में अर्थात सूर्यबिम्ब का आधा भाग ऊपर आने पर गार्हपत्य से ही आहवनीय अग्नि का आधान। यह अग्नि देवगण के लिए। उसके बाद पितृगण के लिए दक्षिणाग्नि का आधान। अग्न्याधान के बाद उस दिन ही सायंकाल अग्निहोत्र का अनुष्ठान आरम्भ किया जाता है। शब्रा॰ के अनुसार अग्निहोत्र का अनुष्ठान जरा और मरण जय के लिए १२।४।१।१। [2] द्र॰ ऋ॰ ६।१५।१९ (टी॰ १३५०)॥ [१३५२] ऋ॰ ६।९।६;—

मर्त्य के आधार की गहराई में गृहपति के रूप में स्थिर हैं, निश्चल हैं; वे ही फिर अतिथि बन्धु के रूप में हम सब के साथ प्रेमपूर्वक आँखमिचौनी खेलते हैं — यही उनकी लीला है, चरित्र है। केवल हम ही उन्हें प्यार नहीं करते हैं बल्कि वे भी इस घर को प्यार करते हैं, इसलिए उनकी एक विशिष्ट संज्ञा हुई 'दमूनाः'।[5]

देवताओं की इस प्रेम-लीला की अनवद्य अभिव्यक्ति सख्य रति में होती है। पहले ही बतला चुके हैं कि देवता के साथ वैदिक ऋषि का मुख्य सम्बन्ध सख्य अथवा सायुज्य का है जिसमें आत्म-महिमा उद्योतित ही होती है, कम नहीं होती। अग्नि के साथ इस सख्य का चित्र हमें कुत्स आंगिरस के एक सूक्त [१२५३] में प्राप्त होता है। ऋषि कहते हैं: 'सुभद्र अथवा मंगलमय होता है हमारा प्रबुद्ध मनन इनके संगम से, मिलन से! हे अग्नि, तुम्हारी मित्रता में हम लोग

'इमं विधन्तो अपां सधस्थे पशुं न नष्टं पदैर् अनु ग्मन्, गुहा चतन्तम् उशिजो नमोभिर् इच्छन्तो धीरा भृगवो ऽविन्दन' — इन्हें लक्ष्य करके प्रवाह के संगम में (उन्होंने) अनुगमन किया — जिस प्रकार खोए हुए पशु का (लोग करते हैं) पाँव के निशान पकड़कर; गुहाचर को पाने की इच्छा से उत्कंठित प्रणाम द्वारा धीर मेधावी भृगुओं ने प्राप्त भी कर लिया (१०।४६।२; तु. २।४।२, १।६५।१, २; अन्तरावृत्त प्राण की धाराएँ जहाँ मिलती हैं, वहाँ ही अग्नि का आविर्भाव होता है; ये ही उनको पाने के साधन हैं; शर या तीर की तरह तन्मय एषणा, आकूति, प्रणति एवं ध्यानचित्तता)। [1] तु. मु. २।२।१। [2] तु. ऋ. ६।२।७, ७।७।२, ८।८४।१, १०।१२२।१, टी. १२३६[2]। [3] ऋ. ७।३।१। [4] तु. विशाम् अग्निम् अतिथिं सुप्रयसम् (२।४।१, प्रयः प्रीति <√प्री, तु. ५।५१।५-७, अगले तृच में भी आनन्द का उल्लेख है; अतएव निघण्टु का 'अन्न', अर्थात् [२१७] गौण)। [5] दमूनाः < दम् (घर, तु. IE. Lat. domus 'house'; 'दम-पती', 'दं सुपत्नी' ६।३।७, ४।१९।७, 'दंसु' १।१३४।४, १४१।४) ॥ दम् + वनस् (प्रीति, तु. १०।१७२।१), सम्प्रसारण में उकार। तु. गिर्वणस् (पदपाठ में अवग्रह नहीं है; किन्तु व्युत्पत्ति द्र. ऋ. इमां मे मरुतो गिरम्... इमं मे वनता हवम् ८।७।९, इन्द्राग्नी वनतं गिरः ७।९४।२; नि. गिर्वणा देवो भवति गीर्भिर् एनं वनयन्ति ६।१४), 'यज्ञवनस् ऋ. ४।११।२। स्वर में समता सर्वत्र। आधुनिक व्युत्पत्ति 'दम् + नस् (प्रत्यय)। नि. दममना वा दानमना वा दान्तमना वा ४।४।

[१२५३] ऋक् संहिता के प्रथम मण्डल का एक उपमण्डल कुत्स रचित (९४—११५ सूक्त ९९ और १०० वाँ सूक्त छोड़कर। जातवेदा अग्नि द्वारा उपमण्डल का आरम्भ एवं अन्त सूर्य द्वारा, यह अर्थवह है। ९४ से ९८ सूक्त तक क्रमानुसार देवता हैं, अग्नि जातवेदा, औषस, द्रविणोदा, शुचि एवं वैश्वानर : एक ही अग्नि के विचित्र रूप। फिर ९९ वाँ सूक्त एक ऋक् का एक सूक्त है जो जातवेदा अग्नि के प्रति रचित कश्यप मारीच की रचना है। बृहद्देवता में शौनक (३।१३०) एवं सर्वानुक्रमणी में कात्यायन के कथनानुसार इसके बाद शायद और भी एक हजार सूक्त थे, क्रमानुकूल उनकी ऋक् संख्या एक-एक करके बढ़ गई थी। यह बृहत् संग्रह संभवतः लुप्त हो गया (द्र. माधव भट्ट की ऋग्वेदानुक्रमणी पृष्ठ १५६-१५८, आन्ध्र संस्करण)। कुत्स की रचना कवित्वपूर्ण है, अश्विद्वय, उषा एवं सूर्य के प्रति रचित उनके सारे सूक्त प्रसिद्ध हैं। सूक्तों में कितनी कुछ टेक या स्थायी पद हैं, यह भी उनका एक वैशिष्ट्य है। आलोच्य सूक्त के अतिरिक्त भी उनके मरुत्वान् इन्द्र के प्रति सख्यरति का निदर्शन द्र. सूक्त १०१।१-७। उनके द्वारा रचित सोमसूक्त ऋक् संहिता के सोममण्डल के ९७वें सूक्त के अन्त में संकलित किया गया है (४५ से ५८ तक, द्र. सर्वानुक्रमणी)। प्रायः सभी सूक्तों के अन्त में उनका प्रिय स्थायी पद या टेक है 'तन् नो मित्रो वरुणो मामहन्ताम् अदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः' — जिसमें अनन्तता के तीन देवताओं एवं तीन लोकों का उल्लेख प्राप्त होता है

पीड़ित न होने पाएँ॥ जिसके लिए तुम यजन करते हो, वह सिद्ध होता है, अजात शत्रु होकर वह जीवन जीता है शान्ति से, सुवीर्य का निधान होता है, वह वृद्धिशील है, उसे क्लिष्टता आच्छादित नहीं करती। हे अग्नि तुम्हारी मित्रता में…॥ हम इतने समर्थ हों कि तुम्हें समिद्ध कर सकें : (उसके लिए ही) सिद्ध करो हमारी ध्यानचित्तता। तुम्हारे ही भीतर आहुत हवि का उपभोग करते हैं देवगण। तुम आदित्यगण को ले आओ, हम तो उनके लिए व्यग्र हैं : हे अग्नि, तुम्हारी मित्रता में…॥ हम इन्धन ले आते हैं, सजाते हैं आहुति की सामग्री, हम सचेतन रहते हैं हर मोड़ पर हर सोपान पर पूरी तरह। जीने जैसा जीवन जिएँ इसलिए संसिद्ध करो ध्यानचित्तता को : हे अग्नि तुम्हारी मित्रता में…॥ जनसाधारण के रखवाले हैं (ये), इनके ही (आश्रय में) चरते विचरते हैं जीवजन्तु - जो द्विपद हैं, जो चतुष्पद हैं — (चरते विचरते हैं दिन में और लौट आते हैं) रात में। विचित्र, विस्मयकर महाचेतना हो उषा की तुम : हे अग्नि तुम्हारी मित्रता में…॥ तुम अध्वर्यु हो, और पहले के या पूर्वतन होता हो; प्रशास्ता (और) पोता हो तुम — जन्म से ही पुरोहित हो। समस्त ऋत्विक कर्म तुम्हें ज्ञात है हे धीर, पोषण करते हो (उनका) : हे अग्नि, तुम्हारी मित्रता में…॥ तुम दिशा-दिशा में सर्वतः सुप्रतीक अर्थात् सुदृश्य, सुन्दर हो, दिखाई देते हो एक ही रूप में — दूर रहकर भी (विद्युत की तरह) निकट झिलमिला उठते हो — रात के अँधेरे को चीर कर भी देख सकते हो हे देवता : हे अग्नि, वही तुम्हारी…॥ तुम देवताओं के देवता हो, मित्र एवं अद्भुत हो, ज्योतिर्मय जो जितने हैं उनके मध्य तुम ज्योतिर्मय हो — अध्वर में चारु हो, सुदर्शन हो; यही कामना है कि तुम्हारी विशाल तम शरण में हम सुरक्षित रहें : हे अग्नि तुम्हारी मित्रता में…॥ वही तुम्हारा मांगल्य है कि अपने घर में समिद्ध होकर, सोम की आहुति पाकर जागते रहते हो अनुत्तम या सर्वोत्कृष्ट प्रसाद बाँट कर : हे अग्नि तुम्हारी मित्रता में…॥ जिसको तुमने सुस्रोता होकर प्रदान की है हे अदिति, सब कुछ होने की निरंजनता, जिस को सुभद्र शौर्य द्वारा प्रचोदित करती हो, प्रेरित करती हो, (वह सुधन्य) : हम सब तुम्हारी सन्तत, निरन्तर ऋद्धि-समृद्धि से जुड़े रहें॥ [1]

('सिन्धु' अन्तरिक्षचारी प्राणप्रवाह, तु. जगता सिन्धुं दिव्य अस्तभायत् १।१६४।२५, द्र. 'सिन्धु' ६०७२)। यही टेक सोम सूक्त के अन्त में भी है, इसके अलावा कौत्स उपमण्डल के १००वें सूक्त के अन्त में है जो कात्यायन के विचार से कुत्सरचित नहीं है। अथच इस सूक्त के आरम्भ के पन्द्रह मंत्र सभी कुत्स की शैली में रचित, और कात्यायन द्वारा उल्लिखित ऋषियों के नाम उसके बाद आए हैं (१७)। बीच का यह तृच (१००।१६-१८) एवं जातवेदा का यह मंत्र भी (९९ सू.) क्या प्रक्षिप्त है? इन्द्र के सखा हैं कुत्स (५।३१।९) और कुत्स एक नहीं। पहले के आर्जुनेय कुत्स हैं ऋक् संहिता के एक कुत्स प्राचीन ऋषि हैं (४।२६।१, ७।१९।२, ८।१।११); और यही कुत्स आंगिरस हैं (द्र. सर्वानुक्रमणी, परिभाषा २।३)। उन्होंने स्वयं ही एक जगह

सख्य रति मूल भाव है। उससे अन्यान्य भावों का विकास, विस्तार— वैष्णवों की भाषा में भाटे में दास्य, ज्वार में वात्सल्य और गहराई में माधुर्य का होता है [१२√४]। भाव का यह स्वच्छन्द लीलायन ऋषि गृत्समद के इस एक मंत्र में इस रूप में व्यक्त हुआ है: 'हे अग्नि, तुम पिता हो, तुम्हारी ओर एषणा के साथ लोग (दौड़ कर जाते हैं) तनूरुचि तुम्हारी ओर भ्रातृभाव के लिए (दौड़ कर जाती है) उत्साह के साथ, तुम पुत्र होते हो (उसके) जो तुम्हारी ओर दौड़ कर आए हैं; सखा तुम हो परम शिवमय — रक्षा करते हो अत्याचार से।'[1]

प्राचीन कुत्स का उल्लेख किया है (१।११२।२३)। 'कुत्स' नाम का अर्थ निघण्टु में है वज्र, (२।२०) तत्र कुत्स इत्य एतत् कृन्ततेः, ऋषि कुत्सो भवति कर्ता स्तोमानाम् इति औपमन्यवः अत्राप्य् अस्य वध कर्मैव भवति, 'तत्सख इन्द्रः शुष्णं जघाने'ति' ३।११ (< √ कुद ॥ चुद (प्रेरणे)। आर्जुनेय कुत्स के लिए द्र. अध्याय के अन्त में ऋषि प्रसंग। [1] द्र. १।९४ सूक्त भद्रा हि नः प्रमतिर् अस्य संसद्य् अग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥१॥ यस्मै त्वम् आयजसे स साधत्य् अनर्वा क्षेति दधते सुवीर्यम्, स तूताव नैनम् अश्नोत्य् अंहतिर् अग्ने सख्ये ... ॥२॥ शकेम त्वा समिधं साधया धियस् त्वे देवा हविर् अदन्त्य् आहुतम्, त्वम् आदित्याँ आवह तान् ह्य् उश्मस्य् अग्ने सख्ये ... ॥३॥ भरामेध्मं कृणवामा हवींषि ते चितयन्तः पर्वणापर्वणा वयम् जीवातवे प्रतरं साधया धियोऽग्ने सख्ये ... (टी. १२६१[2]) ॥४॥ विशां गोपा अस्य चरन्ति जन्तवो द्विपच्च यद उत चतुष्पद् अक्तुभिः (अग्नि दिन-रात सभी प्राणियों के साक्षी एवं रक्षक, पालनकर्ता हैं), चित्रः प्रकेत उषसो महाँ अस्य् (रात बीतते ही फिर उषा के प्रकाश में सब को जगा देते हैं; 'अक्तु' अथवा रात के बाद उषा अग्निहोत्र के क्रम को सूचित करती है) अग्ने सख्ये ... ॥५॥ त्वम् अध्वर्युर् उत होतासि पूर्व्यः प्रशास्ता पोता जनुषा पुरोहितः, विश्वा विद्वाँ आर्त्विज्या धीर पुष्यस्य् (द्र. टी. १२६१[5]) अग्ने सख्ये ... ॥६॥ यो विश्वतः सुप्रतीकः ('प्रतीक' < प्रति √ 'अञ्च्' 'चलना', दृश्य रूप में जो सामने है; किन्तु यह आन्तर दर्शन है, तु. क. प्रत्यग् ... ऐक्षद् आवृत्तचक्षुः २।१।१) सदृङ्ङसि (यह बाह्य दर्शन है) दूरे चित् सन् तळिद् इवाति रोचसे ('तळित्' विद्युत तडिद् भवतीति शाकपूणिः, सा ह्य् अवताडयति दूराच् च दृश्यते नि. ३।११; तु. के. तस्यैष आदेशो यद एतद् विद्युतो व्यद्युतद् आ इत्य् अधिदैवतम् ४।४), रात्र्याश् चिद् अन्धो अति देव पश्यस्य् अग्ने सख्ये ... (समस्त ऋक् में भीतर-बाहर, व्यक्त-अव्यक्त में रहस्यविद् मर्मज्ञ के अग्नि दर्शन का वर्णन) ॥७॥ देवो देवानाम् मित्रो अद्भुतो वसुर् वसूनाम् असि चारुर् अध्वरे, शर्मन्त् स्याम तव सप्रथस्तमे (तु. उरुर् अनिबाधः ऋ. ५।४२।१७) ऽग्ने सख्ये ... ॥१३॥ तत् ते भद्रं यत् समिद्धः स्वे दमे सोमाहुतो जरसे मृळयत्तमः (अग्नि-सोम के सहचार में नित्य चिदानन्द की प्राप्ति), दधासि रत्नं (द्र. टी. १२६४[2]) द्रविणं च दाशुषेऽग्ने सख्ये ... ॥१४॥ यस्मै त्वं सुद्रविणो ददाशोऽनागास्त्वम् अदिते सर्वताता (द्र. टी. १२१७[4]), यं भद्रेण शवसा चोदयासि प्रजावता राधसा ते स्याम ॥१५॥ ऋ. १०।८७।२१ [द्र. टी. १३१४[2]], ८।७१।८, ४३।१४ (द्र. टी. १२५४[11]) ... । सख्य के और भी उदाहरण

[१२√४] एक ही देवता के प्रति इन तीनों भावों का एक साथ पोषण करना भाव का विपरीत आचरण नहीं है। अद्वैत चेतना की ऊँचाई पर सारे भाव ही एक महाभाव में पर्यवसित हो जाते हैं — सम्बन्ध के भले-बुरे होने के कारण विशिष्ट भाव एक ही भाव की सृष्टि हैं। अतः शक्ति साधक कह सकते हैं कि 'जननी, तनया, जाया, सहोदरा क्या पराई हैं?' [1] त्वाम् अग्ने पितरम् इष्टिभिर् नरस् त्वां भ्रात्राय शम्या तनूरुचम्,

वीर साधक की तीर जैसी तन्मय एषणा के जब वे लक्ष्य होते हैं तब वे उसके पिता अथवा माता हैं।[२] उसके बाद एषणा के चरितार्थ होने पर जब आधियाज्ञिक दृष्टि से अरणि में अथवा आध्यात्मिक दृष्टि से हृदय में उनका आविर्भाव होता है तब वे ही पुत्र हैं।[३] उसके बाद शिशु अग्नि धीरे धीरे अपने घर में बढ़ते रहते हैं, अपनी विश्वरुचि शिखा के उद्भास या प्रकाश से यजमान के तनु को भी उज्ज्वल, रुचिर करते हैं; तब 'अमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः'— अर्थात् अग्नि और मनुष्य भाई-भाई हैं।[४] देवता का यह सायुज्य ही साधना का लक्ष्य है, उसका आदि-अन्त उनके सख्य में निविड़ है, एकरूप है।[५] और इस निविड़ता का पर्यवसान मधुर भाव में होता है जब उतावले, उत्कंठित देवता के हृदय के निविड़ स्पर्श के लिए मनुष्य का भी हृदय उसी प्रकार व्यग्र होता है जिस प्रकार सुवेशा पत्नी प्रेमानन्द में पति से मिलने के लिए व्याकुल होती है।[६] उस समय ऋषि के अन्तर में कभी-कभी माधुर्य के विलास-विवर्त में विप्रलब्ध का अभिमान अथवा आत्ममर्यादा का बोध छलक उठता है। ऋषि कहते हैं:

त्वं पुत्रो भवसि यस्तेऽविधत् त्वं सखा सुशेवः पास्य आधृषः २।१।९। शमी निघ. में कर्म २।१ ॥ शम्॥ शमु उपशमने। जिस प्रकार 'शम्: योः', उसी प्रकार 'शमी' इसी तरह विपरीतार्थक धातु 'यम्, रम्' द्वारा रहस्यमय अनुभव का स्वभावसिद्ध संकेत करना सरल होता है। 'तनूरुच्' तु. अग्नि 'ज्योतिर् अमृतं ... तन्वा वर्धमानः' ऋ. ६।९।४; 'उच्छ्रयस्व वनस्पते वर्ष्मन् पृथिव्या अधि ... वर्चो धा यज्ञवाहसे' (३।८।३ 'वनस्पति' यहाँ यूप है, इसके अलावा अग्नि भी है — पृथिवी की सतह से ऊँचाई में ऊपर उठकर यजमान को ज्योतिष्मान कर देता है; द्र. श्वे. २।१२)। ऋक् के प्रथम दो पाद में सायण विध्-धातु का अध्याहार करना चाहते हैं। 'आधृषः' आधर्षणात् (वेंकटमाधव)। [२] पिता : तु. 'स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव, सचस्वा नः स्वस्तये'— वही तुम हे अग्नि, पुत्र के निकट पिता की तरह स्वच्छन्द गम्य होओ, स्वस्ति के लिए हमें पकड़े रहो १।१।९; हव्यवाळ् अग्निर् अजरः पिता नः ५।४।२; २।५।१, ३।३।४। माता : पिता माता सदम् (सर्वदा) इन् मानुषाणाम् ६।१।५, ५।१५।४ (द्र. टी. १३१४[२])। [३] अरणि के पुत्र ३।२।२... (द्र. टीम्. १३४८, १३४९, १३६६); उससे यजमान के 'सहसः पुत्रः' ५।११।६ (द्र. टी. १३४८[६])। हृदय से उत्पन्न १।६०।३ (द्र. टी. १३४७[४]); मध्ये निषत्तो, रण्वो दुरोणे १।६९।४ (द्र. टी. १२५६[२])। अतएव आधार के सोमपात्र में : पितुर् न पुत्रः सुभृतो दुरोण ८।१९।२७। पितापुत्र सम्बन्ध का हेर-फेर: 'अव स्पृधि पितरं योधि विद्वान् पुत्रो यस् ते सहसः सून ऊहे'— पिता की रक्षा के प्रति सतर्क दृष्टि रखो, दूर कर दो (उसके शत्रु को) — तुम तो जानते हो (सब): कि (पिता स्वयं को) तुम्हारा पुत्र मानता है, हे उत्साहस के तनय (५।३।९; उपासक अग्नि का जनक, और फिर अग्निरक्षित होने के कारण उनका पुत्र, द्र. सायण)। [४] तु. १।१६४।३० (द्र. टी. १२८९); अन्यत्र 'जीव' आयु अथवा प्राणरूप में अग्नि— जिस प्रकार जीवन में, उसी प्रकार मरण में। मृत्यु के बाद भी वे अपने शिवतनु द्वारा यजमान को वहन करके सुकृतों अथवा भाग्यवानों के लोक में ले जाते हैं और वहाँ उसको दिव्यतनु गढ़ते हैं (१०।१६।४-५)। [५] तु. 'अयम् अग्ने त्वे अपि जरिता भूतु सन्त्य'— हे अग्नि, हे सत्स्वरूप, यह गायक तुम में आसक्त रहे ८।४४।२८; अग्निं मन्ये पितरम् अग्निम् आपिम् अग्निं भ्रातरं सदम् इत् सखायम् अग्नेर् अनीकं बृहतः सपर्यं दिवि शुक्रं यजतं सूर्यस्य — अग्नि को मानता हूँ पिता, अग्नि को बन्धु, अग्नि को भाई; सदा ही (उनको मानता हूँ) सखा; बृहत् अग्नि की पुंजज्योति की परिचर्या करता हूँ (और) द्युलोक में सूर्य की यजनीय शुक्ल (ज्योति की)। १०।७।३ (आध्यात्मिक-

मैं यदि तुम होता हे अग्नि और तुम यदि होते मैं, तो फिर ये (जीवन में) तुम्हारे सारे आशीर्वाद ही सत्य होते।... हे अग्नि तुम यदि मर्त्य होते और मैं होता अमर्त्य हे मित्रदीप्ति, हे मेरे उत्साह के पुत्र जिसको सब दिया है, तुम्हें मैं फेंक नहीं देता अभिशाप के मध्य हे ज्योतिर्मय, हे सत्यस्वरूप, (फेंक देता नहीं) पाप के बीच। मेरा स्तोता होता नहीं दिशाहारा, दिग्भ्रान्त अथवा दुर्गति या दुर्दशा-ग्रस्त; वह होता नहीं पापस्पृष्ट।[७]

गार्हपत्य अथवा गार्हस्थ्य पति-पत्नी दोनों को लेकर चलता है। गृहपति अग्नि के प्रति पुरुष का यह मधुर भाव चाहे जितना भी हो, मगर आरोपित है। किन्तु नारी में वह स्वाभाविक होगा। संहिता में ऋषिकाओं की रचनाएँ बहुत ही कम हैं क्योंकि अग्नि के प्रति उनके मनोभाव की अभिव्यक्ति विशेष सहज नहीं। केवल आत्रेयी विश्ववारा के अग्नि सूक्त में देवता के प्रति नारी मन की ललक, प्रणति और वन्दना की एक सुकोमल छवि प्रस्फुटित हुई है [१३५८] जिसमें हमें अग्नि के निकट उनकी भावुकता पूर्ण यह प्रार्थना मिलती है: 'हे अग्नि, दाम्पत्य को तुम सुन्दर, सुसंयमित करो।' ऐसी प्रार्थना अग्नि के निकट ही की जा सकती है, क्योंकि पहले ही हमने बतलाया है कि वैदिक भावना में मनुष्य को पतिरूप में पाने के पहले तरुणी कन्या अग्नि गृहीता अर्थात अग्नि उसके तृतीय पति हैं।[१] इस प्रकार की भावना हमें ऋक्संहिता के अन्य स्थानों पर भी मिलती है वसुश्रुत आत्रेय ने अग्नि को सम्बोधित करते हुए कहा है कि 'तुम तब होओ अर्यमा, जब कुमारियों के (बन्धु तुम), अपने आप में स्वयं स्थित रहकर धारण करते हो वह गोपनीय नाम; स्वागत योग्य मित्र समझकर गव्य का अंजन तुम्हें मल देती हैं, जब दम्पति के दो मन को एक कर देते हो तुम।'[२] और एक स्थान पर अग्नि को 'कुमारियों का बन्धु एवं

दृष्टि से हृदय में अग्नि, मूर्द्धा में सूर्य)। ६ तु. भूया अन्तरा हृद्य् अस्य निस्पृशे जायेव पत्य उशती सुवासाः १०।९१।१३। ७ यद् अग्ने स्याम् अहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्, स्युष्टे सत्या इहाशिषः ८।४४।२३। यद् अग्ने मर्त्यस् त्वं स्याम् अहं मित्रमहो अमर्त्यः, सहसः सूनव् आहुत; न त्वा रासीयाभिशस्तये वसो न पापत्वाय सन्त्य, न मे स्तोता मतीवा न दुर्हितः स्याद् अग्ने न पापया १९।२५-२६। पाप ऋ. में जो कोई भी अशुभ शक्ति या प्रवृत्ति — जैसे रक्षः शक्ति १।१२९।११, यौन अतिचार १०।१०।१२, अमंगल १।१८९।५, अनृत एवं असत्य ४।५।५। ब्राह्मण में 'अशनाया' (बुभुक्षा अथवा वासना दोनों अर्थ में ही ऐब्रा ५२), 'वृत्र' श. ६।४।२।३, ११।१।५।७ (तु. ऐ. ४।२५), जो कोई भी क्लिष्टता अथवा चेतना का संकुचन. श. ४।४।५।२३, ३।३।१६। उपनिषद में द्वैत बुद्धि छा. १।२)।... वैष्णवों के अनुसार भाव की पराकाष्ठा मधुर में, वह सभी भावों में अनुस्यूत। उसकी 'गति साँप की तरह टेढ़ी-मेढ़ी')। इसलिए 'वाम्य', अथवा आपाततः प्रतिकूलता उसका एक विशिष्ट लक्षण। उसकी एक व्यंजना मान-अभिमान में। अनुरूप अभिमान इन्द्र के प्रति ८।१४।१-२, ७।२२।१८; मरुद्गण के प्रति १।३८।४। [१३५८] द्र. टीमू. १३५०२...। और भी तु. ऋ. १०।८५।२२। १ द्र. टी. १३८३१। अग्नि साक्षी करके विवाह होता है द्र. १०।८५।३८-४१। २ त्वम् अर्यमा भवसि यत् कनीनां नाम स्वधावन् गुह्यं बिभर्षि, अञ्जन्ति मित्रं सुधितं न गोभिर् यद् दम्पती समनसा कृणोषि ५।३।२।

विवाहिताओं का पति कहा जा रहा है।[२] इस समय हम जिस प्रकार
शिव अथवा कृष्ण के प्रति कन्याओं का मधुर भाव देखते हैं उसी प्रकार
वेदकालीन कन्याओं का मधुर भाव अग्नि के प्रति देखते हैं।[४] लगता
है मर्त्य गृहपति के भीतर ही वे उसी दिव्य 'कविर् गृहपतिर् युवा'
का प्रतिबिम्ब खोजतीं जो उनके तरुण जीवन के स्वप्न थे।

अग्नि के साथ मनुष्य के व्यक्तिगत सम्बन्ध की यही धारा
है। वैदिक ऋषियों की देवोपासना विशेष रूप से एक व्यक्ति-
गत प्रकरण है, इसलिए कहा जा सकता है कि देवों के सम्बन्ध
में यह धारा ही स्वभावतः गहरी हुई है। किन्तु स्मरण रखना
होगा कि आर्यभावना में अध्यात्म दृष्टि और अधिदैवत दृष्टि सह-
चारित हैं; आध्यात्मिक भावना व्यक्तिगत है किन्तु अधिदैवत भावना
विश्वगत है। इसके अलावा आत्मचैतन्य का विश्वमय प्रसारण
वैदिक साधना का चरम परिणाम है। इसी से देखते हैं कि वेद-
मंत्रों में व्यक्ति का अतिक्रम करके विश्व बड़ा हो उठा है, वहाँ
'अहं-माम्-मे' की अपेक्षा 'वयम् – नः' का प्रयोग ही अधिक है।
संभवतः हम लक्ष्य नहीं करते कि हम सब का नित्यजपा गायत्री मंत्र
व्यक्ति के कण्ठ से उच्चारित एक सार्वजनिक प्रार्थना है; सविता की
प्रचोदना या प्रेरणा का मैं आवाहन करता हूँ अकेले अपने लिए नहीं
बल्कि सब के लिए — मैं वहाँ विश्वमानव का प्रतिनिधि हूँ। अतएव
अग्नि के बारे में भी देखता हूँ कि गृहपति के रूप में वे जिस प्रकार
मेरे नितान्त अपने हैं उसी प्रकार फिर वे सब के भी हैं [१२५६]-
वे 'राजा विशाम्', 'विशाम् अतिथिः', 'विशां कविः', 'विशां धर्ता', 'कविः
सम्राड् अतिथिर् जनानाम्', 'पतिः कृष्टीनाम्', 'नेता चर्षणीनाम्' इत्यादि
हैं। वे तो आयु अर्थात् प्राणस्वरूप हैं इसलिए प्रणति और हव्य द्वारा
अभ्यञ्जन करता है वही सुप्रीत (देवता का) 'पंचजन'।[१] संक्षेप में वे
वैश्वानर हैं अर्थात् सब के अन्तर्यामी हैं; 'गर्भश्च स्थाताम् गर्भश्च
चरथाम्' — जड़ चेतन जो कुछ है सब के अन्तर्निहित चिन्मय भ्रूण हैं।[२]

'अर्यमा' आनन्द, सम्भोग-उपभोग और सख्य के देवता हैं (आगे चलकर द्रष्टव्य)। विवाह
में उनका प्राधान्य, द्र. विवाह सूक्त १०।८५।२३, ४३। आश्वलायन के गृह्यसूत्र के
अनुसार 'अर्यमणं नु देवम् कन्या अग्निम् अयक्षत' — कुमारी लड़कियों ने अग्नि में अर्यमा
का ही यजन किया १।७।१३। शौ. में वैवाहिक अग्नि को अर्यमा कहा गया है १४।१।३७।
२ ऋ. जारः कनीनां पतिर् जनीनाम् १।६६।८। अग्नि गृहपति हैं, नारी ने जीवन भर
उनको ही चाहा है, पति के भीतर भी उनको ही देखा है (तु. १०।८५।४०)।[४] अन्यत्र
हम देखते हैं कि कुमारी अपाला का मधुर भाव इन्द्र के प्रति है ८।९१ सूक्त;
विशेष द्रष्टव्य. इन्द्र के प्रसंग में।

[१२५६] द्र. ऋ. २।२।८, ४।१, ३।२।१०, ५।७।३, ६।७।१, ५।१।६, ७।१५।५, ३।६।१...
जन, विश्, कृष्टि एवं चर्षणी में सूक्ष्म भेद रहते हुए भी वह सर्वत्र स्थिर नहीं रखा
गया। जान पड़ता है, सर्वाधिक व्यापक संज्ञा **जन** है, समूह के बोध के लिए देवता
एवं मनुष्य दोनों के बारे में प्रयुक्त। जैसे 'पंचजन' कहने पर सर्वसाधारण का
बोध होता है (द्र. टी. १२६४) सभी भारतवासी 'भारतजन' (ऋ. ३।५३।१२);
तु. परवर्ती जनपद। उनमें ही **विश** वे लोग हैं जिन्होंने उपनिवेश अथवा नई

कवि की भाषा में उनका आवाहन करके कहते हैं, 'ओ मेरे, सब के आधार, तुम करते सर्वत्र विहार — तुम मेरे हो, सब के हो, विश्व से चित्त तक विचरते हो, विहार करते हो।'

यह विश्वजनीन अग्नि ही मनुष्य के 'प्रथमो यज्ञसाध', हैं — उसके उत्सर्ग की भावना के आदिम प्रचोदक या प्रेरक हैं [१२५६]। अतएव मानव ऋत्विक के साथ इस दिव्य ऋत्विक का घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऋत्विक की लक्ष्याभिसारी चेतना में मनीषा की जो दीप्ति है उसे वे ही आगे-आगे लेकर चलते हैं — उसके समस्त चिन्तन-मनन के एक मात्र अधिनायक वे ही हैं।[1] अग्नि के प्रत्यक्ष आवेश एवं प्रवचन में यह मनीषा ही तब वाक के उस निगूढ़ परमपद का, लोकोत्तर रहस्य के उस विज्ञान[2] का आविष्कार करती है जिसने हमारे पूर्वपुरुषों को 'सत्य-मन्त्र' बनाया है। उनकी मंत्रसिद्धि ने अँधेरे के आवरण को चीर कर मनुष्य की चेतना में नयी उषा को जन्म दिया है।[3] वे हमारे पथ-प्रदर्शक पूर्वज ऋषि हैं[4], यज्ञ के वितनन, प्रसारण में मनुष्यों के बीच अग्नि विद्या के प्रवर्तक- मनु, अथर्वा, अंगिरा, भृगु एवं आयु हैं। अग्नि के सायुज्य में वे अग्निमय हैं। प्रसंगत: हमने इन अग्निऋषियों का कुछ-कुछ परिचय प्राप्त किया है, आगे चलकर विस्तारपूर्वक चर्चा करेंगे।

बस्ती बसाने के लिए नई भूमि में घुसपैठ की है [<√विश, प्रवेश करना]; ये आर्यों के समुदाय के अभिजात एवं सुप्रतिष्ठित ब्राह्मण-क्षत्रिय से अलग (तु. ८।३५।१६-१८) इसी से आगे चलकर तृतीय वर्ण वैश्य। राहस्यिक अर्थ में विश वे प्रवर्त साधक जो साधना के क्षेत्र में सद्य: प्रविष्ट होते हैं। अनेक स्थानों पर विश और जन में कोई अन्तर नहीं (इस प्रसंग में तु. 'विश्व'; शतपथ ब्राह्मण के अनुसार 'विश्वो विश्वे देवा:', २।४।३।६, ३।८।१।१८, ५।५।१।१०, 'वैश्वदेव्यो वै प्रजा:, तै. १।६।२।५ ...')। कृषिकर्म करने के कारण वृत्ति की दृष्टि से ये **कृष्टि** (<√कृष 'चास करना, जोतना-बोना, खेती करना')। इसके अलावा राहस्यिक अर्थ में यह साधकों की साधारण संज्ञा है। साधना के साथ क्षेत्रकर्षण की उपमा अति प्राचीन एवं स्वाभाविक है; ऋक् संहिता में सिद्ध पुरुष ही 'क्षेत्रवित्' (तु. १०।३२।७)। **चर्षणि** (<√चर् 'चलना') जो चरिष्णु है स्थाणु नहीं है अतएव उद्योगी है परिश्रमी है (तु. ऐब्रा. रोहित के प्रति इन्द्र का अनुशासन — उपदेश 'चरैव', ७।१४) अनेक स्थानों पर सामान्यत: 'मनुष्य' या 'लोग' का बोध होने पर भी इस संज्ञा में राहस्यिक द्योतना प्रबल है।[1] आयुं न यं नमसा रातहव्या अंजन्ति सुप्रयसं पंचजना: ६।११।४ **अञ्जन** किसी भी स्नेहद्रव्य (तैलादि) द्वारा लेपना, मलना। किन्तु आग को ऐसा करने पर वह और भी जल उठती है। इसी से इस संज्ञा में प्रकाश और आवरण इन दो विपरीतमुखी भावों की व्यंजना का संकेत है।[2] १।७०।३

[१२५६] ऋ. १।७६।२। [1] तु. त्वं हि विश्वम् अभ्य् असि मन्म प्र वेधसश् चित् तिरसि मनीषाम्' — तुम ही जब समस्त मनन के अधिकारी हो, तब तुम ही लक्ष्यवेधी मनीषा को अग्रसर करके चलते हो ४।६।१। 'मन्म' मनन; उसके ऊपर 'मनीषा' उपनिषद् में जो विज्ञान सत्व अथवा बुद्धि है (तु. क. १।३।३-१३, २।३।७, ८; ऋ. १।६१।२, द्र. टी. १२५८)। [2] द्र. ऋ. ४।५।३, टीमू. १३२०। [3] गूळ्हं ज्योति: पितरो अन्व् अविन्दत् सत्यमंत्रा अजनयन् उषासम् ७।७६।४। [4] तु. १०।१४।१५।

५- अग्नि के विभिन्न विभाव या रूप

अग्नि के रूप, गुण, कर्म एवं जन्म-रहस्य तथा देवता और मनुष्य के साथ उनका सम्बन्ध — इन सब के विवेचन से हमने उनका एक साधारण परिचय प्राप्त किया। किन्तु इसके अलावा उनकी कई एक विशिष्ट व्यंजनाएँ भी हैं — जिसका परिचय हमें कुत्स आंगिरस के अग्नि सूक्त में मिलता है [१३५८]। उसमें हम देखते हैं कि एक ही अग्नि के — जातवेदा:, औषस, द्रविणोदा:, शुचि और वैश्वानर रूप में विभिन्न विभाव हैं। कुत्सदृष्ट अग्नि के इन विभावों को अध्यात्म चेतना की अभिव्यक्ति के क्रम के अनुसार कुछ हेर-फेर के साथ इस रूप में क्रमबद्ध कर ले सकते हैं :— सौचीक (औषस), जातवेदा:, शुचि (रक्षोहा) द्रविणोदा: एवं वैश्वानर। इन में जातवेदा के बारे में पहले ही बतलाया जा चुका है[१], अब और सब की चर्चा करेंगे।

पहले हम **सौचीक** अग्नि के बारे में बात करेंगे। अग्नि का सौचीक नाम संहिता अथवा ब्राह्मण में नहीं है किन्तु बृहद्देवता में शौनक के कथनानुसार 'सौचीक अग्नि देवताओं के निकट से चले गए थे – यह बात श्रुति में है [१३५९]।' जान पड़ता है इस नाम का अर्थ है जिनकी सूचना मात्र है, जो दिखाई नहीं पड़ते अथवा सूची-वाहित सूत्र की तरह जो सर्वत्र अनुस्यूत हैं, संक्षेप में जो अति सूक्ष्म हैं।[१] संहिता के आख्यान में इस भाव की ध्वनि ही सुस्पष्ट है। अग्नि का प्रथम आविर्भाव जातवेदा रूप में होता है किन्तु उसके पहले वे जब अप या ओषधि के गर्भ में निहित थे,[२] जब वे सूचित किन्तु आविर्भूत नहीं, तभी वे 'सौचीक' थे। कुत्स ने इस अग्नि को ही 'औषस' कहा है, जो 'निण्य' हैं अथवा गुहाहित होने के कारण जिनको कोई नहीं खोज पाता,[३] जो दिन के पुत्र हैं किन्तु रात्रि उनकी धात्री है, फिर जिनका आविर्भाव[४] हिरण्मय या स्वर्णमय सूर्य रूप में उषा में होता है, जिनके सर्वव्यापी तीन जन्म द्युलोक, अन्तरिक्ष एवं समुद्र में होते हैं किन्तु चौथा जन्म हम सब के मध्य होता है।[५]

[१३५८] द्र॰ 'कुत्स' टीमू॰ १२५३। [१] द्र॰ टीमू॰ १२२१ ...; ऋ॰ १।९५ सूक्त टीमू॰ १३५३।

[१३५९] बृहद्देवता॰ ७।६२। श्रुति में आख्यान तो है किन्तु अग्नि का नाम नहीं है। शौनक की जानकारी में किसी श्रुति में उल्लेख है या नहीं, उनकी उक्ति से वह निस्सन्देह समझ में नहीं आता। शौनक ने अपने ग्रन्थ में अनेक खिलमंत्रों का उल्लेख किया है। यह नाम क्या वेद की उन शाखाओं में कहीं था? [१] ऋ॰ में एक स्थान पर अतिसूक्ष्म अदृष्ट विषधर जीव को 'सूचीक' कहा गया है १।१९१।७; और एक स्थान पर 'सूची' का उल्लेख इस रूप में है : [राका] सीव्यत्व् अपः सूच्या॰ च्छिद्यमानया २।३२।४। 'सूक्ष्म' शब्द का भी मूल एक ही। क॰ में पुरुष के सम्बन्ध में हम पाते हैं — 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते, दृश्यते त्व् अग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभि:' १।३।१२। इस भावना के भीतर सौचीक अग्नि की व्यंजना है। [२] तु॰ ऋ॰ ३।१।१२ (द्र॰ टीमू॰ १३७५), २०।२ [३] तु॰ 'क इमं वो निण्यम् आ चिकेत १।९५।४; इसी से 'नचिकेत:' संज्ञा; तु॰ १०।५१।३, ४। [४] तु॰ 'द्वे विरूपे चरत: स्वर्थे अन्यान्या वत्सम् उप धापयेते, हरिर् अन्यस्यां भवति स्वधावाञ् छुक्रो अन्यस्यां ददृशे सुवर्चा:' दो रूप-रंग की (धेनु) चर रही हैं—

सौचीक अग्नि गुहाहित है, गुह्य है। अग्नि के गुहाशयन का उल्लेख ऋग्संहिता के अनेक स्थानों पर अनेक रूपों में है [१४००]। अधिभूत दृष्टि से अग्नि को हम सर्वदा सर्वत्र नहीं देख पाते — न ओषधि में, न अप में, न द्युलोक में। किन्तु अध्यात्म दृष्टि से हम देखते हैं कि वे हमारे भीतर तपःशक्ति रूप में सर्वदा उपस्थित हैं, 'चित्तिर् अपां दमे विश्वायुः' — प्राणप्रवाह में चेतना रूप में, आधार में विश्वप्राण रूप में अवस्थित हैं।[1] यह आत्मानुभव ही बृहत् होकर देवता की सर्वव्यापिता एवं नित्यता का अनुभव करवाता है। उस समय हम उनको कह सकते हैं; — 'तुम अजात, अजन्मा होकर धारण किये हो इस विपुला क्षिति या पृथिवी को, द्युलोक के स्तम्भ हुए हो सत्यमंत्र द्वारा; प्राण के आलोक के सारे प्रिय धामों की रखवाली करते रहते हो सतर्कता के साथ; हे अग्नि, तुम विश्वायु हो, जा रहे हो गुहा से (और भी गहन) गुहा में।'[2] अर्थात् देवता एक ही साथ सर्वव्यापी, सर्वाधार एवं सर्वनिविष्ट हैं। जब वे निविष्ट होते हैं तब फिर हम उन्हें देख नहीं पाते; किन्तु विश्वमूल व्याहृति के मंत्ररूप में उस समय भी वे हैं। गुहाहित होकर वे ओषधि में हैं, अप में हैं, परमव्योम में हैं और सब के भीतर हैं, अन्तर में हैं। उसी गुहाहित अग्नि को विश्वप्राण मातरिश्वा परमव्योम से यहाँ ले आते हैं;[3] फिर हम सब भी जाग्रत चित्त की आहुति द्वारा उनको आँखों के सामने प्रज्वलित प्रस्फुटित कर लेते हैं।[4] इस प्रकार देवता के प्रसाद या अनुग्रह और मनुष्य के प्रयास दोनों के मेल से अगोचर, अप्रत्यक्ष को गोचर अथवा प्रत्यक्ष में लाने, उतारने की साधना चलती है।[5]

दोनों का एक ही सुन्दर लक्ष्य है; एक दूसरे के बछड़े को दूध पिला रही हैं; आत्म-निहित (देवता) एक के भीतर स्वर्णिम हिरण्मय होते हैं और दूसरी के भीतर शुक्ल एवं सुद्युति, सुन्दर दिखाई देते हैं १।९५।१। दिन और रात दो धेनु हैं — एक धवरी (सफ़ेद) है और एक साँवली (काली) है। रात्रि के गर्भ से प्रातःकाल में हिरण्मय सूर्य का आविर्भाव; उसी प्रकार सायंकाल में शुक्ल ज्योति अग्नि का आविर्भाव। तब सूर्य की धात्री दिवा (दिन) और अग्नि की धात्री रात्रि। और फिर रात के अँधेरे में सूर्य का प्रकाश अग्नि में सिमट आता है, वह अग्नि ही औषस रूप में सूर्य में विस्फारित होते हैं। इस प्रकार संकुचन और विस्फारण से जीवचेतना और विश्व-चेतना में एक ही ज्योति का लीलायन है। यह भावना ही अग्निहोत्री की साधना का आधार है। ५ १।९५।२, द्र. टी. १२७३[2]। ६ तु. १।९५।२; १०।४५।१। तो फिर कुल चार अग्नि हैं ~~जिसका उल्लेख हमें ब्राह्मण में प्राप्त होता है~~ (द्र. टी. १४०३)। द्युलोक में सूर्य रूप में, अन्तरिक्ष में जलभरे मेघ में विद्युत रूप में और समुद्र में बडवानल रूप में (जो सम्भवतः फास्फोरस अथवा ज्योत्स्ना की टिमटिमाहट का वर्णन है) ये तीन अग्नि तीन लोक में व्याप्त हैं। चतुर्थ अग्नि हव्यवाहन रूप में हम सब के अन्तर में आविर्भूत। यद्यपि औषस अग्नि ही आकाश में सूर्य रूप में और वेदी में जातवेदा रूप में जल उठते हैं तब भी कुत्स की सूक्तमाला में दृष्ट से अदृष्ट का संकेत समझाने के लिए क्रम का विपर्यय दिखाया गया है।

[१४००] तु. ऋ. गुहा चतन्तम् १।६५।१, गुहा निषीदन् ६।५९।३; य ईं चिकेत गुहा भवन्तम् गुहा सन्तम् ५।८।३, गुहा हितं ४।७।६, ५।११।६, गुहा चरन्तम्, माता गुहा बिभर्ति ५।२।१, गुहेव वृक्षम् ७।१।१४...; और भी तु. त्वाम् अग्ने तमसि तस्थिवांसम् ६।९।७...। १ १।६५।१०। २ अजो न क्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मंत्रेभिः सत्यैः, प्रिया पदानि पश्वो नि पाहि विश्वायुर् अग्ने गुहा गुहं गाः १।६७।५-६। ३ तु. ३।९।५, ६।८।४, १।१२८।२, १४१।३, ३।५।१०। ४ तु. ३।२९।२+ ६।९।४-७। ५ तु. 'पश्वा न तायुं (पशु लेकर भाग जाने वाले चोर की तरह)

सौचीक अग्नि का यह तिरोभाव और आविर्भाव ऋक्संहिता के एक उपमण्डल में संवाद के रूप में सन्ध्या भाषा में वर्णित हुआ है [१४०१]। संवाद के रचयिता ऋषि का नाम नहीं मिलता। किन्तु उसके बाद ही दो सूक्तों का एक और उपमण्डल है। अनुक्रमणी के मतानुसार जिसके ऋषि 'सौचीकोऽग्निर् वैश्वानरो वा, सप्तिर् वाजम्भरो वा' हैं।[1] द्वितीय सूक्त के आरम्भ में ही 'सप्ति वाजम्भर' का उल्लेख है। किन्तु प्रकरण से समझ में नहीं आता कि वह ऋषि का नाम है या नहीं। इस पदगुच्छ का अर्थ है 'ऐसा अश्व जो ओज का वाहन है।' इस में अग्नि के गुण की ध्वनि है, क्योंकि ऋक्संहिता के अनेक स्थानों पर अश्व के साथ अग्नि की तुलना की गई है एवं उसमें 'वाजम्भर' यह विशेषण भी एक स्थान पर है।[2] इन दोनों सूक्तों के पहले सूक्त में वे सौचीक द्वारा एवं दूसरे सूक्त में वैश्वानर द्वारा आविष्ट हैं; पहले सूक्त की वचन-भंगिमा साधक की है एवं दूसरे की सिद्ध की है — जब वे अग्नि को सर्वत्र अनुभव करते हैं;[3] संभवतः ये ही सौचीकाग्नि के इस उपमण्डल के भी रचयिता हैं क्योंकि दोनों उपमण्डलों में भाव-साम्य आसानी से ही दिख जाता है। द्वितीय उपमण्डल के पहले सूक्त को यदि संवाद के आरम्भ में उपोद्घात या प्रस्तावना के रूप में और दूसरे को उसके अन्त में फलश्रुति के रूप में स्थापित किया जाए तो मनुष्य की साधना और सिद्धि की पटभूमि में देव-लीला का नाट्य-रस उज्ज्वल होकर खिल उठता है। कहानी के विश्लेषण के समय हम वही करेंगे। किन्तु उसके पहले हमें देखना है कि इस सम्बन्ध में ब्राह्मण आदि के उपवर्णनों से हमें क्या संकेत मिलता है।

अग्नि के तिरोधान की कहानी शांखायन ब्राह्मण, तैत्तिरीय संहिता एवं शतपथ ब्राह्मण में है। शांखायन ब्राह्मण का वर्णन खूब संक्षिप्त है एवं कुछ अंश तक संहिता के अनुरूप है। उसमें हम पाते हैं [१४०२] कि — 'देवता और असुरों में इन सब लोकों के लिए संघर्ष हुआ। उनके निकट से पृथक् होकर अग्नि ने ऋतुओं के भीतर प्रवेश किया।[1] देवताओं

गुहा चतन्तं नमो युजानं (उनके रथ में जुते अश्व की तरह हमारी प्रणति) नमो वहन्तम् (देवताओं के पास), सजोषा (समान रूप से तृप्ति में, मिल-जुलकर) धीराः पदैर् (पदचिह्न पकड़कर: पशु के खो जाने एवं चोर के भागने की ध्वनि है) अनु ग्मन् उप त्वा सीदन् (तुम्हारे निकट जाकर बैठने के लिए) विश्वे यजत्राः (अर्थात् देवतागण) १।६५।१-२। मनुष्य 'धीर', देवता 'यजत्र' अथवा यजनीय। मनुष्य की साधना के पीछे विश्वदेवगण अथवा विश्वचैतन्य का आवेश सब समय रहता है। समस्त वैदिक भावना की पृष्ठभूमि के रूप में विश्वदेवगण की उपस्थिति विशेष रूप से ध्यातव्य।

[१४०१] द्र. ऋ. १०।५१-५३ सूक्त। [1] १०।७९-८० सूक्त। [2] तु. 'आशुं (क्षिप्रगामी अश्व) न वाजंभरं मर्जयन्तः १।६०।५, ६६।४, २।५।२, ३।२६।२, ४।१५।१ ...। स्मरणीय 'अश्व' ओजः १०।७३।१०। [3] द्रष्टव्य - इस सूक्त के प्रत्येक ऋक् के प्रत्येक पाद के आरम्भ में अग्नि का नाम है — जो जपमाला की तरह लगता है।

[१४०२] द्र. १।२। ऋक्संहिता में देवासुर संग्राम का प्रसंग नहीं है किन्तु वरदान की बातें ठीक इस रूप में ही हैं १०।५१।८-९। वहाँ यम गुहाहित अग्नि को सबसे पहले देखते हैं उसके बाद देवताओं के अगुआ के रूप में वरुण उनके साथ बातचीत करते हैं (२-३)। अग्नि, यम और वरुण का सहचार लक्षणीय (तु. १।१६४।४६ द्र. टी. ११८४, १२५९)।[1] ऋक्संहिता में अप में अग्नि के प्रवेश का उल्लेख है, यहाँ ऋतुओं में प्रवेश का प्रसंग है। ऋतुचक्र के आवर्तन में संवत्सर, जो पार्थिव कालमान की इकाई है। अतएव ऋतुओं में अग्नि के प्रवेश का

ने असुरों का वध करके विजेता रूप में अग्नि को खोजना शुरू किया।[2] यम और वरुण ने उनको देख लिया। देवताओं ने उनको आमंत्रित किया, प्रार्थना की, वर दिया। अग्नि ने यही वर माँगा, कि "प्रयाज और अनुयाज केवल मुझे ही (दोगे, और दोगे) अपों का घृत और ओषधियों का पुरुष।" इसी से कहा जाता है, प्रयाज और अनुयाज तथा आज्य भी अग्नि का है। उसके बाद ही देवता विजयी और असुर पराजित हुए।[2]

तैत्तिरीय संहिता की कहानी कुछ अन्य प्रकार की है एवं और भी विस्तारित है। उसमें हम देखते हैं कि [१४०२]: अग्नि के तीन बड़े भाई थे वे देवताओं के निकट हव्य वहन करने के समय एक हो गए।[1] अग्नि डर गए, इस प्रकार घबराहट तो उसको ही होगी (जो हव्यवहन करेगा)। उन्होंने भागकर अप् के भीतर प्रवेश किया। देवताओं ने उनको काम में लगाने के लिए खोजना शुरू किया। मत्स्य ने उनके बारे में बतला दिया।

अर्थ है उनकी कालव्याप्ति अथवा सर्वकालीनता। अप में सर्वव्यापी प्राण के रूप में प्रवेश। जब देवासुर युद्ध होता है तब अग्नि नेपथ्य में। ऐसी ही भावना सप्तशती में भी है। विष्णु के साथ जब मधु-कैटभ का युद्ध हो रहा होता है तब योगनिद्रा रूपिणी देवी नेपथ्य में, शुम्भ-निशुम्भ वध के समय भी देवी 'अपराजिता' कालिका के रूप में नेपथ्य में। व्यक्तमध्य विश्व में अथवा जीवन के आदि या अन्त में जो अव्यक्त है, वह ही यह नेपथ्य है (तु. गीता २|२८)। 2 पहले देवताओं की विजय, उसके बाद उनका अग्नि को खोजना; तु. के. ब्रह्म ने ही देवताओं के रूप में विजय प्राप्त की, उस समय देवताओं को उसकी जानकारी नहीं हो पाई किन्तु बाद में यक्ष के रहस्य का उद्घाटन करते समय पता चला। जीवन के नेपथ्य में उजाले की जयन्ती चल ही रही है। किन्तु उसके बारे में मनुष्य जब सचेतन हुआ तभी वह साग्निक या अग्निहोत्री हुआ एवं उसी से जयश्री की सार्थकता सिद्ध हुई। 2 यहाँ हम देखते हैं कि असुरविजय दो बार होती है। एक विश्व भर में नित्य जारी है और एक उसकी ही पृष्ठभूमि में व्यक्ति के जीवन में हो रही है। कहानी का भिन्न अर्थ क्रमशः परिस्फुट होगा।

[१४०३] द्र. २|६|६|१-४। संहिता का यह अंश ब्राह्मण है। 1 मूल में 'प्रामीयन्त' है; तु. ऋ. या (उषा) स्तोतृभ्यो विभावर्य् उच्छन्ती (झिलमिला कर) न प्रमीयसे ५|८०|१०।[2] मत्स्य < √ मद् आनन्द में मत्त होना; तु. टीमू. १३२८); नि. मत्स्या मधौ उदके स्यन्दन्ते, माद्यन्ते अन्योन्यं भक्षणायेति वा ६|२७ (द्वितीय व्युत्पत्ति ही समीचीन है किन्तु हेतुनिर्देश विचारणीय)। ऋ. में जलचर मत्स्य का उल्लेख एक ऋक् में है: अश्मा पिनद्धं (पाषाण से घिरे) मधु पर्य् अपश्यन् मत्स्यं न दीन उदनि (थोड़े जल में) क्षियन्तम् १०|६८|८। लक्षणीय — अचित्ति या अविवेक की पथरीली गुहा में अवरुद्ध अमृत आनन्द चेतना की तुलना अल्प जल में मत्स्य के साथ की जा रही है। फिर हमें मिलता है, काम 'मीनकेतन'। कारण समुद्र में आदिम प्राणी मत्स्य। फिर ऋक् संहिता में परम पुरुष का आदि काम 'मनसो रेतः' १०|१२९|४), जो प्राणी विज्ञान में वर्णित मत्स्य की प्रजननपद्धति के प्रसंग का स्मरण दिला देता है। काम के प्रतीक मत्स्य में अग्नि की प्रथम सूचना, यह अर्थवह। तंत्र में मूलाधार में अग्नि क्यों, वह समझ में ही आता है।... ऋक् संहिता के एक सूक्त के (८|६७) ऋषि हैं 'मत्स्यः साम्मदः, मैत्रावरुणिर् मान्यः बहवो वा मत्स्या जालनद्धाः'। सभी नाम स्पष्टतः ही रूपक। जाल में पड़े सभी मत्स्य जीव हैं, आदित्य के निकट मुक्ति चाहते हैं; कई ऋचाओं में उनकी आर्ति या कातरता अच्छी तरह व्यक्त हुई है (७, ११, १८, १९)। मत्स्य ऋषि सम्मद अथवा इन्द्रियसुख की मत्तता के पुत्र, और एक नाम का अर्थ मन के पुत्र, मित्रावरुण के पुत्र हैं। सभी मत्स्य के अथवा काम के बोधक हैं। याद आती है गीता की उक्ति, 'इन्द्रिय, मन, बुद्धि काम के अधिष्ठान' (३|४०)। ऋषि के नामों में इन तीन अधिष्ठानों का संकेत है। काम की प्रमत्तता का परिणाम बन्धन है उसके ही आर्तस्वरों का परिचय इस सूक्त में है। शब्रा. में 'साम्मद' को मत्स्यराज कहा गया है (१३|४|३|१२); इसके अलावा मनु और मत्स्य की कहानी भी है जो पुराण के मत्स्यावतार का बीज है (१|८|१|१)। बृ. में स्वप्न और सुषुप्ति में संचरणशील

अग्नि ने उसे शाप दिया, "मेरे बारे में तूने बता दिया तो। इच्छानुसार वे तुझे मार डालेंगे।"... उन्हें खोज लेने पर देवताओं ने कहा, "हमारे पास चले आओ, हम सब का हव्य वहन करो।" अग्नि ने कहा, "मैं वरमाहला हूं। आहुति के लिए ली गई सामग्री का वह भाग जो परिधि[3] के बाहर ढलक पड़ेगा, मेरे भाइयों के भाग का हो।" [वही होता है], उसके ही द्वारा अग्नि उन्हें खुश करते हैं। (अग्नि के) चारों ओर परिधि बिछाई जाती है रक्षः गण को मार भगाने के लिए। उनको सटाकर रखना पड़ता है जिससे रक्षः गण प्रवेश न सकें। केवल पूरब की ओर जो ढलक पड़े, उसके प्रति यह मंत्र बोलना पड़ता है: "भूपतये स्वाहा, भुवनपतये स्वाहा, भूतानां पतये स्वाहा।"[4]

शतपथ ब्राह्मण में इस कहानी को और भी कुछ पल्लवित किया गया है [१४०४], वहाँ मत्स्य (मछली) का उल्लेख नहीं है। अप से बल-पूर्वक देवतागण अग्नि को लेकर जाते हैं इसलिए अप पर ही उन्हें गुस्सा आया- उन्होंने उसमें थूक दिया। उससे तीन आप्त्य देवता-त्रित, द्विक और एकत आविर्भूत हुए। वे इन्द्र के सहचर हुए। इन्द्र ने जब त्वष्टा के पुत्र त्रिशीर्षा विश्वरूप का वध किया तब वे वह नहीं जानते थे कि उसका वध किया जाएगा। यहाँ तक कहा जा सकता है कि त्रित ने ही उसका वध किया।... उसके बाद कुछ दूर जाकर कहानी की अनुवृत्ति परिधि के प्रसंग में जारी रहती है।

[1] अग्नि ने असंग पुरुष की तुलना महामत्स्य के साथ की गई है (४।३।१८; वहाँ 'रत्वा चरित्वा दृष्ट्वा', लक्षणीय — विशुद्ध दृष्टि, भोग और कर्म की व्यंजना है उसमें)। मत्स्य वहाँ संहिता के मधु, अथवा आनन्द-चेतना एवं उपनिषद के 'सम्प्रसाद' का प्रतीक है। [2] परिधि है वेदी के चारों ओर चार अंगुल चौड़ी एवं चार अंगुल ऊँची जो 'मेखला' या मिट्टी की दीवाल है, उसके ऊपर बिछाए गए लकड़ी के टुकड़े। वेदी के भीतर अग्नि को परिधि द्वारा घेर कर रखा हुआ है: उसी से वे जीवरूपी 'सौचीक' अग्नि हुए। उनके बाहर में सर्वत्र व्याप्त 'वैश्वानर' अग्नि के तीन रूप हैं (तु. वाक् के गुहानिहित तीन पद केवल मनुष्य में चतुर्थ पद की अभिव्यक्ति)। वे अदृश्य हैं, आहुति के पात्र से जो छलक कर गिर जाता है उसी में उनकी तुष्टि एवं पुष्टि है। अर्थात अनुष्ठित यज्ञ के नेपथ्य में भी एक विश्वयज्ञ हो रहा है। मूल में इसीलिए कहा गया है कि इस प्रकार छलक पड़ना दोष नहीं बल्कि यज्ञ की इसी थोड़ी त्रुटि से ही- यजमान तो 'वसीयान्' अथवा और भी ज्योतिर्मय हो उठता है। वेदी के पूरब की ओर कोई परिधि की ज़रूरत नहीं होती है क्योंकि पूरब की दिशा ज्योति की श्रीवृद्धि-समृद्धि की दिशा है, और आर्ष 'ज्योतिरग्र' हैं। परिधि नम, आर्द्र (ओदी, गीली) लकड़ी की होनी चाहिए। पलाश की हो तो उत्तम, नहीं तो अन्य यज्ञिय वृक्षों की लकड़ी होने पर भी उसका उपयोग किया जा सकता है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार, 'गीली लकड़ी में प्राण है, तेज है, वीर्य है; इसलिए परिधि के लिए गीली लकड़ी ही ज़रूरी (१।३।३।१९, २०, ४।१)। [4] 'भूपति, भुवनपति एवं भूतानांपति', अग्नि के तीन बड़े भाई हैं जो क्रमानुसार पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक के अधिपति हैं। संहिता में जो कुछ हो रहा है उसे 'भुवन' कहा गया है; व्याहृति की दृष्टि से 'भुवः' लोक की दृष्टि से अन्तरिक्ष अथवा प्राणभूमि है। हिरण्यगर्भ ऋक् संहिता में 'भूतस्य पतिर् एकः' वे विश्वभुवन के पूर्व थे (१०।१२१।१), प्रजापति के रूप में वे ही विश्व के परिभू (१०) हैं जिनकी आभा सर्वत्र परिव्याप्त है। प्राचीन लोक की दृष्टि से उनका धाम द्युलोक है क्योंकि वे सभी देवताओं के अधीश्वर एकदेव हैं (८)। तत्त्व की दृष्टि से अग्नि के तीन भाई क्रमशः जड़, शक्ति और चैतन्य — संहिता की भाषा में वन (काठ, लकड़ी) या वृक्ष, भुवन एवं अधिष्ठाता अथवा धर्ता (तु. ऋ. १०।८१।४ सांख्य की परिभाषा के अनुसार ये तत्त्व

कहा, मेरे पहले जो तीनों अग्नि होता का कार्य सम्पन्न करने के लिए आपस में मिल गए, उनको मुझे लौटा दो।' तब देवताओं ने परिधि के आकार में उन तीनों अग्नियों को लौटा दिया। अग्नि ने कहा 'वषट्कार वज्र है, ये सब उस वषट्कार से ही टूट गए थे। मैं उससे बहुत डरता हूँ। परिधि रूपी अग्नि द्वारा मुझे घेर दो, तो वज्र कुछ भी नहीं कर पाएगा।'[2] देवताओं ने वही किया।[2]

ब्राह्मण ग्रन्थों की कहानियों से रूपक का आवरण हटा लेने पर संक्षेप में उनका तात्पर्य इस प्रकार है:—

अनादिकाल से समस्त ब्रह्माण्ड में देवासुर का एक अविराम संघर्ष जारी है। उसमें देवता जयी होंगे, यह विश्व का शाश्वत विधान है। इन देवताओं के मध्य भी अग्नि हैं— वे परमव्योम के नित्य अग्नि हैं, सब में अनुस्यूत वैश्वानर अग्नि हैं। किन्तु स्वरूपतः वे न हव्यवाहन हैं, न देवता और मनुष्य के बीच दूत हैं। उनके हव्यवहन और दौत्य की तब जरूरत होती है जब देवासुर संग्राम मनुष्य के भीतर छिड़ जाता है। अग्नि मनुष्य के भीतर भी निश्चय ही हैं— किन्तु नेपथ्य में विश्वचक्र के ऋतच्छन्द आवर्तन में विश्व के विचित्र प्राणप्रवाह में, जीव के प्रत्येक आधार में प्रसुप्त नाड़ी तंत्र में हैं [१४०५]। तब वे हव्यवाहन नहीं, क्योंकि मनुष्य उस समय भी यज्ञ में प्रवृत्त नहीं हुआ और देवयानी अभीप्सा की शिखा तब भी उसके भीतर प्रज्वलित नहीं हुई थी किन्तु एक दिन उसका संकेत मिलने पर देवताओं ने उसकी मर्त्य कामना में ही दिव्य अभीप्सा की जानकारी प्राप्त कर ली। इस अभीप्सा का

'महत्' और सौचीक 'अहम्' हैं। लक्षणीय, वा. माध्यन्दिन संहिता का पाठ 'भुवपतये' २।२। वहाँ परिधियाँ अग्नि के वही तीन भाई क्रमशः विश्वावसु, इन्द्र और मित्रावरुण हैं; अर्थात् जीव के भीतर जो अग्नि है वह आनन्त्य की चेतना द्वारा 'आवृत' है।

[१४०४] द्र. श. १।२।३।१-२। ऋक् संहिता अथवा शौनक संहिता में 'एकत' का उल्लेख नहीं है, किन्तु यजुः संहिताओं में है। ऋक् संहिता में 'द्वित' एवं 'त्रित' इन दोनों का ही नाम पाया जाता है। त्रित 'दिव्य' (तु. ऋ. ५।७।५, ४।१।४, ६।४४।२३...); 'द्वित' ५।१८।२, ८।४७।१६ फिर त्रित आप्त्य एक ऋषि भी हैं (२।११।१९, २०...; द्र. टी. १२३२), दशम मण्डल के आरम्भ में भावगर्भ आग्नेय उपमण्डल के द्रष्टा त्रित आप्त्य ही हैं। विशेष द्र. 'त्रित'।[1] श. ब्रा. १।३।२।१३-१७।[2] **वषट्कार** द्र. टी. ११४४। यह ब्राह्मण में बहुस्तुत। अध्यात्म दृष्टि से वषट्कार 'प्राण' श. ४।२।१।२९, 'प्राणापान' ऐ. ३।८, 'वाक्' 'ओजः' एवं 'सहः' ऐ. ३।८; अधिदैवत दृष्टि से 'सूर्य' ऐ. ३।४८, श. १।७।२।११, ११।२।२।५, 'देवेषु' (देववाण) ता. ८।१।२, वज्र ऐ. ३।६, ८ श. १।३।३।१४, शा. ३।५...। तु. ऐतरेय ब्राह्मण में उसका अनुमंत्रण: 'बृहता मन उपह्वये व्यानेन शरीरं, प्रतिष्ठासि प्रतिष्ठां गच्छ प्रतिष्ठां मा गमय' — 'बृहत की चेतना द्वारा तुम्हारे मन को और प्राणापान की सन्धि जिसे व्यान कहते हैं उसके द्वारा तुम्हारे शरीर को पास बुलाता हूँ; तुम प्रतिष्ठा हो, प्रतिष्ठित होओ, मुझे प्रतिष्ठित करो' (३।८)। संक्षेप में वषट्कार मंत्र का वह प्राण है जो वज्र की तरह सारी बाधा को दूर करके सूर्य में पहुँचता है। यहाँ समस्या यह है कि हम सब के भीतर अभीप्सा की तीव्रता के बावजूद आग जलती नहीं; लगता है वह तीव्रता ही प्रतिक्रिया के रूप में अवसाद लेकर आती है। साधना की प्रारम्भिक अवस्था में यह प्रायः ही होता है। ब्राह्मण की सन्ध्याभाषा में यही है वषट्कार में पूर्वज अग्नियों का पराजित पलायित होना या मौलिक स्वरूप खो बैठना। उस समय धैर्यपूर्वक स्वयं को अपने अन्तर में समेट लेना होगा, तभी आग जलेगी।[2] बृहद्देवता की विवृति इस प्रकार है: वषट्कार में अग्नियों के विकृत हो जाने पर अग्नि ने ऋतु में, अप में एवं वनस्पति में (अध्यात्म दृष्टि से नाड़ीतंत्र में) प्रवेश किया। तब अग्नि सर्वत्र अवस्थित हैं किन्तु 'गूढोत्मा न प्रकाशते' उस समय असुरों का प्रादुर्भाव हुआ। देवताओं ने उनका वध करके अग्नि को खोजने लगे। जब उन्हें खोज कर प्राप्त करने पर वर दिया। उस समय अग्नि ने होत्र कर्म

आविष्करण एक लोकोत्तर ईक्षण का कार्य है। इसलिए गुहाहित अग्नि को आविष्कृत करते हैं वैवस्वत मृत्यु के देवता यम अथवा शून्य के देवता वरुण, जिन के भीतर एक दिन सूचित एवं समिद्ध अग्नि का अवसान होगा। किन्तु यहाँ फिर एक संकट उपस्थित होता है। मनुष्य की जो चेतना इतने दिन अनुभूतिशून्य थी, सुप्त थी, वह संभवतः आज अतिरिक्त उत्साह की हठकारिता के साथ जाग उठती है। तब उसके वषट्कार में वज्रशक्ति बेलगाम या उद्दण्ड होकर शून्य में मिल जाती है और देवता के सौम्य प्रसाद को यहाँ उतार कर नहीं ले आ सकती है। संहिता में इसे 'अतिख्याति' कहा गया है, आधुनिक मर्मज्ञ कहते हैं, 'अधिक काटकर जल जाना'।[1] यह नौबत जिससे न आने पाए, उसके लिए ही अभीप्सा के चारों ओर दिव्य चेतना का एक परिवेश रचना पड़ता है जो उसकी जिस प्रकार अदिव्य शक्ति के अपघात से रक्षा करती है उसी प्रकार अपने को भी अधीर दुराग्रह के अनृत या असत्य से बचाती है। तभी आधार के सौचीक अग्नि वैश्वानर रूप में उद्दीप्त होकर साधना को अच्छी तरह चरितार्थ कर सकते हैं।

अब ब्राह्मण के संकेत के आलोक में संहिता में उपस्थापित सौचीक अग्नि के रहस्य का अनुध्यान किया जाए। पूर्व की परिकल्पना के अनुसार पहले सप्ति वाजम्भर के प्रथम सूक्त से शुरू करते हैं। इसमें हम ऋषि की अग्नि एषणा का दीप्तवर्ण परिचय पाते हैं। सप्ति कहते हैं—

'मर्त्य जनों में जो अमर्त्य है— मैंने इस महान की महिमा को देखा। दोनों ओर के उनके दो जबड़े खुले हैं— वे एक हो जाते हैं; बिना चबाए गपागप ढेर-सा निगलते जा रहे हैं [1406]।'— सब के भीतर जो मृत्युतरण अमृत शिखा हैं, वे मेरे भीतर जाग उठे एक दुर्दम्य क्षुधा के साथ। वे अन्नाद हैं, अरूपान्तरित कामनाओं का तन उनका अन्न है।[1] वे अनायास उसे अविराम अक्लांत खाए जा रहे हैं, लगता है उनकी तृप्ति नहीं। मैं निर्वाक होकर उनकी इस महिमा को देख रहा हूँ।

आरम्भ किया— 'भ्रातृभिः सहितः प्रीतो दिव्यात्मा हव्यवाहनः।' वह अग्नि केवल होता ही नहीं बल्कि वे यज्ञ के उपकरण भी हैं, वे सर्वमय हैं (7|62-65)।

[1405] तु. बृहद्देवता, 'स प्रविवेशापक्रम्य ऋतून् अपो वनस्पतीन् 7|64। अग्नि के साथ ऋतु का सम्बन्ध द्र. ऋ. 10|2|1-5; अप् एवं वनस्पति का सम्बन्ध प्रसिद्ध है। यहाँ द्युलोक, अन्तरिक्ष एवं पृथिवी की ध्वनि है। अग्नि सूर्यरूप में ऋतुपति हैं। तु. 'मा नो अति ख्य आ गहि', तुम्हारी दृष्टि कहीं हमारा अतिक्रम न कर जाए, पास आओ 1|4|3, 'मा नो गव्येभिर् अश्व्यैः सहस्रेभिर् अति ख्यतम्', अन्ति षद् भूतु वाम् अवः 8|73|15। प्रति तु. 'आदित्या अव हि ख्यत 8|47|11। एक में देवता की दृष्टि सब का अतिक्रम करके ऊपर चली जाती है, तब वे पहुँच के बाहर होते हैं और दूसरी नीचे उतर आती है। साधक जीवन पहली दृष्टि के परिणाम स्वरूप 'अधिक कटने पर जल जाता है', चेतना ऊपर की ओर जाकर लौट नहीं सकती। ल. √ख्या; देखना; व्यक्त करना अथवा 'दिखाना' दोनों ही।

[1406] अपश्यम् अस्य महतो महित्वम् अमर्त्यस्य मर्त्यासु विक्षु, नाना हनू विभृते सं भरेते असिन्वती बप्सती भूर्य् अत्तः 10|79|1। 'असिन्वती' <√सि 'बाँधना' दोनों जबड़े आपस में बँध नहीं रहे हैं अर्थात् एक नहीं हो रहे हैं, तु. असिन्वन् दंष्ट्रैः पितुर् अत्ति भोजनम् 2|13|4। 1 दावानल का वर्णन द्रष्टव्य : वृषभस्येव ते रवः आद् इन्वसि वनिनो धूमकेतुना... अध स्वनाद् उत भिग्युः पतत्रिणः 1|94|10-11।

'गुहा में निहित है उनका मस्तक, दूर-दूर पर दोनों चक्षु, बिना चबाए खाते जा रहे हैं जीभ से सारा वन। कितना अन्न इनके निकट पाँव-पाँव चलकर वे सब वहन करके लाते हैं — हाथ उठाए (शीश) नवाए, जन साधारण के मध्य (जो जागे हैं) [१४०७]।' — केवल मेरे भीतर ही नहीं, बल्कि उनको देखता हूँ सब के भीतर। वे वैश्वानर हैं, द्युलोक की अनुत्तुङ्गता में खो गया उनका मस्तक, सूर्य और चन्द्र रूप में प्रज्वलित हैं उनके दोनों चक्षु।[१] वन-वन में फैल जाती हैं उनकी लपटें; उनका दहन तो विराम हीन है, सर्वग्रासी क्षुधा की तृप्ति नहीं। हम सब में जो उस दावानल में जाग जाते हैं, वे और स्थिर नहीं रह सकते वे चलते हुए आगे बढ़ते जाते हैं उनकी ओर प्राण की उद्यति और हृदय की प्रणति के साथ अपना सब कुछ क्षुधा के अन्न रूप में उनके भीतर उँड़ेल देते हैं।

और भी दूर मां के गोपन (पद) खोजते-खोजते शिशु की तरह अग्रसर हुए जो विपुल रूप में पनपे, बढ़े हैं उनके ऊपर से। (जाने किसने) स्वप्न की तरह पाया उनको — (अथच) परिपक्व और कान्तिमान हैं वे, लेहन कर रहे थे पृथिवी की गोद में [१४०८]।' — शिशु जिस प्रकार मां की गोद से उचक-उचक कर मां के स्तन को टटोलता है उसी प्रकार अदिति का यह दुर्द्धर्ष बेटा मेरे आधार में आच्छादित कामना के वन को जलाकर अपने उत्स को ढूंढ़ निकालने के लिए परमव्योम की अथाह गहराई में लहक उठा। फिर वहाँ से अलख का दूत होकर वह यहां वापस आ गया। उस समय किसी-किसी ने क्षणमात्र दिखने वाली विद्युल्लेखा की तरह उसको इस मर्त्य आधार की गहराई में सन्दीप्त — अर्थात रस के परिपाक में पूर्णता की द्युति से भास्वर देखा है।

[१४०७] ऋ. गुहा शिरो निहितम् ऋधग् अक्षी असिन्वन् अत्ति जिह्वया वनानि, अत्राण्य अस्मै पड्भिः सं भरन्त्य् उत्तानहस्ता नमसाधि विक्षु १०।७९।२। 'उत्तानहस्ताः' जिन्होंने आहुति देने के लिए स्रुक् को ऊँचे उठा रखा है, तु. उद्यतस्रुक् १।३१।५। [१] तु. वैश्वानर का वर्णन छा. ५।१८।२

[१४०८] ऋ. प्र मातुः प्रतरं गुह्यम् इच्छन् कुमारो न वीरुधः सर्पद् उर्वीः, ससं न पक्वम् अविदच्छुचन्तं रिरिह्वांसं रिप उपस्थे अन्तः १०।७९।३। अग्नि की माता अदिति हैं, उनका 'प्रतरं गुह्यं [पदम्]' परमव्योम की शून्यता है — जहाँ अग्नि का जन्म होता है; तु. अग्निं पदे परमे तस्थिवांसम् १।७२।४, प्र यत् पितुः परमान् नीयते १४१।४, स जायमानः परमे व्योमनि ६।८।२(७।५।७)...। अग्निशिखा यहाँ से वहाँ मिल जाती है, फिर वहाँ से यहाँ लौट आती है — समाधि में एवं व्युत्थान में। 'वीरुध' टी. मूल १४२०। 'सस' द्र. टी. १३५६[६]। 'सस' को यहाँ अन्न के अर्थ में लेने पर वह उपनिषद की परिभाषा के अनुसार 'जड़' का बोधक होगा; स्मरणीय ऋक् संहिता की प्रसिद्ध उपमा 'आमासु ... पक्व ... पयः' अर्थात् गाय में दूध की तरह हमारे अपरिपक्व मर्त्य आधार में निहित परिपक्व अमृत चेतना जिसे दुहकर बाहर लाना होगा (१।६२।९, १।८०।२, २।४०।२, ३।३०।१४, ४।३।९, ६।१७।६, ४४।२४, ७२।४, ८।३२।२५, ८९।७, १०।१०६।११)। यहाँ पक्व सस की तरह पक्व 'यव' १।६६।३, 'वृक्ष' ४।२०।५, ७।५७।५३, 'शाखा' १।८।८, 'फल' ३।४५।४, 'ओदन' ८।७७।६ 'पृक्ष' ४।४३।५, ५।७३।८। सर्वत्र सिद्धि के परिपाक की ध्वनि है। अन्न के अर्थ में किसी-किसी ने 'यव' समझा है १।६६।३। तो फिर सब मिलाकर तात्पर्य होगा — आधार की अपरिपक्व आग जो अलख के स्पर्श से परिपक्व हो गई। यास्क की व्याख्या मान लेने पर 'अविदत्' का कर्त्ता अग्नि नहीं, कोई ऋषि है — जैसे 'त्रित' (Geldner तु. इमं त्रितो भूर्य् अविन्दद् इच्छन् वैभूवसो (विभूवस का पुत्र) मूर्धन्य् अघ्न्यायाः

१८५

'तुम्हारे उस ऋत को, हे द्यावा पृथिवी; मैं बतला देता हूँ; जन्मते ही
शिशु ने माता-पिता को खा लिया। मैं मर्त्य हूँ, देवताओं के बारे में
कोई जानकारी नहीं, अग्नि ही सूक्ष्म रूप में जानते हैं, वे ही जानते हैं
सब [१४०८]।' — देवयजन की भूमि पर अरणिमंथन से जिनको
जन्मते देख रहा हूँ, वस्तुत: वे विश्वव्यापी हैं। द्युलोक और भूलोक से
प्रत्याहृत होकर ही यज्ञवेदी में उनका आविर्भाव होता है किन्तु जिन
का सहारा लेकर वे उतरते हैं वे फिर तब नहीं रहते — अपने आपको
देवताओं के भीतर खो देते हैं। आधार की अरणियाँ तब अग्निमय हो जाती हैं व
उस अग्नि का परिणाम वारुणी शून्यता में। यही विश्व का शाश्वत विधान
है, देवताओं की अपरूप अद्भुत लीला है। मैं मर्त्य मानव हूँ, उनके रहस्य
को न तो समझता हूँ, न तो कुछ जानता हूँ; वे ही सब जानते हैं और
सूक्ष्म रूप में जानते हैं।

'जो इनके लिए अन्न का आधान करता है क्षिप्र गति से, ज्योतिर्मय
आज्य द्वारा इनका होम करता है, इन्हें पुष्ट करता है, उसके लिए वे सहस्राक्ष
विचक्षण होते हैं। हे अग्नि, चारों ओर सामने तुम ही तो हो [१४१०]।' —
देवता का आकुल आह्वान जब मनुष्य के हृदय में पहुँचता है तब उसकी
विह्वलता असह्य हो उठती है और वह व्याकुल होकर ही उसका उत्तर देता
है। अपना सब कुछ उस अन्नाद के निकट वह अन्न रूप में रख देता है,
देवता के स्पर्श से उसकी आहुति की सामग्री ज्योतिर्दहन में जल उठती
है। उसी से उनकी पुष्टि होती है और तमिस्रा के आवरण को हटाकर
उसके भीतर उनका सुदीप्त आविर्भाव होता है। उस समय उसकी चेतना
के रन्ध्र-रन्ध्र में उनके सहस्र चक्षुओं की विद्युत कौंध जाती है।
विश्वतश्चक्षु की उस दृष्टि की आभा पूरे विश्व में फैल जाती है।
और भावावेश के उन क्षणों में मनुष्य के कंठ से फूट पड़ता है —
'दिशा-दिशा में हर ओर तुमको ही देख रहा हूँ, हे मेरे तपोदेवता!
और यह तो मेरा देखना नहीं बल्कि यह तो तुमको तुम्हारा ही देखना है।'

'देवताओं के निकट क्या भूल की है उसने क्या अन्याय किया है हे अग्नि,
मुझे पता नहीं इसलिए यह अब मेरी जिज्ञासा है। वे खेलते नहीं (फिर)
खेलते भी हैं हिरण्मय या सुवर्णमय होकर; वे खाएँगे इसलिए ही खा रहे
हैं; पोर-पोर टुकड़े-टुकड़े कर दिया जैसे गाय को खड्ग करता है
[१४११]।' — किन्तु आधार में यह कैसा रुद्रदहन तुम्हारे आवेश में हे देवता!

(धेनु रूपिणी वाक् की मूर्धा में अर्थात परमव्योम में, तु. ८|१०१|५, १|१६४|४१) १०|४६|३|
[१४०८] ऋ. तद् वाम् ऋतं रोदसी प्र ब्रवीमि जायमानो मातरा गर्भो अत्ति, नाहं देवस्य
मर्त्यश् चिकेताग्निर् अंग विचेता: स प्रचेता: १०|७९|४| द्र. टीमू. १३२० | लक्षणीय,
मर्त्यमानव यहाँ 'नचिकेता:', और अग्नि 'विचेता: एवं प्रचेता:; 'विचित्ति' विशेष
का ज्ञान अथवा विवेक, और 'प्रचित्ति' उत्तम ज्ञान (तु. उपनिषद् के विज्ञान एवं प्रज्ञान)।
[१४१०] ऋ. यो अस्मा अन्नं तृष्व आदधात्य् आज्यैर् घृतैर् जुहोति पुष्यति, तस्मै
सहस्रम् अक्षभिर् वि चक्षे ऽग्ने विश्वत: प्रत्यङ्ङ् असि त्वम् १०|७९|५| 'अन्न' आहुति
की साधारण सामग्री है, विशेष सामग्री है 'आज्य' एवं 'घृत'। ऐब्रा. आज्यं वै
देवानां सुरभि (योग्यं प्रियम् इत्य् अर्थ: सा.) घृतं मनुष्याणाम् १|३ तत्र सा. 'आज्य-
घृतयोर् भेद: पूर्वाचार्यैर् उदाहृत: — सर्पिर् विलीनम् आज्यं स्याद् घनीभूतं घृतं विदु:।'
ज्वलनयोग्यता का तारतम्य द्रष्टव्य। 'आज्य' (< अञ्ज् लेपन, प्रकाश करना (ज्योति की
अभिव्यक्ति का साक्षात् साधन।
[१४११] ऋ. किं देवेषु त्यज एनश् चकर्थाग्ने पृच्छामि नु त्वाम् अविद्वान्, अक्रीळन्

मेरा प्रमाद अथवा अपराध कहाँ मैं तो वह जानता नहीं – नहीं तो तुमको जिसने सब कुछ दिया है उसको इस तरह जलना क्यों पड़ता है। श्वापद या बाघ जिस प्रकार शिकार के साथ खेलता है, एक बार छोड़ देता है फिर उसके ऊपर झपट पड़ता है, उसी प्रकार तुम मेरे साथ खेलते हो। मुझे तिल तिल ग्रस रहे हो, मुझे समाप्त किए बिना छोड़ोगे नहीं। तो फिर वही क्यों नहीं करते प्यारे ठाकुर; शमिता की तरह थोड़ा थोड़ा टुकड़ों में क्यों काट रहे हो?

'इधर-उधर छिटके अश्वों को जोता (इस) वनजन्मा ने, (किन्तु) ऋजुचालक ने लगाम द्वारा उनको पकड़ कर रखा। बाँट करके ले लिया है (इस) सुजात मित्र ने ज्योतिर्मय देवताओं के साथ (मेरी आहुति)। समृद्ध हुआ है पोर-पोर पर बढ़ते-बढ़ते [१४१२]।' मेरी कामनाओं के वन में

क्रीलन् हरिर् अत्तवे ऽदन् वि पर्वशश् चकर्त गाम इवासिः १०।७९।६। मूल में 'चकर्थ' है जिसका कर्ता अग्नि है। तो फिर इसका अनुवाद होगा, 'देवताओं के निकट क्या भूल क्या अन्याय तुमने किया है हे अग्नि' इत्यादि। किन्तु अग्नि के ऐसे किसी प्रमाद अथवा पाप का उल्लेख कहीं भी नहीं प्राप्त होता बल्कि एक जगह अग्नि को सम्बोधित करते हुए कहा जा रहा है, 'देव पासि त्यजसा मर्तम् अंहः' – 'हे देवता, मर्त्य की रक्षा करो तुम प्रमाद और क्लिष्टता से' ६।३।१ (भाषा का सादृश्य लक्षणीय है)। ब्राह्मण ग्रन्थ में देवताओं में एक इन्द्र को त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप की हत्या करने के बाद ब्रह्महत्या के अपराध में अपराधी ठहराया गया है (तैत्तिरीय संहिता १।६।३।१ ... यह ब्राह्मण भाग है; श. १।२।३।२, किन्तु यहाँ बतलाया जा रहा है कि देवता होने के कारण उन पर हत्या का पाप लगता नहीं)। तो फिर अग्नि देवताओं के निकट अपराधी किसलिए? सायण ने खाण्डवदहन का उल्लेख किया है: वह कालातिक्रमदुष्ट एवं अप्रासंगिक है। (Geldner) व्याख्या करते हैं– 'किस अपराध के लिए देवताओं ने तुमको यह सज़ा दी कि दाँतों के बिना इतने कष्ट के साथ तुम्हें खाना पड़ता है?' तृतीय पाद का 'अदन्' उनके विचार से 'दन्तहीन'। किन्तु यह कष्टकल्पना है। इसके अतिरिक्त अन्यत्र हम पाते हैं कि अग्नि 'चरति जिह्वया अदन्' (१०।४।४; तु. अत्ति जिह्वया वनानि ७।१२): Geldner ने वहाँ 'खाना' अर्थ ही किया है। यहाँ 'चकर्थ' की जगह 'चकार' करने पर भ्रम दूर हो जाता है (लक्षणीय, सायण ने चतुर्थ पाद में 'चकर्त' को किया है 'चकर्थ', व्याख्या में 'करोषि')। 'चकार' का कर्ता प्रश्नकर्ता ऋषि स्वयं है। देवता के निकट मनुष्य के अपराध का उल्लेख संहिता में अनेक स्थानों पर है। 'हरिः' हरितवर्ण कोई श्वापद या हिंस्र पशु। प्रकरण से वही जान पड़ता है हालांकि संहिता में 'हरि' अश्व को ही समझा जाता है। श्री अरविन्द बतलाते हैं a tawny lion। सिंह ऋक् संहिता में बहुत ही परिचित, उसके साथ अग्नि की तुलना भी है (द्र. टी. १।३०८[२])। १ 'गाम इवासिः' गां यथा असिः स्वधितिः पर्वशश् छिनत्ति तद्वत् (सायण)। 'शमिता' यज्ञ में पशुवध करते हैं, उसके बाद आहुति के लिए उसे टुकड़ों में काटते हैं (तु १।१६२।८, १८; द्र. आपस्तम्ब श्रौत सूत्र ७।२२।५, ७ टीका)। यहाँ क्या अश्वमेध की तरह ही गोमेध का प्रसंग है?

[१४१२] ऋ. विषूचो अश्वान् युयुजे वनेजा ऋजीतिभी रशनाभिर् गृभीतान्, चक्षदे मित्रो वसुभिः सुजातः सम् आनृधे पर्वभिर् वावृधानः १०।७९।७। 'विषूचः' <विषु (हर ओर) + अञ्च् 'चलना'। कठोपनिषद् में इन्द्रियों की तुलना अनेक दिशाओं में धावमान अश्व के साथ की गई है, विज्ञान अथवा बुद्धि या विवेक मन की लगाम पकड़कर उनको वश में रखता है (१।३।३–६)। **ऋजीति** — [< ऋजु + √ई 'चलना', सायण] ऋजुगामिनी, जिसप्रकार 'आहुति' ऋ. १०।२१।२, 'सिन्धु नदी' ७५।७; 'वाण'

आग जलाकर ये जो देवता जागे हैं, चारों ओर उनकी लाल; श्वेत और श्यामल शिखाएँ फैल गईं। किन्तु इस देह-रथ के वे सुनिपुण सारथी हैं उनको समेट कर द्युलोक की ओर एक ऋजुधारा में प्रवाहित किया। तब अव्यक्त के गुहाशयन से आविर्भूत ये तपोदेवता सुसमिद्ध मूर्धन्य चेतना में मित्रज्योति के रूप में उद्भासित हुए।[2] विश्वदेवों की ज्योति से छलक उठा मेरा आकाश, उनको नन्दित किया उन्होंने मेरी आत्माहुति की सोम्य सुधा से। मेरी उत्सर्ग भावना के पोर-पोर में संचीयमान उनके उल्लास ने वाजम्भर महिमा से उनको समृद्ध किया।

सप्ति वाजम्भर की इस सौचीक प्रशस्ति द्वारा मूल नाटिका की प्रस्तावना रचित हुई। उसके बाद तीन सूक्तों में नाट्य-कथा संभवत: उनकी ही रचना है। लगता है प्रत्येक सूक्त — एक-एक दृश्य को आँखों के सामने उभारता जा रहा है। इस नाटिका के पात्र अग्नि, वरुण, देवगण हैं और एक किनारे ऋषि स्वयं खड़े हैं। प्रथम सूक्त में जैसे रंगमंच के प्रथम दृश्य का परदा उठा। भागे हुए अग्नि को देवताओं ने खोज कर पा लिया है; यही तो हैं वे। उसके बाद देवताओं के पुरोधा।

वरुण

विराट वह गर्भाशय (और उसी प्रकार) था वह स्थूल — जिसमें आवेष्टित होकर प्रवेश किया है तुमने अप के भीतर। तुम्हारी सारी देह (तनु) को देख लिया है हे अग्नि — नाना रूप में (देखा उनको) हे जातवेदा, उस एक देव ने [१४१३]।

अग्नि

किसने मुझे देखा? कौन है वह देवता जिसने मेरे नाना प्रकार के तनु को बार-बार देखा? कहाँ, अहो (बताओ न) हे मित्र-वरुण अग्नि की वे सब देवयानी समिधाएँ जारा करती हैं [१४१४]?

६।७५।१२। यहाँ अन्तर्भावितार्थ है, 'जो सीधी राह पर ले जाए'। 'पर्वभि:' — इसके पूर्व के 'पर्वश:' से सम्बन्धित है। आधार के पोर-पोर में अग्नि का अनुप्रवेश एवं उसका 'वसु' अथवा ज्योति में रूपान्तर — जिस प्रकार इन्धन आग हो जाता है। अग्नि में प्रदत्त आहुति के द्वारा 'वसु' अथवा देवगण भी आप्यायित हुए। उस समय आप्यायित चित्शक्ति समूह के पुंज रूप में अग्नि 'मित्र' अथवा व्यक्त ज्योति के आनन्त्य हैं। 'मित्र' शब्द श्लिष्ट: पूर्व के ऋक् में वे अमित्र थे — जब निष्ठुर दहन में मुझे जलाकर मार रहे थे। किन्तु उसी ज्वाला का ही परिणाम है, शुद्धि और ऋद्धि का ('समानृधे') आनन्द। अग्नि का पोर-पोर में बढ़ते जाना तु. यज्ञ के सप्तधाम ९।१०२।२, पृथिवी से द्युलोक तक विष्णु के सप्तधाम १।२२।१६, अग्नि के सप्तधाम ४।७।५।[1] यह द्रविणोदा अग्नि का काम है, जिनको एक स्थान पर 'द्रविता' कहा गया है (तु. ६।१२।३, द्र. टी. १३७६[2])। तु. छा. ८।६।६ हृदय से एक नाड़ी का मूर्धा की ओर जाना; और भी तु. ऋ. ४।५८।५, टी. १२७३[6], लक्षणीय- सूक्त के देवता अग्नि हैं। [2] अग्नि और मित्र अभिन्न द्र. टीमू. १३५०। परिकीर्ण अथवा बिखरी फैली किरणों के एकत्रीकरण में उनका आविर्भाव, तु. ई. १६।

[१४१३] ऋ. महत् तद् उल्बं स्थविरं तद् आसीद् येनाविष्टित: प्रविवेशिथाप:, विश्वा अपश्यद् बहुधा ते अग्ने जातवेदस् तन्वो देव एक: १०।५१।१। 'उल्ब' भ्रूण का प्रावरण, (झिल्ली) तु. गीता. ३।३८। वही वेदान्त का 'कोश' है, तैत्तिरीय उपनिषद में जिसकी विवृति आभासित (२।१-५)। उसे महत् कहा गया है क्योंकि यह केवल व्यक्तिगत नहीं बल्कि विश्वगत एक तत्व है। यहाँ जैसा वर्णन नासदीय सूक्त में है: अप्रकेत, अस्पष्ट कारण सलिल की अथाह

वरुण

हम चाहते हैं तुम्हें हे जातवेदा अग्नि, तुम तो अनेक रूपों में प्रवेश करके स्थित हो अप् में और ओषधि में। वही तुम्हारा संकेत प्राप्त किया था यम ने हे चित्रभानु, जब दश अन्तर्वास स्थानों से खूब झलमला रहे थे [१४१५]।

अग्नि

होता के काम के भय से हे वरुण, मैं चला आया — मुझे इस काम में न लगा दें देवगण। इस कारण ही तो अनेक रूपों में मेरा तनु निविष्ट हुआ (सर्वत्र)। लक्ष्य यह है, इसका तो पता मुझे अग्नि रूप में नहीं मिला [१४१६]।

वरुण

आओ तुम! मनु चाहता है देवता को, वह यज्ञ करना चाहता है। सारा आयोजन किया है उसने (और) तुम अँधेरे में छिपे हो, हे अग्नि! देवयान के जितने मार्ग हैं, सुगम करो, प्रसन्नता पूर्वक हव्य वहन करो [१४१७]।

गहराई में तपोशक्तिरूप में छिपकर अवस्थित हैं और सब को ढँके हुए है एक अन्धतमिस्रा अथवा महाशून्यता ऋ. १०।१२९।३। 'देव एकः' यम, टी. १२८१।

[१४१४] ऋ. 'को मा ददर्श कतमः स देवो मे तन्वो बहुधा पर्यपश्यत्, क्वाह मित्रा-वरुणा क्षियन्त्य् अग्नेर् विश्वाः समिधो देवयानीः १०।५१।२। द्र. टी. १३१६, १३८१। समिधः सन्दीप्त अग्नितनु। अग्नि विश्वभुवन में सर्वत्र चित् और तपःशक्ति रूप में अनुप्रविष्ट (तु. क. २।२।९), अतएव सब तनु ही अग्नितनु हैं एवं उनकी गति परमदेवता की आदित्यद्युति के सम्मुख है।

[१४१५] ऋ. ऐच्छाम त्वा बहुधा जातवेदः प्रविष्टम् अग्ने अप्स्व् ओषधीषु, तं त्वा यमो अचिकेच् चित्रभानो दशान्तरुष्याद् अतिरोचमानम् १०।५१।३। गुहाहित अग्नि जिस प्रकार अव्यक्त हैं उसी प्रकार विनाश के देवता यम भी अव्यक्त हैं। अव्यक्त का दर्शन अव्यक्त द्वारा ही सम्भव — पराक् वृत्ति से नहीं बल्कि आन्तर वृत्ति से। 'अप्सु ओषधीषु' — अप् से अग्नि ओषधि में संहत, प्राण से प्राणवाहिनी नाड़ी में अथवा अकाय से निकाय में। 'दशान्तरुष्यात्' द्र. टी. १२८४। 'अतिरोचमानम्' — सारे आवरण हटाकर उनके अङ्गुष्ठमात्र रवितुल्य रूप का दर्शन (तु. श्वे. ५।८)।

[१४१६] होत्राद् अहं वरुण बिभ्यद् आयं नेद् एव मा युनजन्न् अत्र देवाः, तस्य मे तन्वो बहुधा निविष्टा एतम् अर्थं न चिकेताहम् अग्निः १०।५१।४। कठोपनिषद् के 'नचिकेता' नाम का अर्थ यहाँ प्राप्त होता है। यज्ञ का अथवा जीवन का लक्ष्य है देवता का सायुज्य प्राप्त करके देवता होना। किन्तु अचित्ति द्वारा आच्छन्न चेतना में यह लक्ष्य पहले अपने आप स्वयं जाग्रत नहीं होता बल्कि देवता की ही प्रेषणा, प्रेरणा अथवा अनुप्राणना से जागता है। तब भी एक द्विधा, एक भय रहता है कि मुझे क्या मिलेगा, क्या मैं समर्थ हो सकूँगा! भीतर आग रहने पर भी यजमान इस अवस्था में 'नचिकेता'। किन्तु कठोपनिषद् का नचिकेता श्रद्धाविष्ट किशोर, हालांकि वह कृपणता से आक्रान्त वाजश्रवा का ही आत्मज है। ठीक यही भाव तु. १०।८९।४।

[१४१७] ऋ. एहि मनुर् देवयुर् यज्ञकामो ऽरंकृत्या तमसि क्षेष्य् अग्ने, सुगान् पथः कृणुहि देवयानान् वह हव्यानि सुमनस्यमानः १०।५१।५। किन्तु देवता देखते हैं, मनुष्य के भीतर जाग रहा है 'मनु' अथवा वैवस्वत मन, जो ज्योतिपिपासी है, देवता का सायुज्यकामी है। 'यज्ञ' अथवा आलोसर्ग उसका साधन है। गुहाहित अग्नि के प्रति वरुण का 'एहि' कहकर आह्वान — लगता है सभी मनुष्यों के प्रति 'अतल जल का आह्वान' है। 'अरंकरण' चक्र की नाभि या केन्द्र में अर् अथवा शलाकाओं की तरह बिखरी वृत्तियों को एकाग्र करना, केन्द्रित करना, जो धी, अथवा ध्यान चिन्तता का लक्षण है। तु. सोम का अरंकरण ९।२।१। 'सुमनस्यमानः' — सौमनस्य अथवा चित्त की प्रसन्नता, निर्मलता योग के अनुकूल है

अग्नि

अग्नि के पहले के भाइयों ने इस लक्ष्य को ही एक के बाद एक वरण कर लिया था— रथी जिस प्रकार रास्ता (चुन लेता है) उसी प्रकार। ... इसी से तो मैं भय से हे वरुण, दूर चला आया, धानुर्द्वर के धनुष की प्रत्यंचा से श्वेतमृग की तरह आतंकित हो गया [१४१८]।

देवगण

तुम्हारी आयु को हम जरारहित करते हैं जब हे अग्नि, जिससे उपयोग में आए, हे जातवेदा, तुम्हारा अनिष्ट न हो तब तुम प्रसन्न मन से वहन क्यों नहीं करोगे देवताओं के निकट हवि का भाग, हे सुजात [१४१९]?

अग्नि

(किन्तु) प्रयाज और अनुयाज मुझको ही केवल तुम सब दो— जो सम्भवतः हवि का ऊर्जस्वी भाग है। और दो, अप की ज्योति और ओषधियों का पुरुष अथवा प्रधान भाग। इसके अलावा अग्नि की आयु दीर्घ हो हे देवगण [१४२०]।

गीता २।६४-६५), और दौर्मनस्य योगविघ्न है (योग सूत्र १।३१)।

[१४१८] ऋ. अग्नेः पूर्वे भ्रातरो अर्थम् एतं रथी-वाध्वानम् अन्व् आवरीवुः, तस्माद् भिया वरुण दूरम् आयं गौरो न क्षेप्नोर् अविजे ज्यायाः १०।५१।६ पहले के वे सब अग्नि अतिरिक्त उत्साह के फलस्वरूप देवयान-मार्ग पर चलते समय वषट्कार की वज्रशक्ति से टूट गए थे — इसकी चर्चा पहले ही कर चुके हैं। तस्मात् अर्थ का विशेषण भी हो सकता है। ज्या' धनुष की प्रत्यंचा, डोरी जिससे तीर चलाए जाते हैं। यहाँ निक्षिप्त बाण — फेंका हुआ तीर।

[१४१९] ऋ. कुर्मस् त आयुर् अजरं यद् अग्ने यथा युक्तो जातवेदो न रिष्याः, अथा वहासि सुमनस्यमानो भागं देवेभ्यो हविषः सुजात १०।५१।७। अभीप्सा की अग्नि एक बार यदि भलीभाँति प्रज्वलित हो जाए तो फिर उसे बुझने न देना ही साधना का लक्ष्य होगा। यह सुजात प्रसन्न अग्नि ही जातवेदा है जिनका सख्य समस्त पापों, अपराधों से बचाकर हम सब को निरंजन, निर्विकार सर्वलिभाव में उत्तीर्ण करता है (द्र. १।९४ सूक्त टीम् १३५३, टी. १३१६८)।

[१४२०] ऋ. प्रयाजान् मे अनुयाजांश् केवलान् ऊर्जस्वन्तं हविषो दत्त भागम्; घृतं चापां पुरुषं चौषधीनाम् अग्नेश् च दीर्घम् आयुर् अस्तु देवाः १०।५१।८। प्रयाज— आहुति विशेष, प्रधान आहुति के पहले देनी पड़ती है। पशुबन्ध याग में ग्यारह प्रयाज (दर्शपूर्णमास में पाँच, चातुर्मास्य में नौ इत्यादि), उनके देवता आप्रीदेवगण ही हैं ('आप्रीदेवगण' द्र.)। अनुयाज भी आहुति विशेष, प्रधान आहुति के पहले देनी पड़ती है। पशुयाग में ग्यारह अनुयाज, जिनके देवता हैं क्रमशः 'देवीर् द्वारः, उषसानक्ता, * देवी जोष्ट्री, * देवी ऊर्जाहुती, दैव्या होतारा, तिस्रो देवीः बर्हिः, नराशंसः, वनस्पतिः, * बर्हिर् वारितीनाम् * अग्निः स्विष्टकृत'। तारकाचिह्नित देवताओं को छोड़कर और सभी प्रयाज के भी देवता हैं। इसके साथ उपयाज नाम से और भी ग्यारह आहुति देनी पड़ती है, देवता क्रमानुसार इस प्रकार हैं— 'समुद्रः, अन्तरिक्षम्, देवः सविता, मित्रावरुणौ, अहोरात्रे छन्दांसि, द्यावापृथिवी, यज्ञः, सोमः, दिव्यं नभः, अग्निर् वैश्वानरः'। मंत्र सब एक प्रकार के, जैसे 'समुद्रं गच्छ स्वाहा' इत्यादि। ऐ.ब्रा. के मतानुसार सोमपायी तैंतीस देवताओं के अलावा ये फिर तैंतीस असोमपायी देवता ('एते असोमपाः पशुभाजनाः' २।१८)। प्रयाज और अनुयाज के देवताओं का स्वरूप क्या है उसके बारे में

देवगण

प्रयाज और अनुयाज तुम्हारा ही केवल हो- हवि का जो ऊर्जस्वी भाग है। इस यज्ञ का सब कुछ तुम्हारा ही हो हे अग्नि। तुम को प्रणाम करें (पृथिवी की) चारों दिशाएँ [१४२१]।

प्रथम दृश्य यहाँ समाप्त हुआ। गुहाहित अग्नि को देवताओं ने खोज निकाला और उनको देवकाम मनुष्य की उत्सर्ग साधना में हव्य वाहन रूप में नियुक्त किया। यज्ञ के आरम्भ में और अन्त में अग्नि का अधिष्ठान उसे मर्त्य यजमान के दिव्य रूपान्तर की साधन शक्ति से समृद्ध कर देता है। अब दूसरे सूक्त में द्वितीय दृश्य की प्रस्तुति इस प्रकार है- प्रथम दृश्य के सभी इस दृश्य में भी हैं, किन्तु इस बार केवल अग्नि ही कभी देवताओं के प्रति अथवा कभी स्वगत रूप में बात करते हैं। जो महत्वपूर्ण दायित्व उनको दिया गया है, वे उसका निर्वाह कैसे करेंगे, अब वही उनके चिन्तन-मनन की भूमिका है। सूक्त के अन्त में एक मंत्र में संभवतः सारी घटनाओं के एक निष्कर्ष की तरह ऋषि की नेपथ्योक्ति है। इस बार

अग्नि

हे विश्वदेव गण, उपदेश दो मुझे तुम सब - किस प्रकार से इस (यज्ञ में) होता रूप में नियुक्त होकर मनन करूंगा मैं, (और) जो (मनन करूंगा)- निषण्ण अथवा आसीन होकर। तुम सब का अपना-अपना जो भाग है, मुझे बतला दो, (और) जिस मार्ग द्वारा तुम सब के निकट हव्य वहन करके ले जाऊँगा, वह भी बतला दो [१४२२]।

मतभेद है। यास्क ब्राह्मण ग्रन्थों से अनेक मतों का उल्लेख करते हुए अन्त में निर्धारित करते हैं कि वस्तुतः अग्नि ही इनके देवता हैं (नि. ८।२१.२२)। लक्षणीय प्रयाज के आरम्भ में देवता 'समिद्ध अग्नि' हैं और अनुयाज के अन्त में 'स्विष्टकृत (जिन्होंने भलीभांति यज्ञ निष्पन्न किया है) अग्नि'। अतएव इस क्षेत्र में अग्नि ही यज्ञ के अथवा आत्माहुति के आदि और अन्त में व्याप्त हैं, यह भावना सहज ही उभरती है। वाजसनेयी माध्यन्दिन संहिता में अनुयाज के प्रथम देवता बर्हिः इत्यादि (२१।४८-५८, २८।३५-४५)। उपयाज देवता द्र. तैस. १।३।११ 'केवलान्' - जो और किसी को न देकर केवल अग्नि को ही देना होगा। इससे यास्क का सिद्धान्त ही समर्थित होता है। हवि का 'ऊर्जस्वान भाग', वही जिसके भीतर है। ऊर्ज अथवा चेतना को मोड़ देने की शक्ति। अग्नि ही आधार के रूपान्तर साधक हैं; यजमान के हिरण्यशरीर के निर्माता हैं (ऐब्रा. २।१४)। 'अपां घृतम् ओषधीनां पुरुषम्' अग्नि दिये हैं अप् में एवं ओषधियों में अर्थात विश्वप्राण एवं नाड़ी तंत्र में। अप् का सार 'घृत' (दीमू. १३०८) अर्थात वह तरल पदार्थ जो अग्नि के संस्पर्श में आने पर अग्निमय हो जाता है; और ओषधि का सार है पुरुष (छा. १।१।२), क्योंकि स्थूलदृष्टि से भी पुरुष का शरीर अन्नरूपी ओषधि का परिणाम है। इस वाक्यांश का तात्पर्य है कि अग्नि यदि जरा रहित होते हैं और उनके द्वारा अधिष्ठित यज्ञ या साधना यदि आदि से अन्त तक अग्निमय हो तो फिर प्राण ज्योतिर्मय होगा एवं नाड़ीतंत्र में वैश्वानर पुरुष का आविर्भाव होगा। दुर्ग 'पुरुष' को बतलाते हैं पुरोडाश (नि. ८।२२)। द्र. सायण। लगता है यहाँ पुरुष में 'पुरीष' की ध्वनि है जिसका अर्थ है ज्योतिर्वाष्प नीहारिका। द्र. 'पुरीष' आगे चलकर [१४२१] ऋ. तव प्रयाजा अनुयाजाश्च केवल ऊर्जस्वन्तो हविषः सन्तु भागाः, तवाग्ने यज्ञो अयम् अस्तु सर्वस् तुभ्यं नमन्तां प्रदिशश् चतस्रः १०।५१।८। यज्ञ की प्रधान आहुति से सम्बन्धित प्रयाज और अनुयाज यदि केवल अग्नि का है तो कहना पड़ेगा कि समस्त यज्ञ ही अग्नि का हुआ। तब अग्नि और यज्ञ एक। ल. आप्री देवगण के स्वरूप विवेचन में

मैं होता रूप में याजकवर होकर आसीन हुआ। मुझे प्रचोदित, प्रेरित करते हैं विश्वदेवगण और मरुद्गण। प्रति दिन, हे अश्विद्वय, अध्वर्यु का कार्य तुम दोनों का ही है। ब्रह्मा समिन्धनकारी है। वह आहुति तुम दोनों के लिए ही है, (हे अश्विद्वय) [१४२३]।

(सोचता हूँ) यह जो होता है, क्या (होता है) वह यम का? (स्वयं को) वह क्या मानता है, जब (उसको) सम्यक् व्यक्त करते हैं देवगण? प्रतिदिन वह जन्म लेता है; (जन्म लेता है) प्रति मास। उसी से देवताओं ने स्थापित किया है (उसको) हव्यवाहन रूप में [१४२४]।

कात्थक्य उनको 'यज्ञ' बतलाते हैं, शाकपूणि 'अग्नि' (नि. ८।५...) एक की दृष्टि अधियज्ञ है और दूसरे की अधिदैवत। 'केवल' पदपाठ 'केवले' असाधारण: (सा.)
[१४२२] ऋ. विश्वे देवा: शास्तन मा यथे.ह होता वृतो मनवै यन् निषद्य, प्र मे ब्रूत भागधेयं यथा वो येन पथा हव्यम् आ वो वहानि १०।५२।१। अग्नि अधूमक ज्योति के रूप में मनुष्य के 'मध्य आत्मनि तिष्ठति' (तु. क. २।१।१२-१३)। उनसे सम्बन्धित आदित्यरश्मि रूप विश्वदेव (श. ३।९।२।६) अथवा विश्वचैतन्य का परिवेश। हमारी अभीप्सा को प्रेरणा देता है वही परिवेश— प्रतिबोध या प्रबोध (के. २।४) अथवा प्रातिभ संवित रूप में। अग्नि यहाँ विश्व-चैतन्य का अनुशासन चाहते हैं। अध्यात्म दृष्टि से विश्वदेवगण विश्वगुरु और अग्नि चैतन्यगुरु हैं। 'वृत:'— अग्नि मनुष्य के भीतर ही हैं तब भी वे देवगण के वरण की अपेक्षा करते हैं (तु. यम् एवै.ष वृणुते तेन लभ्य: क. १।२।२३)। 'मनवै'— [√मन् (उ) + ऐ] तु. अग्नि **मनोता**: 'त्वं शुक्रस्य वचसो मनोता' ऋ. २।९।४, त्वं ह्य् अग्ने प्रथमो मनोताऽस्या धियो अभवो दस्म (तिमिरनाशन) होता (६।१।१; यहाँ 'धी' = यज्ञ अर्थात यज्ञ वस्तुत: मानस याग है)। सोम भी 'धिया मनोता प्रथमो मनीषी' ९।९१।१ (< मन् + √वा 'वयन करना') + तृ; तु. यस्मिन् देवानां मनांस्य् ओतानि प्रोतानि स: तथा च ब्राह्मणं— 'तस्मिंश्च तेषां मनांस्य् ओतानि' ऐ. २।१० सायण)। 'निषद्य'— तु. निषत्ति: ऋ. ४।२१।८; मध्ये निषत्त: १।६९।२; ३।६।४, ६।९।४ आध्यात्मिक दृष्टि से आवेश का बोध होता है। 'पथा'— देवयान का मार्ग, जिससे होकर सोम की धारा ऊपर की ओर प्रवाहित होती है। तु. ९।१५।२ द्र. टी. १२५६)।

[१४२३] ऋ. अहं होता न्य् असीदं यजीयान् विश्वे देवा मरुतो मा जुनन्ति, अहरहर् अश्विना.ध्वर्यवं वां ब्रह्मा समिद् भवति सा.हुतिर् वाम् १०।५२।२। विश्व देवता की प्रेरणा सीधी अग्नि के भीतर स्फुरित हुई, उनका आत्मप्रत्यय जागा। और अध्वर गति में कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी, क्योंकि विश्व के ऋत अथवा शाश्वत विधान के मार्ग पर वह विश्वचैतन्य के आवेश एवं विश्वप्राण की प्रेरणा से अग्रसर होगी। इस देवयश का समिन्धन वाक् अथवा मंत्रचैतन्य के अधीश्वर बृहस्पति करते हैं। उससे अध्वर्यु रूप में दिन पर दिन सोम्य आनन्द की आहुति उड़ेलते हैं अश्विद्वय, जो अन्धतमिस्रा या गहरे घने अँधेरे के कुहर या गर्त से अदृश्य आलोकरश्मि के घोड़े आदित्य की माध्यन्दिन द्युति की ओर दौड़ाते चलते हैं। अश्विद्वय का आध्वर्यव, तु. तैस. ६।२।१०।१, ऋ. १।१०९।४; अचित्ति के या अविवेक के अँधेरे में वे ही चिन्मय प्राण के प्रथम स्पन्दन हैं, विश्व के ज्योतिष्टोम के शरीर को थोड़ा थोड़ा करके वे ही गढ़ते हैं (तु. १०।७१।११, द्र. सायण)। 'ब्रह्मा' बृहस्पति (तु. ब्रह्म वरण के बाद ब्रह्मा का जप :- 'बृहस्पतिर् देवानां ब्रह्मा.हं मनुष्याणाम्' कात्यायन श्रौ. २।१।१८) अथवा — ब्रह्मणस्पति (द्र. ऋ. १०।५३।९)। 'समित्' अग्नीध् (HILLEBRANDT), ऋक् संहिता में 'अग्निमिन्ध' (१।१६२।५); सायण का कथन— 'समिद्धश् चन्द्रमा' एवं 'सा' को 'स:' करके कहा है 'सोमात्मको हि चन्द्रमा हूयते' इत्यादि। बृहस्पति अथवा बृहत् की चेतना की प्रेषणा से आग जल रही है एवं प्राणचेतना रूप में अश्विद्वय उसमें आहुति देते जा रहे हैं (उनका अश्व ओज:शक्ति का प्रतीक १०।७३।१०)।
[१४२४] ऋ. अयं यो होता किर् उ स यमस्य कम् अप्य् ऊहे यत् समंजन्ति देवा:, अहरहर्

मुझे देवताओं ने स्थापित किया है हव्यवाहन के रूप में (मैं तो) खो गया था (उसके बाद) बहुत कष्टकर स्थिति के भीतर से गुज़र रहा हूँ। (वे कहते हैं) अग्नि जानते हैं (सब), हमारे यज्ञ को वे रचें गढ़ें — (जिस यज्ञ के) पाँच पदक्षेप हैं, तीन आवर्तन, सात तन्तु हैं [१४२५]।

(वह मैं करूँगा। किन्तु संभवत:) तुम लोगों के निकट मैं चाहता हूँ अमृतत्व (और) सुवीर्य जिससे तुम सब के लिए हे देवगण, रच सकूँ वैपुल्य। मैं इन्द्र की दोनों बाहों में वज्र दे दूँगा, जिससे वे समस्त शत्रुओं की सेनाओं को पराजित कर सकें। — [१४२६]।

जायते मासिमास्य् अथा देवा दधिरे हव्यवाहम् १०।५२।३। स्वयं को लेकर यह अग्नि के मन में अपने विचार। एक ओर मृत्यु के देवता यम हैं जिनमें सब कुछ का प्रलय। और एक ओर अमृत के पुत्र ये देवगण हैं जिन्होंने अन्धतमिस्रा की गहराई से सौचीक अग्नि को ढूँढ निकाला है। इन दोनों के साथ अग्नि का क्या सम्बन्ध है? वे क्या दोनों के बीच आर-पार जाने के सेतु हैं — जो एक बार अव्यक्त से व्यक्त में, फिर व्यक्त से अव्यक्त आवर्तित होकर गतिमान हैं? प्रतिदिन अग्निहोत्र में उनका देव-सम्बन्ध और प्रतिमास में पितृयज्ञ में उनका यम-सम्बन्ध है। एक में अग्निज्योति का परिणाम सूर्य में और एक में चन्द्रमा में। चन्द्रमा की पूर्णता राका में। किन्तु उसके अवक्षय का चरम कुहू में। अग्नि उसके भी भीतर यदि जागते रहें तो वे वैवस्वत यम के सम्मुख खड़े होते हैं। वही पुनर्मृत्युतरण अमृतत्व है। मनुष्य के भीतर उसकी अभीप्सा विद्यमान है। उसके लिए ही उसका यज्ञ, अग्नि का प्रतिदिन हव्यवहन। अत्र सायण: 'अग्नि: प्रतिदिनम् अग्निहोत्रार्थं प्रादुर्भवति, तथा प्रतिमासं जायते पितृयज्ञार्थम्। एतत् कालद्वयम् उपलक्षणं पक्ष-चातुर्मास-अयनास-संवत्सरादीनाम्। अपरे पुनर् एवम् आहु:, अहरह सूर्यात्मना जायते, मासिमासि चन्द्रात्मनेति।'

[१४२५] ऋ. मां देवा दधिरे हव्यवाहम् अपम्लुक्तं बहु कृच्छ्रा चरन्तम्, अग्निर् विद्वान् यज्ञं न: कल्पयाति पंचयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम् १०।५२।४। गुहाहित अग्नि के आविष्करण और आदित्याभिसारिणी अभीप्सा के उद्बोधन में हमारी साधना का आरम्भ। किन्तु उषा के उजाला फूटने जैसी वह साधना तो अनायास नहीं। जड़ता की गाँठ खोलना और गुहाग्रन्थि का विकिरण दीर्घकाल की निरन्तर कृच्छ्र तपस्या से ही सम्भव। पाथेय विश्वदेवता का प्रसाद एवं जीवन के मर्म के मूल में उनके इस सत्य संकल्प का प्रवेग, आवेग:— मनुष्य के भीतर प्रज्ञा के प्रकाश का उन्मेष हो, उसकी उत्सर्गभावना सार्थक रूप धारण करे, दिन-रात त्रिसन्ध्या में आवर्तित होकर वह संवत्सर व्यापी ऋतु परम्परा के नृत्यछन्द में अग्रसर हो, पृथिवी से द्युलोक में प्रसारित आदित्य के सप्तधाम के सोपान पार करके आगे बढ़ती जाए।... यज्ञों में श्रेष्ठ है सोमयाग जो अमृतत्व एवं देवात्मभाव का साधन है (८।४८।३, ९।११३।६-११)। उसमें सुबह, दोपहर एवं शाम तीन सवन, इसलिए यज्ञ त्रिवृत। गवामयन एक संवत्सरव्यापी सोमयाग अथवा सत्र जिसके यजमानगण ही ऋत्विक्। संवत्सर में पाँच ऋतुएँ, प्रत्येक ऋतु आदित्य का एक पाद, इसलिए आदित्य 'पंचपाद' (१।१६४।१२) एवं यज्ञ आदित्य रूप में (तु. शब्रा. १४।१।१।६) यज्ञ भी पंचपाद। 'सप्ततन्तु' सायण के कथनानुसार सात छन्द। ऋक् संहिता के यज्ञ सूक्त में (१०।१३०) यज्ञ को 'तन्तुभिस् तत:' कहा गया है (१-२), एवं उसके बाद ही सात छन्दों का उल्लेख है। किन्तु इस प्रसंग में द्रष्टव्य. यज्ञ के सप्तधाम (९।१०२।२) एवं अग्नि के (४।७।५) और विष्णु के भी (१।२२।१६)।

[१४२६] ऋ. आ वो यक्ष्य् अमृतत्वं सुवीरं यथा वो देवा वरिव: कराणि, आ बाह्वोर् वज्रम् इन्द्रस्य धेयाम् अथेमा विश्वा: पृतना जयाति १०।५२।५। यदि अभीप्सा की शिखा जरारहित एवं अमर हो, आधार में यदि वीर्य जागे, तो अधृष्य ओजस्विता द्वारा वृत्र की समस्त बाधा निर्जित करके चेतना के वैपुल्य की साधना सम्भव होगी। बाधा अन्तरिक्ष लोक की है इसलिए इन्द्र के हाथों में वज्र देने की बात हो रही है। अविद्या का मेघ

ऋषि

तीन हजार तीन सौ उनतालीस देवताओं ने (उस समय) अग्नि की परिचर्या की ; उन्होंने (उसमें) घृतसिंचन किया, उनके लिए बर्हि बिछा दिया, उसके बाद होता को निषण्ण किया [१४२७]।

देवयज्ञ आरम्भ हुआ। विश्वदेवगण उसके यजमान हैं, और होता अग्नि हैं। ऐसे ही एक और देवयज्ञ का उल्लेख पुरुष सूक्त में किया गया है। वह यज्ञ विसृष्टि है, आत्माहुति में अतिष्ठाः पुरुष का सहस्र तनु धारण करके उतर आना। उतर आने के बाद फिर उठ जाना, जिसका परिचय मर्त्य की अमृत पिपासा में मिलता है। उपनिषद में उसे विपरीत क्रम में विसृष्टि की अतिसृष्टि कहा गया है। यह देवयज्ञ वही है जिसका होता सौचीकाग्नि को नियुक्त किया गया है और जिसका परिणाम 'देवताति' अथवा मनुष्य का देवता हो जाना है [१४२८]।

यहाँ जो कुछ होता है, उसका मूल वहाँ है। देवयज्ञ को आदर्श मानकर ही मनुष्य-यज्ञ का प्रवर्तन हुआ है; मनुष्य देवता को चाहता है इसलिए कि पहले देवताने ही मनुष्य को चाहा है। उसी चाहत का रूपक है देवताओं का गुहाहित अग्नि को ढूँढ निकालना और मनुष्य के हव्य वहन के कार्य में उनको नियुक्त करना। द्वितीय दृश्य में हमने उसका रूपायन देखा है। इस बार तृतीय दृश्य में देवयज्ञ मनुष्य के भीतर यज्ञ की प्रेरणा जगाता है। इस बार पात्र ऋत्विक्-गण एवं अग्नि हैं [१४२९]। आरम्भ में —

ऋत्विक्-गण

जिन्हें हमने मन ही मन चाहा था, यही तो वे आए। यज्ञ के ज्ञाता हैं वे, उसके सभी पर्वों की जानकारी रखते हैं। वे ही याजकवर हम सब की ओर से देवताति भाव के लिए यजन करें, हमारे सम्मुख अन्तरंग होकर जब आसन ग्रहण करें [१४३०]।

छूट जाने से ही आदित्य की ज्योति में चिदाकाश भास्वर हो उठेगा। 'सुवीर' सुवीर्य (गुण में द्रव्य का आरोप; सायण 'सुपुत्र' अग्नि के बारे में उपयुक्त है क्या? Geldner कहते हैं यह शब्द यदि कर्मधारय हो, तो तृतीयपाद के इन्द्र का बोधक है। 'सुवीर्य' की प्रार्थना भी ऋक्संहिता में अनेक है, सुवीर उसका ही यथार्थ रूपायन है)। 'वरिवः' √वृ- 'छाना, फैलना' वैपुल्य, (द्र. टीमू. ११३४...)। उसका विलोम है 'अंहः' अथवा चेतना की सिकुड़न।

[१४२७] ऋ. त्रीणि शता त्री सहस्राण्य् अग्निं त्रिंशच् च देवा नव चा सपर्यन्, औक्षन् घृतैर् अस्तृणन् बर्हिर् अस्मा आद् इद् धोतारं न्य् असादयन्त १०।५२।६ = ३।९।९ द्र. टीमू. १२८९[३]। 'बर्हिः' कुश, रहस्यार्थ द्र. 'बर्हि' आप्रीदेवगण।

[१४२८] तु. बृ. सैषा ब्रह्मणो अतिसृष्टिर् यच् छ्रेयसो देवान् असृजत, अथ यन् मर्त्यः सन् अमृतान् असृजत, तस्माद् अतिसृष्टिः १।४।६। 'देवताति' द्र. ऋ. १०।५३।१, टी. १३३९।

[१४२९] अनुक्रमणी में इस सूक्त के ऋषि देवगण, केवल ४-५ ऋक् के ऋषि अग्नि हैं। किन्तु देवयज्ञ का उल्लेख पूर्व के सूक्त में ही किया जा चुका है (द्र. ११४८)। अब उसके आदर्श के अनुसार मनुष्य यज्ञ का प्रवर्तन होगा। वर्तमान सूक्त में उसकी ही विवृति है। अतएव ४-५ ऋक् को छोड़कर सर्वत्र मनुष्य ऋत्विकों के ऋषि मान लेने से ही पूर्वापर सामंजस्य बैठता है एवं नाटिका की उपस्थापना भी सशक्त होती है।

[१४३०] ऋ. यम् ऐच्छाम मनसाऽयम् आगाद् यज्ञस्य विद्वान् परुषश् चिकित्वान्, स नो यक्षद् देवताता यजीयान् नि हि षत्सद् अन्तरः पूर्वो अस्मत् १०।५३।१। विश्वदेवता का

सांसिद्ध याजक श्रेष्ठ होता ने अपना आसन ग्रहण किया, जब उन्होंने सुव्यवस्थित सुन्दर विविध प्रकार की सामग्री की ओर देखा। हाँ, (इस बार किन्तु) यजन करेंगे हम यजनीय देवताओं का, उद्दीपित कर देंगे, जिनको उद्दीप्त करना होगा आज्य देकर [१४३१]।

उन्होंने निष्पन्न किया हम सब के देवतर्पण को आज; यज्ञ की निगूढ जिह्वा को हमने प्राप्त किया। वे आए प्राण का वस्त्र पहनकर सुरभि रूप में, सुभद्रा अथवा सौभाग्यशाली किया हमारी देवहूति को आज [१४३२]।

सायुज्य प्राप्त करने के लिए उद्विग्न हृदय में अभीप्सा की शिखा जागती है। उसके ही आलोक से आलोकित होता है देवयान का मार्ग, उसके दीर्घ प्रतनन के प्रत्येक पर्व या पोर को हम तब पहचान सकते हैं। इस सौचीक अग्नि की देशना अथवा निर्देश विना हमारी साधना कभी भी निष्पन्न नहीं हो सकती। हमारे हृदय की वेदी पर आज वे निषण्ण हैं, समासीन हैं। किन्तु, हम जब जागे नहीं थे तब भी वे गुहाचर रूप में हम सब के ही भीतर गहराई में थे। 'मनसा'— यज्ञ केवल क्रियासर्वस्व ही नहीं बल्कि धी अथवा प्रज्ञा उसका प्रेरक एवं नियामक है (द्र. टीमू. १२६१, तु. १०।५३।६)। वस्तुतः मन ही यजमान है (प्र. ४।४)। 'परुषः'— पर्वसमूह; जोड़, पोर। तु. ऋ. १०।५२।४। 'देवताता'=देवतातौ, लक्ष्यार्थ में सप्तमी। 'अन्तरः'— तु. मध्ये निषत्तः १।६७।४, द्र. टी. १२५६[२]; और भी तु. अन्यद् युस्माकम् अन्तरं बभूव १०।८२।७, टी. १२०३[१]। 'अन्तरः' ऋत्विजां यष्टव्यानां देवानां च मध्ये संचरन् (सायण)। 'पूर्वः' तु. ईलितो अग्ने मनसा नो अर्हन् देवान् यक्षि मानुषात् पूर्वो अद्य २।३।२, ५।३।५, 'अस्मत्तो देवेभ्यः पूर्वभावी सन्' (सा.)।

[१४३१] ऋ. अराधि होता निषदा यजीयान् अभि प्रयांसि सुधितानि हि ख्यत्, यजामहै यज्ञियान् हन्त देवाँ ईलामहा ईड्याँ आज्येन १०।५३।२ ना. उनको विना यज्ञ चल ही नहीं सकता। उनके न होने से विश्वदेवता को हम सब के निकट कौन बुला कर लाएगा। यह देखो वे आए, हम सब के अन्तर में आविष्ट हुए। फिर तो वे चले जाएँगे नहीं। उनके लिए प्रीतिकर विविधवर्णी सामग्री सजाकर रखा है। उन्होंने प्रसन्नता पूर्वक उनकी ओर देखा, वे धन्य हो गए। हृदय में आत्माहुति का जोश उभरा। इस बार हम और निश्चेष्ट नहीं रहेंगे। विश्व देवता को अपना सब कुछ देंगे, हृदयद्रावक अग्नि के स्रोत में उद्दीपित कर लेंगे उनको।... 'निषदा' द्र. टी. १४२२। 'नि' नीचे, गहरे। '**प्रयांसि**'— [निघ. अन्न २।७ < √प्री खुश करना, खुश होना; प्रेम-प्यार] प्यार से देवता को हम जो देते हैं एवं प्यार से वे जो ग्रहण करते हैं। सोम के साथ विशेष सम्बन्ध (तु. ऋ. ५।५१।५-७, एवं उसके बाद के तृच में ही 'आ याह्य अग्ने अत्रिवत् सुते रण' सब देवताओं के साथ); सोम 'प्रयस्वान्' प्रयसे हितः' ९।६६।२२ तु. (९।४६।३)। फिर सख्य अथवा मित्रता के साथ सम्पर्क तु. 'इन्द्रो ह यो वरुणा चक्र आपी (अपना; आत्मीय) देवौ मर्तः सख्याय प्रयस्वान्' ४।४१।२। 'अभिख्यत'— उन्होंने देखा एवं उसी से वे खिल उठे आह्लादित हुए अतएव उन्होंने ही उनको दृष्टि-सृष्टि की तरह विकसित किया, उजागर किया— यह अर्थ भी होता है।

[१४३२] ऋ. साध्वीम् अकर् देववीतिं नो अद्य यज्ञस्य जिह्वाम् अविदाम गुह्याम्, स आयुर् आगात् सुरभिर् वसानो भद्राम् अकर् देवहूतिं नो अद्य १०।५३।३— जो कुछ अपना था, वह सब विश्वदेवता के उपभोग के लिए सजा दिया है। हृदय की यज्ञवेदी में अग्निरसना द्वारा उन्होंने उसका आस्वादन किया। उनका संभोग-उपभोग ही हम सब का संभोग-उपभोग है उस एक ही अग्निरसना द्वारा उनका आस्वादन करना। ये तपोदेवता ही उस पारस्परिक आप्यायन के साधन हैं क्योंकि देवता और मनुष्य के बीच गुप्त रूप से उनका नित्य आना-जाना अनन्त काल से जारी है। किन्तु आज उनका वह आवरण या अन्तराल मिट गया। यह देखो, हमारे सामने आज वे हमारी आत्माहुति के सौरभ से

अग्नि

किन्तु आज वाक् का जो आदि है उसका ही मनन करूँ मैं, जिस के द्वारा हम सब देवगण असुरों को करेंगे पराजित। ऊर्जभोजी और यजनीय हे पंचजन, तुम सब मेरे होतृकर्म में होओ सुतृप्त [१४३३]

पंचजन मेरे होतृकर्म में हों सुतृप्त, (सुतृप्त हों) गोजात हैं (जो सब) एवं जो सब यजनीय हैं। पृथिवी हमें पार्थिव क्लिष्टता से बचाए, अन्तरिक्ष, द्युलोक की (क्लिष्टता) से बचाए हमें [१४३४]।

आनन्दित होकर जरारहित प्राण का ऐश्वर्य लेकर आविर्भूत हुए। उनके अनुग्रह से सार्थक हुआ हमारा देवतर्पण, सुमंगल हुआ उनका आवाहन।... **देववीतिम्** — [< देव + √वी 'संभोग या उपभोग करना; चलना'] देवानाम् आगमनवन्तं देवानां हविर्भक्षणोपेतं वा यज्ञम् (सायण); अन्यत्र 'देवानां वीतिर् यस्मिन् यागे न देववीतिः १।१२।८। तु. स्कन्द: 'देव-वीतये, गत्यर्थो अशनार्थो वा, देवान् प्रति गमनाय देवानां वा हविर्भक्षणाय १।१३।८ 'वीति' यजमान की भी हो तो फिर बोध होगा, यज्ञ अथवा आत्मोत्सर्ग के द्वारा देवता का उपभोग करना, उनका सायुज्य प्राप्त करना; तु. 'देवताति'। अधिकांश प्रयोग सोम के बारे में। यज्ञ अन्योन्यसम्भावन अथवा पारस्परिक आप्यायन है, तु. गीता ३।११। 'यज्ञस्य जिह्वाम्' — अग्निर् हि यज्ञस्य जिह्वा, तेन देवानां पानात् जिह्वात्वेनोपचार: (सायण)। तु. त्वाम् अग्न आदित्यास आस्यं त्वा जिह्वां शुचयश् चक्रिरे कवे २।१।१३। फिर अग्नि से ही आन्तर उद्दीपन, उससे वाक् अथवा मंत्र एवं उसके ही द्वारा देवता को पाना (द्र. टी. १४३४)। इस प्रकार अग्नि अर्थात् यज्ञ की जिह्वा। यह जिह्वा 'गुह्या' — जिस प्रकार हम सब के भीतर (तु. १०।७१।३; तिस पर 'गुहाचर'), उसी प्रकार परमव्योम में है। अग्नि 'आयुः' द्र. टी. १२०६[१]। **सुरभि:** [व्युत्पत्ति? < सु √रभ् 'धरना, पकड़ना', जिसे आसानी से पकड़ा जाए] तु. त्वम् अग्न ईळितो जातवेदा ऽवाड् (वहन किया) ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी (करके) १०।१५।१२; अग्नि के संस्पर्श से आहुत द्रव्य सुवासित होता है। यह उसका प्रथम विपरिणाम है; किन्तु आहुति यजमान की ही आत्माहुति है, अतएव यह सौरभ उसके देवसंस्पर्शजनित नवजीवन का सौरभ है; वह ही देवता का सहज एवं आदिम परिचय है, वे सुरभि हैं। 'सुरभि' सोम का विशेषण है ९।९७।१९, १०७।२; इन्द्र का १।१२६।८; वेन अथवा देवगन्धर्व का सुरभि वसन १०।१२३।७ (= इन्द्र ६।२९।३); अरण्यानी १०।१४६।६। अग्नि का 'अस्य सुगन्धि' ८।१९।२४; त्र्यम्बक रुद्र 'सुगन्धि' ७।५९।१२। तु. श्वे. प्रथम योगप्रवृत्ति का लक्षण 'शुभ गन्ध' २।१२। 'देवहूति', तु. १०।१८।३।

[१४३३] ऋ. तद् अद्य वाच: प्रथमं मसीय येनासुराँ अभि देवा असाम, ऊर्जाद उत यज्ञियास: पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम् १०।५३।४। अग्नि किसका मनन करेंगे, देवताओं से यह पृच्छा था (१०।५२।१)। उत्तर पाकर यहाँ कहते हैं तो फिर मैं आदि वाक् का मनन करूँगा। यह आदि वाक् 'गौरी' है — शुभ्र प्राणरूपिणी हैं, जो कारण सलिल को तराश करके अक्षर को विश्वरूप में क्षरित करती हैं (१।१६४।४१-४२)। उनके तीन पद गुहाहित हैं (४५) एवं ऋषियों के हृदय में प्रविष्ट हैं (१०।७१।३)। परमव्योम में इस परावाक् के दर्शन से ही अविद्या पूरी तरह दूर हो सकती है एवं वही मंत्रयोग की चरम सिद्धि है। यहाँ उसे देवताओं द्वारा असुरों का अभिभव कहा गया है (निन्दा के अर्थ में 'असुर' शब्द का व्यवहार लक्षणीय)। देवगण **ऊर्जाद** हैं अर्थात् हम सब की अन्तरावृत्ति की शक्ति उनका अन्न है, उससे ही उनका पोषण होता है: तु. 'तन्नद् अग्निर् वयो दधे यथायथा कृपण्यति, ऊर्जाहुतिर् वसूनां शं च योश् च मयो दधे विश्वस्यै देवहूत्यै' — अग्नि ने वैसा वैसा ही तारुण्य आधान किया है जो जैसा चाहते हैं, ऊर्ज की आहुति उनमें, जो सब ज्योतिर्मय हैं, उनके प्रति (उसी से) उन्होंने प्रशम, शक्ति और आनन्द देवता के प्रत्येक आवाहन में आधान किया है ८।३९।४। 'पञ्चजना:' देव-मनुष्यादय: (सायण)। देवता भी पंचजन अर्थात् 'विश्वेदेवा:' हैं तु. ६।५१।११, दिवी व पञ्चकृष्टय: १०।६०।४; द्र. टी. १२७४[३]। अग्नि की सहायता द्वारा मनुष्य यज्ञ आरम्भ हुआ।

[१४३४] ऋ. पञ्चजना मम होत्रं जुषन्तां गोजाता उत ये यज्ञियास:, पृथिवी न: पार्थिवात् पात्व् अंहसो ऽन्तरिक्षं दिव्यात् पात्व् अस्मान् १०।५३।५ (७।३५।१४, १०४।२३)। **गोजाता:**:

ब्रह्मा

तन्तु के वितनन में रजोभूमि की दीप्ति का अनुगमन करो तुम, ज्योतिष्मान (उन) मार्गों की रक्षा करो — ध्यान द्वारा रचित हैं जो। गाँठ न पड़ने पाए इस तरह बुनो गायकों का कर्म। मनु होओ तुम, जन्म दो दिव्य जन को [१४३५]।

और अक्षबन्धन को बाँधो हे सोम्यगण सुव्यवस्थित कर लो वल्गा, उसके बाद रंजित करो (अश्वों को)। आठ आसनों के रथ को हाँक दो इस ओर, जिससे देवगण (यह देखो) ले आए हमारे निकट प्रिय को [१४३६]।

तु. ...दिव्याः पार्थिवासो गोजाता अप्या मृळता च देवाः ६।५०।११ — द्युलोक, अन्तरिक्ष एवं पृथिवी के सारे देवता ही गोजात हैं। यह गो यदि पृश्नि हो तो फिर यह संज्ञा मरुद्गण का बोधक है (तु. १०।५२।२)। इसके अलावा सूर्य 'गोजाः' ४।४०।५, जो 'देवानाम्...अनीकं... आत्मा जगतस् तस्थुषश् च' १।११५।१), जिसके भीतर सब कुछ का समाहार है। 'गो' वही रश्मि है जो हम सब के भीतर अन्तर्गूढ़ अथवा अन्तर्निहित है (तु. १।२४।८); देवता उससे उत्पन्न अर्थात् आत्मचैतन्य के विस्फारण, प्रसारण में ही हम विश्वदेवता को पाते हैं। 'नः' यहाँ अग्नि की उक्ति है; अतएव देवता और यजमान एक। 'अंहः' चेतना का संकुचन है, उसके कारण अग्नि गुहाहित सौचीक। उस मुक्ति 'वरिवः' है १०।५२।५।

[१४३५] ऋ. तन्तुं तन्वन् रजसो भानुम् अन्व् इहि ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान्, अनुल्बणं वयत जोगुवाम् अपो मनुर् भव जनया दैव्यं जनम् १०।५३।६ मनुष्य यज्ञ के नियन्ता ब्रह्मा (तु. 'ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्याम्' १०।७१।११। यहाँ उनका वही ब्रह्मघोष सब को सतर्क सावधान करने के लिए है (तु. ब्रह्मप्रशस्ति छा. ४।१७)। ऋक् के तृतीय पाद में क्रिया बहुवचन में है, लक्ष्य अन्यान्य ऋत्विक्गण; और तीन पाद अग्नि को लक्ष्य करके। ऋत्विकों को विशुद्ध रूप में सामगान गाने के लिए (तु. छा. ४।१७।६)। सामगान सोमयाग का अंग है। अतएव यहाँ हम अग्निसोम की ध्वनि पाते हैं। ... भूलोक से द्युलोक तक आतत, मनुष्य यज्ञ तन्तु का एक दीर्घ वितान है (तु. १।१४२।१, १०।१३०।१-२; द्र. वेमी. प्रथम खण्ड टी. ११२६)। यह तन्तु देवयान का मार्ग है, उसके पोर पोर में ज्योति का छितराव। अग्नि दिग्दर्शक के रूप में इस मार्ग से हमें आदित्य में ले जाएँगे। यह मार्ग आदि से अन्त तक ध्यान द्वारा रचा गया है। उस ध्यान चेतना को हमारी अभीप्सा की आग जगाए रखती है। मनु मानव के आदि पिता एवं यज्ञ के प्रवर्तक (१।८०।१६, ११४।२, २।३३।१३, १।२६।४, १०।५१।५) — जो यज्ञ मनुष्य के हृदय में देवता को जन्म देकर उसके देवात्म भाव को सिद्ध करता है। यह मनु अग्नि का ही एक रूप है। फिर अन्तस्थ अग्नि ही मनुष्य के मुख में उस वाक् या वाणी के रूप में व्यक्त होते हैं, जिस वाक् का चरम परिणाम साम में हुआ। साम में सोमयाग की प्रतिष्ठा। सोमयाग अमृतत्व का साधन है और, अग्नि उसके साधक। वे ही हमें सौम्य आनन्द के तट पर लिए जा रहे हैं। ... 'रजसो भानुम्' — 'रजः' अन्तरिक्ष अथवा प्राणलोक, उसके 'भानु' या आलोक अथवा ज्योति सूर्य है (सायण)। आदित्य में पहुँचना ही अग्निसाधना का पुरुषार्थ है। अनुल्बणम् — [व्युत्पत्ति ? < √वृ 'वेष्टने' तु. 'उल्ब' १०।५१।१, तैस. 'यद् एव यज्ञे उल्बणं क्रियते तस्यै वैषा शान्तिः' ३।४।३।८, तत्र सायण — 'विधिम् अतिक्रम्यानुष्ठितम् अंगम् उल्बणम्'] निर्दोष रूप में, विघ्न-बाधा से मुक्त। 'जोगुवाम्' गु 'शब्दे' तु. १।६१।१४। 'मनुर् भव...' तु. १।४५।१, सारे देवता 'मनुजात', द्र. टी. १२८१[२]; और भी तु. ८।३०।२; फिर मनु ही यज्ञ तु. 'यज्ञो मनुः प्रमतिर् नः पिता हि कम्' १०।१००।५।

[१४३६] ऋ. अक्षानहो नह्यतनोत सोम्या इष्कृणुध्वं रशना ओत पिंशत, अष्टावन्धुरं वहताभितो रथं येन देवासो अनयन्न् अभि प्रियम् १०।५३।७। यज्ञ आरम्भ हुआ। उसे रथ के साथ उपमित किया गया है (तु. ऐब्रा. 'देवरथो वा एष यद् यज्ञः' २।३७;

अश्मन्वती का प्रवाह तीव्र गति से प्रवाहित है। स्वयं को अटल, स्थिर रखो। पार होकर आगे बढ़ चलो हे साथियो। जो कुछ अशिव, अमंगल है, यहाँ ही छोड़ जाएँगे, शिवमय, मंगलमय ओजस्विता के तट पर जा पहुँचेंगे [१४३७]।

और भी तुलनीय १०।१०१ सूक्त, १०।८७।७। रथ में रथी देवता हैं और सारथी हैं ऋत्विकगण। हमारी आत्माहुति की साधना ही देवता को उनकी विचित्र विभूति के साथ यहाँ ले आती है।… 'अक्षनहः' अक्षदण्ड को पहियों के साथ अच्छी तरह बाँधने का सामान ('अक्षेषु नह्यान् बन्धनीयान् अश्वान्'—सायण)। **सोम्याः**— जो सोमपान के अधिकारी, अमृतत्व के साधक हैं। ऋत्विकों का विशेषण— तु॰ इच्छन्ति त्वा सोम्यासः सखायः सुन्वन्ति सोमं दधति प्रयांसि (३।३०।१, देवता को सोमपान करा कर जो हविःशेष रूप में उनका प्रसाद प्राप्त करेंगे), १।३१।१६, ४।१७।१७, (चमस) प्रियो देवानाम् उत सोम्यानाम् १०।१६।८…। सायण-'सोमार्हा देवाः'। **इष् कृणुध्वम्**—[< इस् = निस् (पा॰ ६।१।७ महाभाष्य; 'निष्कुरुत, सम्यक् संस्कुरुत, नकार लोपश्छान्दसः' सायण; तु॰ 'यज्ञनिष्कृतः' ऋ॰ १०।६६।८; और भी तु॰ १०।१०१।२, ६, इष्कृतिर् नाम वो माता थो यूयं स्थ निष्कृतीः, सीराः पतत्रिणीः स्थन यद् आमयति निष्कृथ १०।९७।९…] सजा लो, सुव्यवस्थित करलो। 'रशना'-तु॰ १०।७९।७। **पिंशत**—[<√ पिश् 'रञ्जित करना, चित्रित करना' तु॰ 'अयं दीपनायामपि : त्वष्टा रूपाणि पिंशतु'. सिद्धान्त कौमुदी १५३०; तु॰ Lat. *Pinctum || Pictum < Pingere 'to paint ; to embraider' < Pei(g)— *Pi(g)—to adorn, deck'; GK. poikilos 'gay'; और भी तुलनीय पिङ्गल] रञ्जित करो ('अश्वान् अलंकुरुतेत्यर्थः' सायण)। ऋत्विकगण ध्यान द्वारा सूर्यमण्डल में पहुँच गए हैं। वहाँ से देवताओं को लेकर देवरथ मर्त्य की यज्ञभूमि में आ रहा है। सूर्य की रश्मियों के व्यूहन या संघटन द्वारा रथ चलाया जा रहा है (तु॰ ई॰ १६)। उसी रश्मि में अश्व झलमला रहे हैं। सा॰ 'सूर्यरथेन साकं युष्मदीयान् (उनके मतानुसार देवताओं का) रथान् यज्ञं प्रति गमयतेत्यर्थः'। **'अष्टावन्धुरं'**— 'बन्धुर' रथ के आसन। रथ में आठ देवताओं के बैठने का आसन है। आठ उपलक्षण मात्र है, वस्तुतः सभी देवताओं को ही वहन करके लाया जा रहा है। सभी देवता स्वरूपतः आदित्य हैं। सात जन आदित्य प्रधान १।११४।२, २।२७।१ (द्र॰ टी॰ १२८३[१], १३७६)। और देवमाता अदिति को लेकर रथ में आठ देवता हैं (तु॰ ६।५१।३-४ 'विश्वे आदित्या अदिते सजोषाः' ५, ८।४७।९, ४।५५।७…)। अदिति सूक्त के अन्तिम ऋक् का 'योषा'। 'अभि प्रियम्'— बीच में 'अस्मान्' अनुमेय। प्रिय वही परम देवता जो ज्योतिःस्वरूप हैं, जिनको हम सब चाहते हैं (तु॰ १।८६।१०, टी॰ १२२१[१०]; ४।२०।८

[१४३७] अश्मन्वती रीयते सं रभध्वम् उत् तिष्ठत प्र तरता सखायः, अत्रा जहाम ये असन्न् अशेवाः शिवान् वयम् उत् तरेमाभि वाजान् १०।५३।८।… देवताओं के उतरने का वर्णन इस पूर्व के ऋक् में है। यहाँ मनुष्य के ऊपर उठ जाने का वर्णन है। दोनों बातें ही एक साथ चल हैं। तब भी पहले देवता का आवेश, उसके बाद उनकी ही प्रेषणा या प्रेरणा द्वारा मनुष्य का प्रयास; यहाँ आपाततः क्रमभंग का कारण यही है। उसी वाजम्भर सत्य के तट पर उत्तीर्ण होना होगा। किन्तु पथ में अनेक बाधा। उससे विचलित होने से काम नहीं चलेगा। जो कुछ अशिव, अमंगल है, उसे यहाँ छोड़कर धैर्य-स्थैर्य के साथ आगे बढ़ जाना होगा।… <u>अश्मन्वती</u>— पहाड़ी नदी, जिसके भीतर पत्थर बिखरे हैं; पानी अधिक नहीं, किन्तु प्रवाह अधिक है। रथ उसके ऊपर से होकर चल रहा। तु॰ 'दृषद्वती' ३।२३।४, द्र॰ टी॰ १३४९[३]। तंत्र में यही वज्राणी नाड़ी। 'अश्म' पत्थर, इसके अतिरिक्त वज्र भी (२।१४।६, मरुद्गण 'अश्मदिद्यवः'; वृत्र की पुरी अश्मन्मयी ४।३०।२०)। जिस प्रकार अदिव्य शक्ति की कठिन बाधा, उसी प्रकार देवता को भी कठिन आक्रमण; यह अन्तरिक्ष की घटना है (दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ७।१०४।२२; इसके अला अग्नि 'दृषदं जिह्वया वधीत्' ८।७२।४; दिव्यशक्ति एवं अदिव्य शक्ति दोनों ही दृषद्

त्वष्टा मायावी हैं। समस्त शिल्पियों में वे सर्वश्रेष्ठ शिल्पी हैं और वहन करके लाए हैं सोमपात्र उन सब देवताओं के पान के लिए – जो शान्ततम हैं। धार तेज़ कर रहे हैं इस समय वे अच्छे लोहे की कुल्हाड़ी में जिससे छीलेंगे (उनका मंत्र) सूर्याश्व भास्वर ब्रह्मणस्पति [१४३८]

अब हे, यजमानों के कविगण, तीक्ष्ण धार बसूले से तुम सब (उनको) छाँट छील कर रूप दो अमृतत्व के लिए। तुम लोग सब जानते हो (अतः) गुह्य पदों की रचना करो, जिससे देवताओं ने अमृतत्व प्राप्त किया था [१४३९]।

'रीयते' < √ री, दौड़ते हुए चलना, वेग से चलना। इसी से 'रयि' संवेग। 'उत तिष्ठत' तु. क. उत्तिष्ठत जाग्रत १।३।१४। 'प्र तरत' प्रवाह के प्रतिकूल ठेल कर आगे बढ़ो; 'उत तरेम' ताकि उस पार पहुँच जाएँ। 'सखायः' ऋत्विकों का सम्बोधन तु. १।५।१, ६।१६।२२...; देवता के सखा ३।९।१, ४।१२।५...। 'अशेवाः' जैसे अंहः, एनः, धूर्ति, जल्पि, तन्द्रि इत्यादि; तु. ७।१।१९, टी. १२३१। 'वाजान' — अश्मन्वती के साथ सम्बन्ध लक्षणीय। तो फिर ऋषि भी सप्ति वाज़म्भर होना संभव (तु. १०।८०।१)।
[१४३८] ऋ. त्वष्टा माया वेद् अपसाम् अपस्तमो बिभ्रत् पात्रा देवपानानि शन्तमा, शिशीते नूनं परशुं स्वायसं येन वृश्चाद् एतशो ब्रह्मणस् पतिः १०।५३।९। — पथ की सारी बाधाएँ दूर होंगी, ब्रह्मणस्पति के मंत्रबल से वृत्र के सारे आवरण हट जाएँगे। उसके बाद देवशिल्पी त्वष्टा अपनी दैवी माया से हम सब के आधार को देवता के सोमपात्र रूप में रूपान्तरित करेंगे।... 'त्वष्टा' देवशिल्पी (सा.; तु. त्वष्टा रूपाणि पिंशतु १०।१८४।१— गर्भाधान मंत्र में; और भी तु. देवस् त्वष्टा सविता विश्वरूपः ३।५५।१९— जिस प्रकार वे सब कुछ हुए हैं उसी प्रकार सब के भीतर प्रणोदक प्रेरक के रूप में हैं)। विशेष आलोचना द्रष्टव्य 'त्वष्टा' आप्रीदेवगण। **मायाः** —[निघ. प्रज्ञा ३।९ < मा 'निर्माण करना' तु. ऋ. मायाविनो ममिरे (पूर्व के पाद में 'भुवनानि') अस्य (सोम की) मायया ९।८३।३ > 'माता' जो अपने भीतर से निर्माण करती है अथवा उत्पादित करती है। तु. योनि के अर्थ में 'मान', जिस प्रकार 'प्रत्नाद् मानाद् अधि' ९।७३।६। प्रज्ञा अर्थ आया है < √ मन् ॥ मा, जिस प्रकार √ जन् ॥ जा > जाया √ छन् ॥ छा > छाया। इसी से सृष्टि में 'मंत्र' अथवा वाक् का अनुषंग, तु. 'गौरीर् मिमाय' १।१६४।४१। विशेष आलोचना द्रष्टव्य 'इन्द्र'।] निर्माणप्रज्ञा। जिस प्रकार गर्भाधान में त्वष्टा रूपकृत अथवा मूर्तिकार हैं एवं उसके कारण उनकी निर्माण प्रज्ञा का परिचय मिलता है उसी प्रकार यजमान के इस दिव्य जन्म में भी। 'अपसाम् अपस्तमः' तु. सरस्वती ६।६१।१३, परमदेवता १।१६०।४ (द्र. टी. १२६६)। 'शन्तमा' — [=शन्तमानि] 'देवपानानि' का विशेषण। देवपान सोमपात्र (१०।१६।८) अथवा सोम (९।९७।२७)। निस्तब्ध शान्ति से यदि आधार निविड़ न हो तो आनन्द फूटता नहीं। तु. 'शन्तमा' मनीषा देवता को पाने का एक उपाय १।७६।१, तु. 'शंतमा दीधिती गीः' ५।४२।१ स्तुति के साथ ध्यान का सम्बन्ध, ४।३।८... त्वष्टा ब्रह्मणस्पति के मंत्र-बल से आधार को सोमपात्र में रूपान्तरित करते हैं। ब्रह्मस्पति अग्नि का ही एक रूप, यज्ञ में प्रयुक्त 'ब्रह्म', बृहत के मंत्र के देवता। बृहत की भावना एवं आत्माहुति से यजमान का मंत्रमय हिरण्यशरीर निर्मित होता है। वही देवता का सोमपात्र। 'शिशीते परशुम्' — त्वष्टा तक्षक अथवा बढ़ई, (विश्वकर्मा- सूत्रधार)। बढ़ई जिस प्रकार लकड़ी को काट-छाँट, छील-छोलकर कलात्मक रूप देता है, उसी प्रकार त्वष्टा अव्याकृत को व्याकृत करते हैं, अव्यक्त को व्यक्त करते हैं किन्तु व्यक्त करते हैं वाक् अथवा मंत्र की सहायता से (तु. गौरीः ... सलिलानि तक्षती १।१६४।४१)। इसलिए वे तेज धार

(उसके) गर्भ में कन्या को रखा उन्होंने (और) शिशु को मुख में — संगोपन मन और जिह्वा द्वारा। (उसके बाद) वह बराबर प्रसन्न मन से (संलग्न होता है) काम के जुआ में, पाने की इच्छा होने पर पा ही जाता है संगीत मुखर हो कर जय को [1440]

वाला कुठार वाक् के देवता ब्रह्मणस्पति के हाथ में दे देते हैं, त्वष्टा की ओर से वे ही मंत्रमय 'देवयान' गढ़ेंगे। 'एतशः' सूर्याश्व (आगे चलकर द्रष्टव्य)। ब्रह्मणस्पति एतश अर्थात 'एतशवर्ण' (सा.) अर्थात सूर्याश्व की तरह भास्वर। इससे अग्नि और सूर्य के एकत्व का परिचय मिलता है।

[1438] ऋ. सतो नूनं कवयः सं शिशीत वाशीभिर् याभिर् अमृताय तक्षथ, विद्वांसः पदा गुह्यानि कर्तन येन देवासो अमृतत्वम् आनशुः 10।53।10। पूर्व के ऋक् में काट-छाँट कर देवताकर्तृक सोमपात्र-निर्माण का उल्लेख किया गया है। इस ऋक् में ऋत्विकों के द्वारा यजमान के हिरण्यशरीर निर्माण की चर्चा की गई है जिससे देवताओं की तरह वे भी अमृतत्व प्राप्त कर सकें। त्वष्टा ने ब्रह्मणस्पति के मंत्रबल से सोमपात्र गढ़ा था। यहाँ भी ऋत्विकों से वाक् के उन सब पदों का निर्माण करने के लिए कहा जा रहा है, जो अमृतत्व के सोपान हैं। मनुष्ययज्ञ का आदर्श देवयज्ञ है। पहले देवता का आवेश, उसके बाद मनुष्य का प्रयास— यह क्रम यहाँ भी है (तु 58)।... **सतो** — [जो है, वह 'सत', जो हो रहा है वह 'भुवन' (7।87।5, 8।31।6); 'सत' ध्रुव (8।89।6); असत के विपरीत सत (1।164।46, 10।72।2, 3, 10।129।4); देवता 'सत' 8।101।11, 8।89।6; यजमान 'सत' (सतः प्रा सानिषुर् मतिम् 8।21।7, त्वम् अग्ने इन्द्रो वृषभः सताम् असि 2।1।3, 16।1, 6।67।1] सत के, यजमानों के। Geldner: 'स-तः उसी भाव में, उसी रूप में' (स = समान)। 'कवयः' ऋत्विक गण, जो क्रान्तदर्शी एवं वाक् के साधक हैं। 'सं शिशीत'... सान देकर तेज़ करो अर्थात उनकी चेतना को एकाग्र करो। 'वाशी' अथवा बसूले द्वारा छाँटने-छीलने का तात्पर्य है जो अविशुद्ध अथवा अमार्जित है उसके निषेध से आधार को शुद्ध करना जिससे वह अमृत का धारक हो (तु. तैउ. 1।4।1)। 'तक्षथ' यहाँ त्वष्टा की ध्वनि है। सायण के विचार से यह ऋक् ऋभुगण के प्रति त्वष्टा की उक्ति है। 'पदा गुह्यानि' — वाक के: तु. 1।72।6 (द्र. टी. 1320, 1।164।45। 'येन देवासः...' तु. वाक् की उक्ति 10।125।1-2; राष्ट्री देवानाम् 8।100।10। देवता की अमृतत्वप्राप्ति हमारे भीतर होती है। वही ऋभुओं का मनुष्य से देवता होना है 4।33।4, 35।4, 3।60।4, 1।110।4...।

[1440] ऋ. गर्भे योषाम् अदधुर् वत्सम् आसन्य् अपीच्येन मनसोत जिह्वया, स विश्वाहा सुमना योग्या अभि सिषासनिर् वनते कार इज् जितिम् 10।53।11। इस ऋक् में मनुष्य के यज्ञ की फलश्रुति है, गुहाचर सौचीक अग्नि के आविष्करण और उद्दीपन के फलस्वरूप यजमान के जीवन में सर्वार्थसिद्धि के उल्लास का वर्णन है (तु. आदित्य का सायुज्य प्राप्त करने में आप्तकाम पुरुष का सामगान, तैउ. 3।10।4-6) उनके अन्तर में अदिति, मुख में ब्रह्मघोष, दैनन्दिन कार्य में सौमनस्य की स्वच्छन्दता, आप्तकाम जीवन में जयश्री का संगीत-वितान। — ऋक् के पूर्वार्द्ध के कर्ता मरुद्गण हैं (तु 10।52।2) क्योंकि सम्बुद्ध, सचेतन अग्नि की प्रेषणा से यजमान के प्राण अब विश्वप्राण में विस्फारित (तु. 'मरुद्भिर् अग्न आ गहि' इस टेक में अग्नि और मरुद्गण का सहचार 1।19 सूक्त)। द्वितीयार्द्ध का 'स' यजमान। 'गर्भे' — सत्ता की गहराई में, अन्तर में। वाक् के सम्बन्ध में कहा जा रहा है तु. 'पतंगो वाचं मनसा बिभर्ति तां गन्धर्वो ऽवदद् गर्भे अन्तः, तां द्योतमानां स्वर्यं मनीषाम् ऋतस्य पदे कवयो नि पान्ति— (सूर्यात्मक) अन्तर्ज्योति (द्र. टी. 1322) वाक् को मन में वहन करते हैं गन्धर्व (देव गन्धर्व सूर्य; अथवा विश्वप्राण वायु-सा.) उसकी गर्भ के भीतर से घोषणा की (शरीरस्थ

इतने दिनों बाद अचित्ति का आवरण हटा। प्राण की सुगन्ध से अन्तर को आमोदित करके देवता जागे और प्रसन्न दृष्टि से हमारी प्रीतिकर सामग्री अथवा उपचार की ओर देखा। उनको जीवन की वेदी में अभीप्सा की ऊर्ध्वशिखा के रूप में देखा और हृदय की गहराई में सृष्टि की आदिम व्याहृति अथवा बीजमंत्र के रूप में उनका गोपन गुंजन सुना। मन को भरोसा हुआ, इस बार आसुरी माया का आवरण छिन्न-भिन्न हो जाएगा, चेतना की क्लिष्टता और संकुचन दूर होगा तथा विश्वदेवता की अजर अमर दीप्ति से त्रिभुवन उद्भासित होगा। प्राणों की अथाह गहराई से मन्द्रित हुआ ब्रह्मघोष; सूर्याभिसारी हे तपोदेवता, हम सब के भीतर मनु होकर तुम दिव्य जन को जन्म दो। आकूति के दृढ़ निबद्ध रथ पर बिठाकर यहाँ ले आओ। हम जानते हैं, विश्व-शिल्पी की देवमाया हमारे आधार को देवता के सोमपात्र के रूप में गढ़ेगी और ब्रह्मणस्पति का मंत्रवीर्य उसको शरमुख तन्मयता में धारदार एवं दुर्निवार करेगा। कारण सलिल की गृहिणी का एक के ऊपर एक सजाया गोपन धाम हमारे सामने उद्घाटित होगा। हमारी सत्ता की गहराई में उसी परमा का सान्द्र सघन आवेश और रसना में उसकी आग्नेयी प्रच्छटा रहेगी। हम अपने दैनन्दिन जीवन में उनके ही दिए हुए दाय का वहन करते हुए उसी सर्वजया सिद्धि के तट पर उत्तीर्ण करेंगे।

मध्ये वर्तमानः' सा.; तु. 'प्रजापतिश् चरति गर्भे अन्तः' अर्थात् अन्तर्यामी रूप में — वाजसनेयी माध्यन्दिन संहिता ३१।१९; 'गर्भे सञ्जायसे पुनः' अर्थात् अग्नि, अप एवं ओषधि से फिर पुरुष के भीतर उत्पन्न होते हैं ८।४३।९, द्र. टी. १३८६); उसी द्योतमाना सूर्यसम्भवा मनीषा को ऋत के दुरधिगम्य धाम में कविगण रक्षा करते हैं १०।१७७।२। अर्थात् वाक् अन्तर की गहनसंचारिणी (तु. १।१६४।४५, १०।७१।३-४)। 'योषाम्' — वाग्रूपिणी अदिति को। वाक् 'अदिति', तु. ८।१०१।१५-१६। सायण. योषां कांचिद् गाम् (तु. वही; धेनु की वाक् ८।१००।११); योषा में धेनु की ध्वनि है क्योंकि साथ-साथ ही 'वत्स' का उल्लेख किया गया है। योषा के रूप में वाक् की कल्पना द्र. १०।७१।४। ऋक् के प्रथम पाद का सरल अर्थ : मरुद्गण अथवा विश्वप्राण ने अदिति को अथवा आदि वाक् गौरी को सिद्धों के अन्तर में स्थापित किया। उनके मुख में अदिति के 'वत्स' रूपी अग्नि को स्थापित किया अर्थात् उनका ब्रह्मघोष हुआ अग्निक्षर; तु. विराट पुरुष के मुख से अग्नि का जन्म १०।९०।१३, बृ. १।२।१२, ४।६। अग्नि अदिति के दुर्दमनीय पुत्र १०।५।७, ११।१ 'अपीच्येन मनसा' या गोपन मन द्वारा यजमान की सत्ता के भीतर अदिति का आधान, और 'जिह्वया' या जिह्वा द्वारा अग्नि का आधान मुख में। गहन संचारिणी गौरी ही अग्निदीप्त ब्रह्मघोष में स्फुरित होती हैं — यजमान के आविष्ट विश्वप्राण की प्रेषणा से (तु. श्वे. १।१३)। **योग्या** :- जुआ (YOKE) तु. 'योग्याभिः ... रोहिता धुरि धिष्व' ऋ. ३।६।६; उससे 'विहित कर्म, भार'. तु. यद् योग्या अश्नवैथे ऋषीणाम् (अनुच्छेद यज्ञ में अश्विद्वय का आवाहन) ७।७०।४! और भी तु. 'हयो न विद्वाँ अयुजि स्वयं धुरि' — अश्व की तरह स्वयं को जान-बूझ कर रथ के धुरे में नियुक्त किया है ५।४६।१। देवता ने जिस कार्य का भार उनको सौंपा है उसे सिद्ध पुरुष प्रसन्नतापूर्वक निरन्तर सम्पादित करते रहते हैं। 'सियासनिः' <√सन् 'प्राप्त करना, छीन लेना' + इच्छार्थे स+नि, अभीष्ट प्राप्ति में इच्छुक। अभीष्ट अमृतत्व, देवताओं का 'वरिवः' अथवा चेतना का वैपुल्य (तु. १०।५२।५)। **कारः** - [<√कृ (गान करना); तु. 'कारु' स्तोता निघ. ३।१६। साधारणतः 'कीर्तन' का बोध होता है (द्र. 'भग'); यहाँ] कीर्तनकारी स्तोता। सा. 'कर्ता'। 'जितिम' — जय असुरों पर इन्द्र की (१०।५२।५) देवताओं की १०।५३।४)। (तु. जयेम कारे पुरुहूत कारिणः ८।२१।१२।

इस प्रकार हमारे जीवन में सोचीक अग्नि वैश्वानर अग्नि में रूपान्तरित होते जा रहे हैं। यहीं हो नाटिकाका अन्त होता है। उसके बाद सप्ति वाजम्भर ने एक अग्नि सूक्त में उसके उपसंहार की रचना की है। इस सूक्त में हमें विश्व में सर्वत्र जीवन के सर्वक्षण, निरन्तर एक अनिर्वाण अग्नि दहन का ज्वलन्त परिचय प्राप्त होता है।

ऋषि कहते हैं:—

'अग्नि ओजस्वी शक्तिमान तुरंग दें, अग्नि (प्रदान करें) ऐसे वीर जो अति सम्भृत और कर्मनिष्ठ हों; अग्नि द्युलोक भूलोक में विचरण करें सब रञ्जित करके, अग्नि दें वह नारी जो वीरगर्भा और प्राचुर्य का आधार हो [1441]।'— जिसने अग्नि को प्राप्त किया है वह ओजस्विता के प्रवेग में दुर्निवार होता है, साधना में अविचल उसका वीर्य दिव्यश्रुति से उत्सारित होता है और उसकी शक्ति वीर्य की प्रसवित्री और उच्छल ऐश्वर्य की धात्री होती है। उसके कृतार्थ जीवन की अग्निदीप्ति द्युलोक-भूलोक में फैल कर उनके सारे रहस्य को उसके निकट उजागर करती है।

[1441] ऋ. अग्निः सप्तिं वाजम्भरं ददात्य् अग्निर् वीरं श्रुत्यं कर्मनिःष्ठाम्, अग्नी रोदसी वि चरत् समञ्जन्न् अग्निर् नारीं वीरकुक्षिं पुरन्धिम् 10।80।1 अभ्युदय और निःश्रेयस के समन्वय में जीवन की परिपूर्णता का चित्र। अभ्युदय के लिए तु. मा. 22।22 अग्नि का दान 'वाजंभर सप्ति' एवं वही ऋषि का भी नाम। उसी से वस्तुतः वे देवदत्त (तु. त्रसदस्यु वृत्रहा ऋ. 4।42।8-9)। **वीरम्** — सायण. वीरवन्तं पुत्रम्। किन्तु यह पद श्लिष्ट है, वीर्य का भी बोधक है (तु. 'यशसं वीरवत्तमम्' — वह ईशाना अथवा अकुंठ सामर्थ्य जो अनुत्तम या सर्वोत्तम वीर्य का आधार है 1।1।3); 'बृहद् वदेम विदथे सुवीराः' — विद्या की साधना से अनायास वीरता के साथ बृहत् की हम घोषणा करें (2।1।16; द्वितीय मण्डल के अनेक सूक्तों की टेक है; 'सुवीराः' शोभन पुत्रादि सहिताः सायण, किन्तु Geldner 'Master'; द्र. टी. 1426); इस सूक्त में ही द्र. 'वीरपेशाः' (4)। अभ्युदय के पक्ष में द्र. 'वीरः कर्मण्यः जायते देवकामः' 3।4।9। **श्रुत्यम्** — [तु. श्रुत्य ब्रह्म 1।165।11; रयि 1।117।23, 2।30।11, 7।5।9; नाम 5।30।5, 8।46।14, वाज 1।36।12, तत्र सायण, 'श्रु श्रवणे औणादिकः क्यप्, तुगागमः, यद् वा श्रुति शब्दाद् भवे छन्दसि इति यत्'। अथवा < 'श्रुत', तु० यद् ऋषिभ्यो मनीषां वाचो मतिं 'श्रुतम्' अदत्तम् अग्ने 8।59।6 : 'स्थान' अथवा भूमि प्राप्ति का साधन है वाक् का मनन, मनीषा (उपनिषद् में विज्ञान बुद्धि अथवा सत्त्व) एवं श्रुत अथवा दिव्यश्रुति (अर्थात परमव्योम में सहस्राक्षरा गौरी का 'नाद' सुनना 1।164।41, 45] दिव्य श्रुति से सम्भूत वाक् के मनन के फलस्वरूप जो सुना जाता है, वही 'श्रुत' अथवा 'श्रोत्र'। फिर वाक् में मंत्ररूप में उसकी जो अभिव्यक्ति, वह भी 'श्रोत्र' अथवा छन्द है। छन्द जो अध्ययन करते हैं अर्थात् उसके सहारे फिर उसी दिव्यश्रुति में पहुँचाते हैं, उपनिषद् में वे 'श्रोत्रिय' (तु पाणिनि 5।2।84)। 'कर्मनिःष्ठाम्' — तु. ऋ. कर्मण्यः 3।4।9 (7।2।9) 1।91।20; और भी तु. ई. 2। 'समञ्जन' < √ अञ्ज 'छाना, लेपना, मलना अथवा अभिव्यक्त करना, आलोकित करना' दोनों अर्थों में ही होता है। तु. 10।85।46। 'नारीं वीरकुक्षिं' — तु. 10।85।44 (अभ्युदय के पक्ष में)। 'नृ' के स्त्रीलिंग में 'नारी', 'नृ' पौरुष का आश्रय और 'नारी' शक्ति का। यहाँ अग्निशक्ति। 'पुरन्धिम्' पूर्णता की देवी; तु त्वम् (अग्ने) विधर्तः सचसे पुरन्ध्या 2।1।3; सरस्वती सह धीभिः पुरन्ध्या 10।65।13, विश्वे देवाः सह धीभिः पुरन्ध्या (धी-योग लक्षणीय) 14। वि. द्र. आगे चलकर।

'अग्नि प्राणचंचल। उनका समिध हो सुभद्रा। अग्नि महती द्यावा-पृथिवी में हुए आविष्ट। अग्नि प्रचोदित करते हैं, प्रेरणा देते हैं निःसंग को, अग्नि असंख्य शत्रुओं को भी करते हैं छिन्न-भिन्न [१४४२]।' — मेरी नस-नस में अग्नि का स्रोत है। उनके मंगलमय दहन से यह आधार प्रज्वल और ज्योतिर्मय है। वही ज्योतिर्दहन इस विपुल द्युलोक और भूलोक के अणु-अणु में आविष्ट हुआ, परिव्याप्त हुआ। उद्दीप्त हृदय कहता है सब अग्निमय हो जाए। किन्तु वह होता नहीं। रक्ष का विघ्न है, वृत्र की माया है उनके साथ निरन्तर संग्राम करना है। मैं अकेला हूँ। तब भी जानता हूँ, वे हैं और उनकी अजेय प्रेरणा है। देखता हूँ आततायियों का पुंजित अभियान उनके अभिघात से छिन्न-भिन्न हो जाता है।

'अग्नि ने ही स्तोता के कर्ण को अक्षत रखा है। अग्नि ने अप से जरा को बाहर निकाल दिया जलाकर। अग्नि ने अत्रि को संताप के बीच बचाए रखा, अग्नि ने नृमेध को संयुक्त किया सन्तति के साथ [१४४३]।'

[१४४२] ऋ. अग्निर् अप्नसः समिद् अस्तु भद्राऽग्निर् मही रोदसी आ विवेश, अग्निर् एकं चोदयत् समत्स्वग्निर्वृत्राणि दयते पुरूणि १०।८०।२। अप्नसः — [अप्नः निघ. कर्म (२।१; तु. 'अपः' Lat. opus कर्म; 'वीरवद् गोमद् अप्नो दधातन' १०।३६।१३ (सामर्थ्य)। अन्तोदात्त 'अपः' जल के स्रोत के रूप में प्राण का प्रतीक है। उसकी ध्वनि यहाँ भी है। अग्नि का विशेषण] प्राणचंचल। अग्नि 'अप्नः' और साग्निक पुरुष 'अप्नवान्' तु. ४।७।१। 'समिध' यही तनु अथवा आधार है क्योंकि यज्ञ में स्वयं की ही आहुति देनी होती है। यह समिध देवयानी (द्र. १०।५१।२, टी. १४१४), इसलिए 'भद्रा' [<√भन्द 'जलना' निघ. १।१६; 'अर्चना करना' उसमें भी जलने की ध्वनि है ३।१४; तु. पुरुप्रियो (वैश्वानरः) भन्दते धामभिः कविः ३।३।४]। समत्सु — ['समद्' पदपाठ स-मद <√मद 'मत्त होना'; निघ. 'संग्राम' २।१७; निरुक्त. समदः समदो वात्तेः (परस्पर संग्राम), सम्मदो वा मदतेः (परस्पर मत्तवत् आचरण ९।१६)। आधुनिक व्युत्पत्ति. IE. semted, GK. hómados 'a mob of warriors'] संग्रामे। 'दयते' <√दा खण्ड-खण्ड करना, टुकड़े-टुकड़े करना।

[१४४३] ऋ. अग्निर् ह त्यं जरतः कर्णम् आवाग्निर् अद्भ्यो अदहज् जरूथम्, अग्निर् अत्रिं घर्म उरुष्यद् अन्तर् अग्निर् नृमेधं प्रजया सृजत् सम् १०।८०।३। इस ऋक् में कई ऐसे ऋषियों के नाम हैं, जो श्लिष्ट हैं — एक ओर जिस प्रकार किसी व्यक्ति का बोध होता है, उसी प्रकार नाम के निरुक्तिलभ्य अर्थ से किसी भाव का। इस देश के प्राचीन रहस्यवादी साहित्य की यह एक साधारण पद्धति है। उसका प्रसिद्ध उदाहरण है 'नचिकेता' जिससे उसी नाम के एक किशोर का जिस प्रकार बोध होता है उसी प्रकार सामान्यतः अविद्याच्छन्न मुमुक्षु जीव का बोध होता है। उसके उपलक्ष्य में विवृत इतिहास उस समय आध्यात्मिक रूपक हो जाता है। इतिहास इस प्रकार तत्वाश्रयी होने से भावभूत होने का सुयोग पाता है। 'त्यं जरतः कर्णम्' तु. जरत्कर्ण १०।७६ सूक्त के ऋषि। जरूथ — [<√जॄ 'जराग्रस्त होना, वृद्ध होना'] जरा; तु. ७।१।७, द्र. टी. १३१५। सा. एतन्नामानम् असुरम्। स्मरणीय, 'जरा' व्याध के हाथों श्रीकृष्ण की मृत्यु। अग्नि अजर, योगाग्निमय देह भी अजर — यही ध्वनि है। अप प्राण का प्रतीक है। जरा प्राण का विकार है। नाड़ीतंत्र वाहित अप अथवा प्राण की धारा यदि अग्नि स्रोत में रूपान्तरित हो जाए तो फिर जरा की सम्भावना नहीं रहती। सन्ध्या भाषा में उसको ही यहाँ पानी में आग लगना एवं उसके फलस्वरूप जरा का 'निर्दहन' कहा जा रहा है। अत्रिम — [<√अत 'चलना' > अतिथि (द्र. टी. १२३६[2]), 'अत्मन' (तु. 'गूदोत्मा' ऋ. १।३।१२) > आ + अत्मन् = आत्मन वैदिक पदानुक्रम कोष : जो चलता है, देवयान का पथिक] ऋक्संहिता के प्रसिद्ध ऋषि। यहाँ संकेतित आख्यायिका के लिए द्र. ऋ. १।११६।८,

देवता को बुलाकर उत्कर्ण अथवा चौकन्ना रहता हूँ। उनके प्रत्युत्तर की प्रतीक्षा में; तब अन्तर में नित्यजाग्रत अग्नि ही उस दिव्य श्रोत्र को अक्षत रखते हैं, प्रतीक्षा व्यर्थ नहीं जाती। संभवत: जरा आई, प्राण के प्रवाह में उतार आ गया; नस-नस में प्रवाहित हो गया अग्निस्रोत, अवसाद दूर हो गया। सत्य संधानी पथिक को सन्ताप ने घेर लिया; अग्नि के अमृत दहन के आलिंगन से ज्वाला शान्त हुई। इस प्रकार पुरुष की जीवनव्यापी जो साधना है, अग्नि के अनुग्रह से उस का सार्थक परिणाम प्राप्त हुआ।

अग्नि ने दिया ज्वाला का स्रोत शान्ति रूप में। अग्नि ने दिया उस ऋषि को जो द्युलोक से अपरिमित ऋद्धि छीन कर ले आने में सक्षम हो। अग्नि ने द्युलोक में हव्य को किया है आतत, अग्नि के धाम अवस्थित हैं कितने स्थानों पर [१४४४]। — वीर्यशाली अग्नि मेरे भीतर जागे और ऋतच्छन्द में प्रवाहित कर दिया उसका प्रवेग मेरी नस-नस में। मेरे भीतर उन्होंने उस वाजम्भर ऋषि को जगाया जो द्युलोक की उत्कृष्ट अशेष सम्पत्ति छीन कर ले आ सकता है। मेरे ही भीतर से मर्त्यों की आहुति को वे द्युलोक तक प्रसारित करते हैं और देवयान के मार्ग में क्रान्तदर्शी आँखों के सामने उनके सप्तधाम की परम्परा या क्रम प्रकट हो जाते हैं।

११७।२, ११८।६, ८।७२।२...। विशेष आलोचना द्र. आगे चल कर। 'घर्म', < √घृ 'जलना'; तु. 'गरम', 'घाम'। **उरुष्यत** < √उरुष्य, नामधातु < उरु(स्), (तु. √तपस्य), > उरुष्या; (तु. 'तपस्या') ६।४४।७; < √वृ 'आवरण करना', 'अगोरे रहना', 'रक्षा करना', 'बचाना', 'मुक्ति देना'। 'नृमेधम्' एतन्नामकम् ऋषिम् (सा.); उनके सूक्त हैं— ८।८७, ८०, ८।८९, ८।२७, २८। तु. 'पुरुषमेध यज्ञ' (शब्रा. १३।६ 'पुरुषयज्ञ' (छा. ३।१६, १७। 'प्रजा' इसी यज्ञ का परिणाम, दैवी सम्पद्, विभूति। तु. प्रथम ऋक् का 'वीरकुक्षि नारी'— अग्नि, उनकी शक्ति एवं उनकी विभूति।

[१४४४] ऋ. अग्निर् दाद् द्रविणं वीरपेशा अग्निर् ऋषिं यः सहस्रा सनोति, अग्निर् दिवि हव्यम् आ ततानाग्नेर् धामानि विभृता पुरुत्रा १०।८०।४। 'दाद् द्रविणं' इसलिए वे 'द्रविणोदाः' (आगे चल कर द्रष्टव्य)। 'वीरपेशाः' यहाँ अग्नि; किन्तु तु. त्वद् (अग्ने) एति द्रविणं वीरपेशाः ४।११।३, लगता है द्रविण का विशेषण है; तत्र सा. 'वीरपेशा। पेश इति रूपनाम। विक्रान्त रूपम्। अत्र लिंगव्यत्ययेन वीरपेशा इति रूपम्।' तु. नृपेशसः ३।४।५। 'ऋषिम्' इत्यादि— तु. वाक् की उक्ति: यं कामये तंतम् उग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तम् ऋषिं तं सुमेधाम् १०।१२५।५; इन्द्र के निकट मधुच्छन्दा की प्रार्थना: नव्यम् आयुः प्र सूतिर कृधी सहस्रसाम् ऋषिम् १।१०।११। इसके अतिरिक्त सोम भी सहस्रसा ऋषि (९।५४।१)। 'सहस्र' सर्व (शब्रा. ४।६।१।१५), भूमा (३।३।३।८) परम (ता. १६।९।२)। 'आ तताना'— तु. ऋ. १०।५७।२, द्र. टी. १३६०। 'धामानि'— तु. ४।७।५ टी. १२९६।

'अग्नि को प्रशस्ति द्वारा ऋषिगण बुलाते हैं दिशा-दिशा में,
अग्नि को (पुकारते हैं) सारे लोग यात्रा में विपदग्रस्त होने पर। अग्नि को
सारे पक्षी (आवाज़ देते हैं) अन्तरिक्ष में उड़-उड़ कर। अग्नि सहस्र किरण
यूथ को घेरे चलते हैं [१४४५]।'— अग्नि के बिना किसी का काम नहीं
चलेगा। जीवन के मर्म के मूल में अभीप्सा की जो प्रेषणा है वही उसका
रसायन है, उसे छोड़ कर कोई जीवित नहीं रह सकता। इसलिए उषा का
प्रकाश फूटते न फूटते ही चारों ओर प्रबुद्ध ऋषि के कण्ठ से उसी तपोदेवता
का उदात्त आवाहन सुनता हूँ: 'मरुद्भिर् अग्न आ गहि'— विश्वप्राण
की शुभ्र व्यंजना के पुरोधा रूप में आओ हे देवता, आओ। राह में चलते-
चलते अमित्र के गुप्तघात से पर्युदस्त पराजित पाथिक के कंठ से आर्त
आह्वान सुनता हूँ: 'स नः सिन्धुम् इव नावयाति पर्षा स्वस्तये दुर्गाणि
विश्वा'— कहाँ हो तुम... दुस्तर सिन्धु... उत्ताल तरंगों का अन्त नहीं...
ले आओ अपनी नाव, हे नाविक... पार करके ले जाओ हम सब को स्वस्ति
के कूल पर, विश्राम-सागर के तट पर। अन्तरिक्ष में ध्यान देकर आलोक
के अभियात्री विहंग की काकली में उनकी ही गायन्ती सुनता हूँ, जो अभी-
अभी जागी पृथिवी के वक्ष से लपलपाती अग्निशिखा के रूप में आदित्य
की पुंजज्योति की ओर उठे हैं, अपनी हिरण्यरुचिर, सुनहली लपटों के
आलिंगन में उसे कसकर पकड़े हुए हैं।

'अग्नि को वही सामान्यजन (प्रजाएँ) जगाए रखते हैं जो मानवजातीय हैं,
अग्नि को (जगाए रखते हैं) मनु और नहुष से अलग-अलग जन्म जिनका।
अग्नि (चलते हैं) ऋत के गान्धर्व पथ पर, अग्नि की विचरणभूमि ज्योति
में निषण्ण है [१४४६]।' मनुष्यों में जो देवकाम हैं, वे ही द्युलोकाभिसारिणी

[१४४५] अग्निम् उक्थैर् ऋषयो वि ह्वयन्ते अग्निं नरो यामनि बाधितासः, अग्निं
वयो अन्तरिक्षे पतन्तो, अग्निः सहस्रा परि याति गोनाम् १०।८०।५। अग्नि के निमित्त
भूलोक में मनुष्य का उदात्त आह्वान, अन्तरिक्ष में पक्षियों की काकली, कूजन,
द्युलोक के किरणयूथ के साथ उनका संगमन। संक्षेप में अग्नि 'त्रिषधस्थ'
वैश्वानर हैं (तु. ५।४।८, ६।८।७, १२।२; द्र. टी. १२८०[१], १३५६[५])। 'यामनि बाधितासः'
— ये ही 'सबाधः' (निघ. ३।१८ ऋत्विक्; द्र. टीम्. ११७४)। 'वयो अन्तरिक्षे पतन्तः'
— सा. 'दारुभृतम् अग्निम् अन्तरिक्षगा वयः पतन्ति।' Geldner ने भी यही व्याख्या
ग्रहण की है ऋ. १।५८।११ का उल्लेख करके। किन्तु वहाँ केवल है, दावाग्नि का 'अध
स्वनाद् उत बिभ्युः पतत्रिणः'। यह स्वभावोक्ति मात्र, पक्षी अग्नि को 'रक्षा करो' कह
कर पुकारते हैं यह उत्प्रेक्षा नहीं है। पक्षी आलोकाभिसारी का प्रतीक है (तु. तैउ.
२।१-५, पक्षीरूप में पुरुष का वर्णन; अग्निचयन में वेदी को पक्षी का आकार देना,
जिस प्रकार श्येनचिति में)। सूर्य 'शुचिषत् हंस' (ऋ. ४।४०।५), 'श्येन' सोम का
आहर्ता (४।२६।५-७, २७।३-४)। 'सहस्रा गोनाम्'— आदित्यमण्डल, जहाँ सहस्र
किरण पुंजीभूत (तु. चित्रं देवानाम्... अनीकम् १।११५।१। अग्निशिखा पृथिवी की
यज्ञवेदी से उठकर आदित्य को आलिंगित करती है। यह पार्थिव चेतना के
द्युलोक में उत्क्रमण का चित्र है। यज्ञ का वही लक्ष्य है एवं इसके लिए ही ऋषियों
का अग्नि-आवाहन।
[१४४६] ऋ. अग्निं विश ईळते मानुषीर् या अग्निं मनुषो नहुषो वि जाताः, अग्निर्
गान्धर्वीं पथ्याम् ऋतस्याऽग्नेर् गव्यूतिर् घृत आ निषत्ता १०।८०।६। 'विशः मानुषीः'
प्रतितुलनीय 'विशं दैवीनाम्।' यहाँ सामान्यतः प्रवर्त साधक की ध्वनि है। 'मनुषः, नहुषः'—

अभीप्सा की शिखा को हृदय में प्रज्वलित करते हैं। जिन्होंने मन का
अथवा प्राण का रास्ता पकड़ा है, उ. दोनों को ही दीर्घ काल से प्रच-
लित साधना-धारा अलग होने पर भी इसी तपोदेवता को जगाना पड़ता है।
वे विश्व के ऋतच्छन्द के अनुगामी हैं — नाक की पदवी[1] धारण करके
आदित्य की ओर चलते हैं। राह चलते चलते उनका विश्राम और विचरण
आलोक यूथ के उसी परिमण्डल में होता है, जिसका उत्स है हृदय समुद्र
की अन्तर्ज्योति।[2]

मनु से एवं नहुष से। मनु आदि पिता, देवता सब मनुजात (१।४५।१ टी. १२८१[2]; तु.
१०।५१।५, ५३।६)। मनु < √मन्, उनकी धारा मन के आश्रित। नहुस < नह् बन्धने।
इस संज्ञा के तीन अर्थ हैं। प्रथमत: जो स्वयं के भीतर सिमटा हुआ है, तु. 'तस्य
क्षय: पृथुर् आ साधुर् एतु प्रसर्स्राणस्य नहुषस्य शेष:' — उसके निकट आए विपुल
वृहत् एवं संसिद्ध अथवा परिपूर्ण निवास, (आए) सन्तति उसके निकट — बंधे रहने
पर भी (स्वयं को) जो प्रसारित करता जाता है अर्थात् अग्निसाधक अनिबाध वैपुल्य में
लब्धभूमिक हो, उसका विरामहीन आत्मप्रसारण, आत्मविकास हो (५।१२।६)। द्वितीयत:
जो पास-पास, प्रतिवेशी : तु. इन्द्र की उक्ति 'अहं सप्तहा नहुषो नहुष्टर:' — मैंने सात
का वध किया है (तु. १।२२।१२ प्राणप्रवाह के सात लोक में सात बाधाएँ) मैं सब के
निकट की अपेक्षा भी अधिक निकट, अन्तर्यामी (तु. तैउ. २।१-५, आत्मा अन्तरतम) १०।४९।८;
इन्द्र 'नृतमो नहुषोऽस्मत् सुजात:' ८।७०; आ यातं (अश्विद्वय) नहुषस् परि (आसपास
से, चारों ओर से) ८।८।३। तृतीयत:, नहुष नामक राजा (सा.)। महाभारत में आयु
के पुत्र। अग्नि आयु अथवा प्राण। नहुष जन अग्नि दैवत होने पर भी प्राण की धारा
का अनुसरण करते हैं। भारत कथा में देखते हैं कि नहुष इन्द्रत्व प्राप्त करने पर
भी नहीं प्राप्त कर पाए, ऋषि के शाप से वंचित होकर सर्प हो गए। मुनियों के साधना-
मार्ग के योग में सर्प प्राण का प्रतीक है (द्र. अर्बुद काद्रवेय सर्प की आख्यायिका
१२६८[2]। (ऋक् संहिता में ही देखते हैं कि नहुष के पुत्र ययाति हैं १०।६३।१। उनका
असुरों से सम्बन्ध और चिरयौवन प्राप्ति की आकांक्षा इत्यादि योग की एक अन्य धारा
के सूचक हैं, ऋक् संहिता में जो अग्नि, मातरिश्वा एवं आदित्य को पकड़ कर यमपथ
के रूप में आभासित है (१।१६४।४६, टी. ११८४)। 'गान्धर्वी पथ्याम्' — गन्धर्व
देवगन्धर्व विश्वावसु अथवा आदित्य १०।१२३।५, टी. १३८३[1])। उनका पथ अथवा देव-
यान का मार्ग 'ऋत का गान्धर्व पथ' है। इसके अतिरिक्त निघण्टु में वाक् भी गान्धर्वी
(१।११), गायत्रीरूपिणी वाक् गन्धर्वों को भुलावा देकर सोम ले आई थी इसलिए
(ऐब्रा. १।२७, श. ३।२।४।२, ४।१।१२...)। शतपथ ब्राह्मण में यह गन्धर्व ही विश्वा-
वसु। किन्तु, वस्तुत: गन्धर्व प्राणचेतना है (तु. तैउ. आनन्दमीमांसा २।८)। आदित्य
तब प्राणरूपी (प्र. १।८), आकाश के नामरूप-निर्वाह की शक्ति। सोम अथवा अमृतचेतना
उसके भी परे है, सूर्यद्वार भेद करके वहाँ पहुँचना होता है (मु. १।२।११)। गायत्री इसी पथ
की दिग्दर्शिका है इसलिए उनका पथ भी 'गान्धर्वी पथ्या'। गन्धर्व के प्राणप्रसंग
में तु. गन्धर्वो अप्स्व् अप्या च योषा १०।१०।४, स्पद् गन्धर्वीर् अप्या च योषणा ९।१२
गव्यूति: — < गो + युति (तु. 'यूथ') पा. ६।१।७९; सा. गावो अत्र यूयन्ते इति
अधिकरणे क्तिन्... यद् वा युति: यवनम्, गवां यवनम् अत्रेति ऋ. १।२५।१६] गोचरभूमि, गोष्ठ,
मार्ग (वैदिक पदानुक्रम कोश)। तु. 'परा मे यन्ति धीतयो गावो न गव्यूतिर् अनु' (ऋ. वही)
— गोष्ठ से बाहर निकल कर पगडंडी पकड़े गाएँ जिस प्रकार खुले मैदान में छिटक पड़ती
हैं। यहाँ ये तीन अर्थ ही प्राप्त होते हैं (इधर-उधर छिटक जाना, फैल जाना तु. उर्वी गव्यूतिम्
७।७८।५, ८५।८)। अग्नि की 'गव्यूति' है देवयान मार्ग द्वारा उनकी शिखाओं का आदित्य
में पहुँचना, व वहाँ की पुंजज्योति में ('घृते' तु. आ नो मित्रावरुणा घृतैर् गव्यूतिम् उक्षतम्,
मध्वा रजांसि सुक्रतू ३।६२।१६, ७।६२।५, ६५।४, ८।५।६, घृतेन नो मधुना क्षेत्रम्
उक्षतम् १।१५७।२। यहाँ अध्यात्म व्यंजना सुस्पष्ट है, गव्यूति में अविच्छिन्न ध्यान प्रवाह की ध्वनि
है, उसे ज्योति के प्लावन में प्रवाहित कर देना एवं योगभूमियों के अमृतसिक्त करने की प्रार्थना)
निषण्ण होना। [1] तु. १०।७१।३। [2] ४।५८।५, ११ टी. १२७३[6], १२३३[1], १३५६[4]।

'अग्नि के निमित्त ऋभुओं ने बृहत् की गाथा को रचा। हमने भी अग्नि से विपुल और शोभन आवर्जन या परित्याग की बात कही। हे अग्नि, चारों ओर सतर्क दृष्टि रखते हुए आगे बढ़ चलो स्तोता के साथ, हे युवतम। हे अग्नि, विपुल ज्वाला का स्रोत उड़ेल दो (हम सब के भीतर) [१४४७]'— १सविता की प्रेरणा से मर्त्य होने पर भी जिन्होंने अमृतत्व प्राप्त किया था, उन्हीं ऋभुओं ने बृहत् की चेतना को अग्नि के निमित्त वाणी रूप में २अव्यक्त से व्यक्त किया था। उनकी तरह हमने भी उनके निकट इसी वाणी का उपचार भेजा, जो हमारे आवृतचक्षु चित्त का अमित-सुषम परिचय वहन कर रही है। हे अग्नि तुम अजर हो, तुम्हारा तारुण्य अक्षय है। उसकी ही जलती शिखा में हम सब को जकड़ लो, कस लो, अपने कांति को अपनी ही उस समुद्र के भीतर वास करने वाली महिमा की ओर पुरोधा होकर ले चलो। ३हमारी नस-नस में अपनी अनिर्वाण शिखा का स्रोत प्रवाहित कर दो।

सप्ति वाजम्भर द्वारा रचित सौचीक अग्नि की उपकथा एवं प्रशस्ति यहाँ समाप्त हुई। देवताओं के अनुग्रह से अग्नि को हमने अपने भीतर खोज कर प्राप्त किया है और देवात्म भाव की सिद्धि के लिए उनको सुसमिद्ध किया है [१४४८]। किन्तु देवयान के मार्ग की यात्रा में प्रथम पर्व पर ही रक्ष के रूप में अदिव्य शक्ति का विघ्न उपस्थित होता है। उसे कौन दूर करेगा? रक्षोहा के रूप में अग्नि ही उसको दूर करेंगे। अब प्रस्तुत है रक्षोहा अग्नि का परिचय।

अग्नि ऋक् संहिता में विशेष रूप से **रक्षोहा** हैं, यद्यपि रक्ष के अदिव्य शक्ति होने के कारण उसके विघ्न को दूर करने का सामर्थ्य सामान्यतः सभी देवताओं में है। अग्नि के बाद ही इन्द्र एवं सोम रक्षोहा हैं; और अन्यान्य देवताओं में अन्तरिक्ष में बृहस्पति, मरुद्गण एवं पर्जन्य हैं, द्युलोक में अश्विद्वय, सविता और मित्रावरुण [१४४९] हैं। अग्नि पृथिवी स्थान देवता हैं, जब वे ही

[१४४७] ऋ. अग्नये ब्रह्म ऋभवस् ततक्षुर् अग्निं महाम् अवोचामा सुवृक्तिम्, अग्ने प्रा.व जरितारं यविष्ठाऽग्ने महि द्रविणम् आ यजस्व १०।८०।७। १ तु. १।११०।४; टी. १२५५। २ अव्यक्त से व्यक्त करना। द्र. त्वष्टा। ३ तु. ८।१०२।४-६। सूक्त के अन्त में सा. 'अत्र प्रति लक्षण, वाक्यम् अग्न्यभिधानं तस्य स्तुत्यत्व प्रदर्शनार्थम्।'

[१४४८] यज्ञ के आरम्भ में आविर्भूत सुसमिद्ध अग्नि का नाम 'जातवेदाः'। द्र. टी. १३२१, १३२२।

[१४४९] ऋक् संहिता में राक्षोघ्न सूक्त का मात्र यह एक सूक्त इन्द्रसोम का (७।१०४) है; और ये सब कई अग्नि के (४।४, १०।८७, ११८, १६२) हैं)। अग्नि, इन्द्र एवं सोम ये तीन देवता ही ऋक् संहिता के बहुस्तुत मुख्य देवता हैं। अदिव्य शक्ति को पराजित करने का बल विशेष रूप से उन सब में ही रहेगा। प्रकीर्ण ऋक् में रक्षोहा हैं बृहस्पति २।२३।१४, १०।१८२।३; इन्द्र १।१२९।११, ६।२१।७; मरुद्गण १।८६।९, ५।४२।१० (लक्ष्य सारे रक्षःसेवी) ७।२८।७ (साथ में अहि एवं वृक), १०४।१८; पर्जन्य ५।८३।२; अश्विद्वय ६।६३।१०, ७।३४। १६-१८ (टेक 'हतं रक्षांसि सेधतम् अमीवाः' रक्ष के साथ अमीवा अथवा व्याधि का सम्बन्ध लक्षणीय; तब रक्षः देहाश्रित योगविघ्न); सविता १।३५।१०; मित्रावरुण १०।१३२।२; सोम ९।६३।२९, ७१।१ (साथ में 'द्रुह्') ८६।४८, ९१।४, १७।३ (३७।१, ५६।१), ४९।५, ६३।२८, ११०।१२, १०४।६, ८५।१। इसके अतिरिक्त अनेक ऋचाओं में रक्षोहा। ब्राह्मणों में : अग्निर् हि रक्षसाम्

रक्षोहा हों तब माना जा सकता है कि रक्ष का विघ्न पार्थिव चेतना
का विघ्न है एवं उसके साथ इस पार्थिव लोक में ही लड़ाई चलती
है। किन्तु संहिता में अन्तरीक्षचारी के रूप में उसका वर्णन किया
गया है[1], अर्थात रक्षः वस्तुतः अविशुद्ध प्राण का विकार है। किन्तु
उसकी सीमा अचिति के गुहाशयन तक अथवा अचेतन भाव की अथाह गह-
राई तक विस्तृत है।[2] इसलिए उसका एक अन्य परिचय है, वह निशाचर
है[3] पायु भारद्वाज की भाषा में वह अचित् है, सत्य को वह विरूप कर
देता है, अनृत द्वारा ऋत की हत्या करता है। अग्नि ऋषि अथर्वा की
तरह द्युलोक की ज्योति से उसके मर्म में आग लगा देना चाहिए।[4]
अनृत स्वभाव होने के कारण ही वह ब्रह्मद्वेषी है, यज्ञ का विघ्न है,
गुप्त घात द्वारा आहुति को विफल या नष्ट करना उसका धर्म है।[5]
मनुष्य के सारे दुष्कार्यों-पापों के मूल में इसी रक्ष की प्रेरणा है।[6]
जो कुछ सुभद्र है, शुद्ध-अदूषित है, उसे वह स्वेच्छानुसार दूषित करता
है, उसके वचन में अनर्थ कर्म में वंचना है;[7] वह मूर्तिमान पाप है।[8]
देवता को वह देना नहीं जानता, सब कुछ अपने लिए बचा कर रखता
है; इसलिए वह 'रक्षः' है।[9]

यह अदिव्य शक्ति जब मनुष्य के भीतर 'आविष्ट' होती है तब वह
'यातुधान' अथवा 'रक्षस्वी' होता है [१४५०]; मनुष्य तब फिर मनुष्य नहीं
रहता। यातुधान के प्रति वैदिक ऋषियों की विरक्ति इतनी तीव्र थी
कि रक्षः एवं यातुधान अन्त में समानार्थक हो गए।[1] जिस प्रकार असुरों
की 'अदेवी माया',[2] उसी तरह यातुधान का 'यातु', — जिसे हम अब
'जादू' कहते हैं। वह यातु 'ऋत का विरोधी है, ध्यान का परिपंथी है—

अपहन्ता, श्ना॰ १।२।१।६, ९, २।१३; श्ना, ८।४, १०।२; अग्निर वै ज्योती रक्षोहा श॰
७।४।१, ३४; ते (देवाः) अविदुर अयं वै नो विरक्षस्तमः' श॰ ३।४।३।८।[1] ऋ॰ १०।८७।३,
६, ७।१०४।२३; श॰ अमूलं वेदम् अयतः परिच्छिन्नं रक्षो अन्तरिक्षम् अनुचरति
३।१।२।१२। [2] तु॰ ऋ॰ ७।१०४।२ द्र॰ टी॰ १२३२[10]। [3] ऋक् संहिता में 'तमोवृधः' ७।१०४।१;
तु॰ वयो (पक्षी) ये भूर्वा पतयन्ति नक्तभिः (रक्ष की कामरूपिता)। निरुक्त की व्युत्पत्ति.
'रक्षो रक्षितव्यम् अस्माद्, रहसि क्षणोति (हिनस्ति) इति वा, रात्रौ नक्षत
इति वा ४।१८ (रहस् > राक्षस सम्भावित; आधुनिक व्युत्पत्ति (I.E. rikth—
'to drag, to pull one's clothes')।[4] तु॰ ऋ॰ ऋतं यो अग्ने अनृतेन हन्ति...
अथर्ववज् ज्योतिषा दैव्येन सत्यं धूर्वन्तम् अचितं न्य ओष १०।८७।११, १२ (७।१०४।७)।
[5] तु॰ तपुर्मूर्धा (अग्नि और ऋषि का नाम, तु॰ मु॰ 'शिरोव्रत' ३।२।१०) तपतु
रक्षसो ये ब्रह्मद्विषः १०।१८२।३, ७।१०४।२, १।७६।३; 'यातुनाम हविर्मथीनाम् ७।१०४।२१।
[6] रक्ष 'दुष्कृत्' : ७।१०४।३, ७।[7] तु॰ ये वा भद्रं दूषयन्ति स्वधाभिः (अपने ज़ोर से, बलप्रयोग
द्वारा) ७।१०४।९; अघशंसम् २, ४; भंगुरावतः ७, १०।८७।२२, २३, अपहत रक्षसो भङ्गुरावतः
९।६३।४। [8] तु॰ अघन ७।१०४।२; (इन्द्र) हन्ता पापस्य रक्षसः १।१२९।११। और भी तु॰ ७।१०४।२३
जिसके उत्तरार्द्ध में पार्थिव एवं दिव्य 'अंहस्' का उल्लेख है।[9] तु॰ पाहि विश्वस्माद्
रक्षसो अराव्णः ८।६०।१०। इस से 'रक्ष' शब्द की व्युत्पत्ति < √रक्ष् अधिक समीचीन एवं
सम्भावित, किन्तु निरुक्त (४।१८) के अर्थ में नहीं; द्र॰ टीम॰ १४५०। शतपथ ब्राह्मण
में है, 'देवान् ह वै यज्ञेन यजमानांस् तान् असुररक्षसानि ररक्षुः (रुकल), न यक्ष्यध्व इति,
तद् यद् अरक्षंस् तस्माद् रक्षांसि' श॰ १।१।१।१६ (यहाँ भी < √रक्ष्, किन्तु अन्य अर्थ में)
एक और प्रकल्पित व्युत्पत्ति < रिष 'अनिष्ट करना', तु॰ रक्षोहा अग्नि के प्रति : 'स नो
दिवा स रिषः पातु नक्तम् १०।८७।१, और भी तु॰ 'प्रति स्म रिषतो दह, अग्ने त्वं रक्षस्विनः' १।१२।५।
[१४५०] ऋ॰ मा नो रक्ष आ वेशीद् आघृणीवसो (सुदीप्त ज्योति हो जिनकी; अग्नि का विण॰)

अर्थात ध्यान के प्रतिकूल है — उसके द्वारा देवता की परिचर्या संभव नहीं है मनन में, वचन में अथवा कर्म में देवता के अपमान, अनादर की पापबुद्धि ही 'यातु' है। उससे प्रभावित व्यक्ति के प्रमाद और भ्रान्ति का चित्र ऋषि ने उल्लिखित इन दो सूक्तों में बहुत बुरा और बढ़ा-बढ़ा कर आँका है। उत्सर्ग की विमुखता में जिस रक्षः शक्ति का परिचय मिलता है, वह जिसके भीतर डेरा डाले है, वह 'रक्षस्वी' है — वह स्वार्थी असुरों और पणियों का सगोत्र है। मर्त्यों में वह दुर्मुख, दुर्विद्वान, पापात्मा, अशुभभाषी, भोगलोलुप अपने स्वार्थ के लिए प्राण की मुक्त धारा को अवरुद्ध कर देता है। वह सब का शत्रु है।[4]

इन्द्र जिस प्रकार वृत्रहा है, अग्नि उसी प्रकार रक्षोहा है [१४५१]। वे इस रक्षः शक्ति का अपनी लपटों द्वारा वध करते हैं, उसे अपनी लपेट में लेकर लोहे के दाँतों से चबाकर खा जाती हैं, लपटें जीभ की तरह पोर-पोर छिन्न-भिन्न कर देती हैं।[1] वध की एक सूक्ष्मतर रीति है धनुर्धर होकर अथवा बरछा या भाला लेकर उसकी त्वचा को भेदकर हृदय के मर्म-स्थल को विद्ध करना।[2] अग्नि तभी 'वेधस्तम ऋषि'।[3] और सूक्ष्मतम रीति

मा यातुर् यातुमावताम्, परो गव्यूत (गोष्ठ से दूर, रहस्यार्थ द्र· टीका १४४६; 'क्रोश द्वयाद् देशात् परस्तात्, एतद् उपलक्षणम्, अत्यन्त दूरदेशे', सा·) अनिराम् (तेजोहीनता; दारिद्र्य) अप क्षुधम्...सेध (रोक कर रखो) रक्षस्विनः ८।६०।२०। [1] द्र· सूक्त ७।१०४, १०।८७। [2] तु· ५।२।९ (यहाँ रक्षा का भी उल्लेख है), ७।१।१०, ९।८।५; फिर यातु भी 'माया' तु० ७।१०४।२४। [3] तु· ७।३४।८ (द्र· टी· १२०८[2]); 'नाहं यातुं सहसा द्वयेन ऋतं सपाम्य अरुषस्य वृष्णः' — मैं जादू की (सेवा करता हूँ) ना — ज़बरदस्ती अथवा शठता वश, ऋत की सेवा करता हूँ (उसी) अरुण वीर्यवर्षी की (अर्थात् अग्नि की) ५।१२।२। [4] तु· 'ताव् इद् दुःशंसं मर्त्यं दुर्विद्वांसं रक्षस्विनम्, आभोगं हन्मना हतम् उदधिं हन्मना हतम्' — वही (तुम दोनों) दो जन (अर्थात इन्द्र और अग्नि) उस दुर्भाषण मृत्युग्रस्त दुर्विद्वान् आत्मम्भरि अथवा स्वार्थपर भोगलोलुप को मौत के घाट उतार दो, जल को (अपने भीतर) धारण कर रखा है जिसने उसका वध करो (७।९४।१२; आभोगम् तु· आभोगयम्, उपभोग्यम्-सा· १।११०।२, आभोगय ११३।५; 'उदधिम्' तु· वल का 'उदधि' १०।६७।५ इस धारा को मुक्त करना ही इन्द्र और बृहस्पति का काम है); मा नो मर्ताय रिपवे रक्षस्विने माघशंसाय रीरधः (उसके वशीभूत मत करो, हे अग्नि) ८।६०।८ और भी तुलनीय १।१२९।५, ३६।२०, ८।२२।१८।

[१४५१] रक्षोहा अग्नि का अतिरंजित वर्णन ऋ· १०।८७ सूक्त। सप्तशतीय देवीयुद्ध के वर्णन के साथ अधिक मेल खाता है, यद्यपि उसका मूल मन्यु सूक्त में है (१०।८३, ८४)। [1] १०।८७।२ (टी· १२०३[2]), ३-५। [2] १०।८७।६, ७, ४, १३; तु· अस्ता सि विध्य रक्षसस् तपिष्ठैः ४।४।१ (टी· १२३२[5]); ५ (टी· १२३२[6])। [3] द्र· १।७५।२, ६।१४।२। [4] तु· नृचक्षा रक्षः परि पश्य विक्षु तस्य त्रीणि प्रति शृणीह्य अग्रा तस्याग्ने पृष्टीर् (पाँजर, पसली) हरसा (तेज द्वारा < √घृ > ह) शृणीहि त्रेधा मूलं यातुधानस्य वृश्च १०।८७।१० — नृचक्षाः — 'नॄन् चष्टे इति नृचक्षाः कृदुत्तर पदप्रकृतिस्वरत्वम्', सा· १।२२।७; किन्तु अनुरूप 'नृचक्षस्' बहुव्रीहि Geldner उसे ही पकड़ कर व्याख्या करते हैं। यह तात्पर्य आभासित, किन्तु सायण की व्याख्या ही ठीक है। मनुष्य की ओर जिनकी दृष्टि खुली हुई है वे 'नृचक्षाः'। स्पष्टतः ही वे सूर्य हैं: तु· नृचक्षाः... सूर्यः ७।६०।२, नृचक्षा एष दिवो मध्य आस्ते (सविता) १०।१३९।२, हवामहे...सवितारं नृचक्षसम् १।२२।७। ऋक्संहिता में यह विशेषण सब से अधिक सोम के लिए व्यवहृत हुआ है (९।७३।७, ८०।१, ८५।९, ८६।२६, ९७।१२, ८।४८।९, १५, ९।४५।१, ७०।४, ७८।२, ८६।२३, ९२।२, ९७।२९)। उसके बाद ही अग्नि के लिए (१०।८७।९, १६, ८, १०, ८।१९।१७, ३।१५।३, २२।२, ४।३।३, १०।४५।३)। दिन में सूर्य 'नृचक्षाः'; रात में कौन? स्वभावतः चन्द्र का नाम मन में आएगा। देवता 'शशि सूर्य नेत्र', इस कल्पना से हम सुपरिचित हैं। सोम को विशेष रूप से नृचक्षाः कहने में फिर संदेह की कोई गुंजाइश नहीं रहती, सोम = चन्द्र।

है केवल ऋष्टि या बरछे द्वारा नहीं बल्कि दृष्टि द्वारा, 'नृचक्षा' के पौरुषदृप्त
चक्षु की तीक्ष्ण सन्धानी ज्योति द्वारा प्रवर्त साधक की गहराई में निगूढ़
उस रक्षा का पता करके उसके पांजर या पसली को चूर-चूर कर देना,
उसके मूल, मध्य एवं अग्रभाग को छिन्न-भिन्न करके प्रत्येक भाग के तीन
टुकड़े कर डालना।४ रक्षोहत्या की इस पद्धति के साथ इन्धन में आग
पकड़ाने का — इस मर्त्य आधार के अग्निव्याप्त होने का भी सादृश्य सुस्पष्ट है।
पहले आधार के चारों ओर देवता का परिवेश रचित होता है — 'मैं उनके
भीतर ही हूँ', इस भावना के फलस्वरूप। उसके बाद बहिरंग से वे अन्तरंग
होते हैं, हृदय में सन्निविष्ट होते हैं और अन्त में बाहर भीतर एकाकार
करके उनकी आथर्वण दिव्य ज्योति का स्फुरण होता है — अर्थात् नीचे-
ऊपर, आगे-पीछे से सन्तपन अजर शिखा के शुक्र-शुचि दहन द्वारा
अघशंस रक्षः शक्ति को जला देना।५ इस सर्वावगाही रक्षोहा
अग्नि को ही 'शुचि' कहकर कुत्स आंगिरस ने वन्दना की है।६

रक्षोहा अथवा शुचि के बाद अग्नि **द्रविणोदाः** हैं। अग्निदहन में आदिव्य
शक्ति के निराकृत होने पर अब आधार अनघ अथवा निष्पाप एवं शुचि
हुआ। इस बार आधार में सर्वत्र आविष्ट दिव्य शक्ति का ऊर्ध्वस्रोत
संचारित होगा। अतएव देवता अब 'द्रविणोदाः'।

यह भावना आरम्भ में ही थी। उगते सूर्य को एक जगह मित्र, वरुण एवं अग्नि का चक्षु
कहा गया है (१।११५।१)। देवता त्रिनयन : वे मुझे हृदय से आग्नेय चक्षु द्वारा,
स्वर्लोक से मित्र के सौरचक्षु द्वारा, फिर लोकोत्तर वरुण के सौम्य-चक्षु द्वारा देखते हैं
यह सौम्यचक्षु की अन्तर्भेदी दृष्टि ही वरुण की (१।२५।१२) अथवा सोम का स्पशः (९।७३।७)।
अग्नि, सूर्य, सोम अथवा अग्नि, मित्र, वरुण ये तीन देवता ही प्रधानतः नृचक्षाः
हैं, उसके बाद अन्य देवता — जैसे ब्रह्मणस्पति (२।२४।८), इन्द्र (९।६६।१५) विश्वदेव
गण (१०।६३।४)...। देवता के साथ सायुज्य प्राप्त करके मनुष्य भी 'नृचक्षाः' होता
है — जैसे ३।५३।९, ५।४।६, ८।३४।३...। मनुष्य तब वेदान्त की भाषा में 'साक्षी'।
'मूलम्' तु. उद् वृह (उखाड़ दो) रक्षः सहमूलम् इन्द्र वृश्चा मध्यं प्रत्य अग्रं शृणीहि
३।३०।१७। और भी तु. १०।८७।८, ९, १२। ५ १०।८७।१२ ; त्वं नो अग्ने अधराद् उदक्तात्
त्वं पश्चाद् उत रक्षा पुरस्तात्, प्रति ते ते अजरासस् तपिष्ठा अघशंसं शोशुचतो दहन्तु
२०। ६ द्र. १।९७ सूक्त, टीभू. १२१२। टेक का अघ = रक्षः ; तु. इन्द्रासोमा (सम्पूर्णतः
जला दो !) सम् अघशंसम् अभ्य् अघम् ७।१०४।२ (= रक्षः !)। और भी तु. अग्नी
रक्षांसि सेधति 'शुक्रशोचिर्' अमर्त्यः, 'शुचिः' पावक ईड्यः ७।१५।१०; ८।२३।१३;
यो रक्षांसि निजूर्वति (जला कर मारते हैं) वृषा 'शुक्रेण शोचिषा', स नः पर्षद् अति
द्विषः (१०।१८७।३, यही सूक्त की टेक है)। द्र. ४।४।१ (टी. १३२२५), अघशंस ३।...
राक्षोघ्न सूक्तों का विन्यास लक्षणीय : पहले ४।४ सूक्त, उसके आदि और अन्त में
ही कई राक्षोघ्न मंत्र हैं, संभवतः बहुत कुछ प्रसंगानुसार। इस सूक्त में अग्नि 'पायु' (२),
उनकी शिखा भी 'पायु' (१२, १३), अन्त के ऋक् में है 'दहाशासः (दुर्भाषण) रक्षसः
पाह्य् अस्मान् द्रुहो निदो मित्रमहो (हे मित्रज्योतिः) अवद्यात् (यहाँ रक्षः चित्त की अदिव्य
वृत्ति)। इस पायु अग्नि से ही विशिष्ट राक्षोघ्न सूक्त के ऋषि पायु (१०।८७) हैं; देवता
के सायुज्य में उनके भीतर देवशक्ति के आवेश से वे ही अग्नि (तु. सोमयाग के
ब्रह्मा, जिनका 'ब्रह्म' ब्रह्म और शक्ति दोनों का ही आश्रय छा. ४।१७)। उसके बाद ७।१०४
सूक्त ; यहाँ प्रधानतः इन्द्र और सोम रक्षोहा (आगे चल कर आलोच्य)। उसके बाद १०।८७ सू.;
यह सूक्त ही समूचा राक्षोघ्न सूक्त है, जिसके देवता अग्नि हैं। तब भी यहाँ रक्षः चैतस अदिव्य
शक्ति। उसके बाद १०।११८ सूक्त में मात्र दो राक्षोघ्न मंत्र हैं (७, ८)। उसके बाद १०।१६२
सूक्त में रक्षः शक्ति सूक्ष्म से स्थूल में प्रकट हुई है, शौनक संहिता में हम उसका ही
विस्तार देखते हैं (विशेष द्रष्टव्य. 'रक्षः')।

२१०

इस संज्ञा का अर्थ है 'जो द्रविण दान करते हैं'। निघन्टु में द्रविण
धन का एक नाम है [१४५२]। जिस प्रकार अन्यत्र, उसी प्रकार यहाँ भी
धन शब्द सामान्यवाची है। निघन्टु में उल्लिखित धन
के नहीं बल्कि उनके बीच सूक्ष्म पार्थक्य है। वह पार्थक्य निरुक्ति
के द्वारा पकड़ में आता है।[1] इसके अलावा निघन्टु में 'द्रविण' बल का
भी नाम है।[2] इन दोनों अर्थों के अनुकूल ही यास्क इस शब्द की
व्युत्पत्ति सिद्ध करते हैं 'द्रु' धातु से।[3] उनकी व्युत्पत्ति से धन की
व्यंजना देवता के प्रसाद में एवं बल की व्यंजना उससे उत्पन्न वीर्य
में सुप्रतिष्ठित होती है। द्रविणोदा दोनों के ही दाता हैं।[4]

किन्तु संहिता में द्रविण का एक रहस्यार्थ है। एक स्थान पर अग्नि
को ही 'द्रविणस' कहा जा रहा है [१४५३]। सायण अपनी व्याख्या में
'सततगमन स्वभाव' कहते हैं।[1] अग्नि की शिखाएं नित्य चंचल हैं। यही
चांचल्य प्रवहमान प्राण का धर्म है।[2] हमारे भीतर समिद्ध अग्नि ऊर्ध्वस्रोता
शीर्षण्य प्राणचेतना के रूप में अभिव्यक्त होते हैं, इस भावना से हम
परिचित हैं। प्राणाग्नि का यह ऊर्ध्वस्रोत ही 'द्रविण' है एवं वही यास्क की
निरुक्ति के अनुसार यजमान का 'बल' एवं 'धन' है। शिरा-शिरा में
प्रवाहित अग्नि अथवा सोम की यह जो धारा है, संहिता में उसकी पारिभाषिक
संज्ञा 'गल्दा' है।[3] इस प्रसंग में लक्षणीय है, वहाँ प्रायशः देवता से कहा

[१४५२] निघ. २।१०; साधारणतः यह अर्थ ही ग्रहण किया जाता है।[1] यहाँ ही निरुक्ति
की सार्थकता है। याद रखना होगा कि, वेद संधा भाषा में रचित है (तु. निण्या वचांसि
निवचना... काव्यानि ऋ. ४।३।१६; परोक्षप्रिया हि देवाः ऐउ १।३।१४; और भी तु.
बौद्ध अद्वयवज्र का मन्तव्य वैदिक भाषा के बारे में: 'तया श्वेतच्छाग निपातनया नरकादिदुःखम्
अनुभवन्ति, सन्ध्याभाषम् अजानानत्वात्'; मन्तव्य का लक्ष्य- तैस. वायव्यं श्वेतम् आलभेत
भूतिकामः २।१।१।१) उसके अनेक शब्द ही पारिभाषिक हैं (तु. नरो धियंधा हृदा
तष्टान् मंत्राँ अशंसन् ऋ. १।६७।४)। यह बात भुला देने पर सहज ही व्याख्या-विपर्यय
हो सकता है।[2] निघ.२।९। [3] धनं द्रविणम् उच्यते, यद् एनद् अभिद्रवन्ति। बलं वा द्रविणं यद्
एनेनाभिद्रवन्ति ८।१। √द्रु 'दौड़ना', तेज़ चलना; तु. GK dromados 'running, a runner'
dromos 'course', drapetes 'a fugitive', drasmos 'flight' < IE. base *dera-,
*dra-, *dro- 'to run, to be active'; अतएव 'द्रविण', चांचल्य, उद्यम, शक्ति का
स्रोत। आधुनिक व्युत्पत्ति < द्रु 'काठ' = वनसम्पद, असमीचीन एवं क्लिष्ट। विकल्प
रूप 'द्रविणस्' (सकारोपजनश्छान्दसः सा. ऋ १।१५।७)। [4] तु. नि. तस्य दाता द्रविणोदाः
८।१। सायण की व्युत्पत्ति < √ [द्रविण (सुक्) + क्यच्] + क्विप्, 'एवं द्रविणस् शब्दो
धनेच्छावचनः, द्रविणेच्छां दस्यति यथेष्टधनप्रदानेनोपक्षपयति इत्यर्थे... क्विप्, एवं
द्रविणोदः शब्दः सकारान्तो भवति।' किन्तु तु. ऋ. द्रविणोदा ददातु नः १।१५।८, अध स्मा
नो ददिर् भव १०; तद्वशो ददिः २।३७।१, से. द उ हव्यो ददिः २।
[१४५३] ऋ. ३।७।१०, अग्नि का सम्बोधन 'द्रविणः'। अनुरूप तु. 'द्रविता' ६।१२।३, द्र. टी.
१३७६[2]। [1] 'द्रविणः सततगमनस्वभाव हे अग्ने।... द्रु गतौ इत्य् अस्मात् द्रुदक्षिभ्याम् इनन्
इतीनन् प्रत्ययः... सम्बुद्धौ सोर् लोपाभावश् छान्दसः।' [2] क. यद् इदं किं च जगत् सर्वं
प्राण एजति निःसृतम् २।३।२। [3] तु. ऋ. मा त्वा सोमस्य गल्दया सदा याचन्न् अहं गिरा,
भूर्णिं (चंचल) मृगं न सवनेषु चुक्रुधं (क्रोधित कर देता हूँ) क ईशानं न याचिषत् (८।१।२०;
सायण 'गल्दया' गालनेन स्रावणेन; 'मृगं न' सिंहम् इव भीमम्)। अत्र तु. नि. गल्दा धमनयो
भवन्ति, गलनम् आसु धीयते। 'आ त्वा विशन्त्व् इन्दव आ गल्दा धमनीनाम्' ८।२४।
'आ गल्दा धमनीनाम्', धमनियों के भीतर से होकर या बहते हुए। 'गल्दा' प्रवाह और नाली
दोनों ही। अध्यात्म दृष्टि से देवता मुझ को ही पानपात्र के रूप में इस्तेमाल करते हैं, उनके
लिए अपनी नाड़ियों में ही सोम की धारा ऊपर की ओर प्रवाहित कर देता हूँ। तब समस्त
आहुति ही आत्माहुति। 'गल्दा॥जल'।' [4] हम जिस प्रकार स्वयं को देवता के भीतर
२९१

जा रहा है हम सब के भीतर द्रविण का 'आधान' करने के लिए।४
यह लगता है हमारी गोत्रान्तरित चेतना में देवता का वीर्याधान है जिससे
आधार का बन्ध्यात्व दूर होता है।५ अतएव संहिता में द्रविण का परिचय
इस प्रकार है— ब्रह्मणस्पति अन्तर्मुख प्राण के समर्थ वीर्य एवं
तपःशक्ति से द्रविण को आविष्कृत करते हैं; जो सृष्टि के मर्ममूल से
विश्वकर्मा की इच्छा एवं आवेश से उत्सारित होता है; वह वीर्यदीप्त है।६
अनेक स्थलों पर द्रविण के अत्यन्त निकट रत्न का उल्लेख है७; दोनों का
अन्तर जंगमत्व और स्थावरत्व में या गतिशीलता और स्थितिशीलता
में है अर्थात् द्रविण चित्शक्ति का प्रवाह है और रत्न उसका कूट है।८

हम सब के भीतर जो इस शक्ति की धारा को प्रवाहित करते
हैं वे द्रविणोदा हैं। संहिता में स्पष्ट ही अग्नि के रूप में अभिहित
होने पर भी [१४५४], उनके स्वरूप को लेकर 'निरुक्त' में अन्य नैरुक्तों
के विचारों का उल्लेख है।१ क्रौष्टुकि का कथन है, द्रविणोदा वस्तुतः
इन्द्र हैं, क्योंकि बल और धन के वे ही प्रदाता हैं, समस्त बलकृति
उनकी ही है एवं संहिता में वे 'ओजोजात' हैं। इसके अलावा अग्नि
को इन्द्र से ही उनका जन्म होने के कारण 'द्राविणोदस' कहा गया है।
ऋतुयाज मंत्र में द्रविणोदा का उल्लेख है और उसके प्रैष मंत्र में पात्र
का नाम 'इन्द्रपान' है। इसके अतिरिक्त सोमपान तो इन्द्र का ही वैशिष्ट्य
है, अतएव ऋतुयाज मंत्र में जिस द्रविणोदा को सोमपान करने के लिए
कहा जा रहा है, वे इन्द्र ही होंगे। इसी पूर्वपक्ष के उत्तर में शाकपूणि
कहते हैं कि संहिता में अग्नि को स्पष्ट ही द्रविणोदा कहा गया है; बल और
धनदान देवता के ऐश्वर्य के परिचायक हैं, वह सब देवता का ही है;
अग्नि भी ओजोजात हैं इसलिए उनका नाम 'सहसः सूनुः' इत्यादि है; अग्नि
'द्राविणोदस' क्योंकि ऋत्विक गण भी द्रविणोदा हैं अर्थात् द्रविण वहाँ हविः है;२

उड़ेल देते हैं, उसी प्रकार देवता भी स्वयं को हमारे भीतर उड़ेल देते हैं। यही अन्योन्य
सम्भावन है (गी. ३।१०-११)। देवता का 'आधान' तु. ऋ. दधाति रत्नं द्रविणं च दाशुषे
(अग्ने) १।९४।१४, अथा दधाति द्रविणं जरित्रे (इन्द्र) ४।२०।८, श्रेष्ठं नो अत्र द्रविणं यथा
दधत् (सविता) ५४।१; प्रजां च धत्तं द्रविणं च धत्तम्, सजोषसा उषसा सूर्येण च...
अश्विना (८।३५।१०-१२; सन्तत ज्योति के स्रोत का आधान); एवा पवस्व द्रविणं दधानः
(सोम) ९।९६।१२; अहं दधामि द्रविणं हविष्मते (वाक्) १०।१२५।२। तु. ८।३५।१०-१२ इस
तृच की टेक है:- देवता हम सब के भीतर आहित करें प्रजा, द्रविण एवं ऊर्ज। इन्हें
विपरीत क्रम में लेना होगा; पहले 'ऊर्ज' जिससे अन्तरावृत्त चेतना गोत्रान्तरित होगी
उसके बाद 'द्रविण' अथवा देववीर्य; अन्त में 'प्रजा' देवजातक रूप में हम सब का
अमृतजन्म। ६ तु. ब्रह्मणस्पतिर् वृषभिर् वराहैर् घर्मस्वेदेभिर् (पसीने से तर) द्रविणं व्य
आनट् (१०।६७।७; 'वृष' वीर्य का, 'वराह' प्राण का, एवं 'घर्म' तपःशक्ति का प्रतीक;
'द्रविण' यहाँ 'गो' अथवा ज्योति की धारा, जिसको बलासुर अथवा पणियों ने
अवरुद्ध कर रखा है पाषाण-प्राचीर की ओट में, द्र. समस्त सूक्त); स आशिषा द्रविणम्
इच्छमानः प्रथमच्छद् अवराँ आ विवेश (१०।८१।१; द्र. टी. १२४६३); ४।११।३ (द्र. टी.
१४४४)। ७ तु. १।९४।१४, ४।५।१२, ५४।१, ३।१।८, १।५३।१...। ८ 'रत्न' द्र. टी. १३६४।
[१४५४] द्र. ऋ. देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम् १।९६ सूक्त का। १ नि. ८।१-३। २ नि. यथो
एतद् अग्निं द्राविणोदसम् आह (ऋ. २।३७।४) इति ऋत्विजो अत्र द्रविणोदस उच्यन्ते हविषो
दातारः, ते चैनं जनयन्ति, 'ऋषीणां पुत्रो अधिराज एष' (मै.स. १।२।७; मा. ५।४) इत्यपि निगमो
भवति ८।२।८। 'द्रविण' याजकपक्ष में हविः : घृत की (ऋ. ४।५८।७-१०) अथवा सोम की
(९।२७।१, २७।१, ३४।१, ४९।२-४...) धारा। देववीर्य की धारा आवेशरूप में उतर रही है
और आत्माहुति की धारा ऊपर की ओर जा रही है। इस कारण देवता और याजक दोनों ही द्रविणोदा-

२१२

सोमपात्र को जिस प्रकार इन्द्रपान कहा गया है, उसी प्रकार कहीं उन्हें वायव्य भी कहा गया है — हालांकि ये पात्र अनेक देवताओं के हैं इसलिए यह कथन सामान्य रूप से कहा गया है; सोमपान अग्नि भी करते हैं, संहिता में उल्लेख है। अतएव द्रविणोदा पृथिवी स्थान अग्नि ही है।[1] जिस प्रकार सूक्तभाक् हैं उसी प्रकार हविर्भाक् भी हैं; अर्थात उनके प्रति जिस प्रकार प्रशस्ति उच्चारित होती है उसी प्रकार उनको हव्य भी प्रदान किया जाता है।[2]

देवता के स्वरूप को लेकर यह जो मतभेद है, उसका कारण अज्ञता अथवा संशय नहीं बल्कि यह भेद भावना की उपजीव्य भूमि का भेद है। वस्तुतः सारे देवता ही द्रविणोदा हैं [१४५५], क्योंकि उपासक के भीतर आवेश और चिद्वीर्य का आधान सारे देवता ही करते हैं। उसके अलावा जब सारे देवता ही एक की विभूति हैं, तब देवता-देवता में स्वरूपतः कोई भेद नहीं हो सकता। तब भी प्रश्न उठ सकता है कि आवेश की भावना हम किस भूमि के आधार पर करेंगे — पृथिवी या अन्तरिक्ष, देह अथवा प्राण की? द्रविणोदा अग्नि हैं न कि इन्द्र हैं? यह प्रश्न ही सन्धा भाषा में उठता है।

ऋक् संहिता में द्रविणोदा के बारे में कुत्स आंगिरस द्वारा रचित एक सम्पूर्ण सूक्त है। और दो ऋतु सूक्तों में अन्यान्य देवताओं के साथ दो मंत्र-गुच्छों में उनकी प्रशस्ति है। इसके अतिरिक्त जहाँ-तहाँ बिखरे रूप में उसका कुछ कुछ उल्लेख है [१४५६]।

कुत्स के इस सूक्त की रचना ओजस्वी है जिसमें देवता का एक पूरा परिचय प्राप्त होता है। इसी सूक्त में द्रविणोदा का महत्व अन्यान्य देवताओं की ही तरह परमदेवता के समान बतलाया गया है। इस सूक्त की टेक में कहा जा रहा है कि सारे देवताओं ने द्रविणोदा को धारण कर रखा है अर्थात सारे देवताओं का आवेश ही द्रविणोदा का आवेश है — वे उन सब के अन्तर्यामी हैं [१४५७] द्युलोक और भूलोक के जनक हैं वे, उनके भीतर विश्वरुचि के दोनों में सायुज्य।

[1] द्र. नि. ८।२ दुर्ग: 'एवम् अयम् अग्निर् द्रविणोदाः सूक्तभाक् हविर्भाक् च। निपातम् एवैतत् मध्यमं ज्योतिः उत्तमं च ज्योतिः, एतेन नामधेयेन भजेते इति।' हविर्भाक् और सूक्तभाक् देवताओं का प्रसंग नि. ७।१३, ८।१२, १०।४२।

[१४५५] तु. ऋ. 'नु चिद् धि रत्नं ससताम् इवाविदन् न दुष्टुतिर् द्रविणोदेषु शस्यते' २ निद्रित व्यक्तियों में कोई किसी दिन रत्न नहीं प्राप्त कर पाया (अर्थात यह आसानी से प्राप्त होने वाला नहीं तु. टीका १२६४२) श्री हीन स्तुति द्रविणोदाओं (देवताओं के) उद्देश्य से उच्चारित नहीं होती १।५३।१; 'या (वायु एवं पूषा) वाजस्य द्रविणोदा उत मन् (५।४३।८; द्रविण यहाँ 'वाज' या ओजस्विता; तु. १।९६।८); त्वष्टा १०।७०।९; इन्द्र-विष्णु ६।६९।१, २, ६...।

[१४५६] द्र. १।९६ सूक्त; १।१५।७-१०, २।३७।१-४; ७।१६।११, ७।१६।११, ४।४६।४, ७।१६।११, ८।३९।६, १०।२।२, ७०।८; ८।११।

[१४५७] ऋ. देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम् १।९६।१...। सायण की विकल्प व्याख्या: – 'देवाः ऋत्विजो गार्हपत्यादिरूपेण धारयन्ति। उनकी दृष्टि में यहाँ व्युत्पत्ति 'ददाते विच् सकारान्तं त्वं असुनि कृते निष्पद्यते।' १जनिता रोदस्याः (४); नक्तोषासा वर्णम् आमेम्याने (वर्ण-वर्ण में विरोध की सृष्टि करते हैं < मी 'हिंसा करना' तु. १।११३।२ अर्थात काले और सफेद रूप में) धापयेते शिशुम् एकं समीची (मिल-जुल कर), द्यावाक्षामा रुक्मो अन्तर् विभाति (५)। अर्थात वे दिन में सूर्य, रात में अग्नि हैं; सूर्य और अग्नि एक ही परम देवता के दो विभाग हैं, दोनों ही एक। तु. अग्निहोत्री का इष्ट मंत्र 'अग्निर् ज्योतिः सूर्यो ज्योतिः' इत्यादि। [2] जातस्य च जायमानस्य च क्षाम्, सतश् च गोपां भवतश् च

२१३

रूप में विभात हो रहे हैं ; अरुणा उषा और श्यामवर्णा सन्ध्या बिना किसी
विरोध अथवा भेद भाव के एक ही शिशु को संवर्धित करती हैं स्तन्य द्वारा।
जो कुछ उत्पन्न हुआ है और जो कुछ उत्पन्न हो रहा है, वे उनके निवास हैं;
जो कुछ है और जो कुछ हो रहा है विचित्र रूप में, वे उनके रखवाले हैं[2]
विश्वमानव को जन्म देकर उनकी रक्षा के प्रति सतर्क दृष्टि रख रहे हैं, विवस्वान
की आँखों से निहार रहे हैं द्युलोक और प्राणलोक की ओर।[3] इसके अलावा
वे ही मातरिश्वा हैं — जिनका पोषण बहुवरेण्य है ; विश्वमानव उनके तनय हैं;
उनके लिए चलने के मार्ग का पता कर लिया है उन्होंने स्वर्ज्योति के वेत्ता
के रूप में।[4] ... यही उनकी शाश्वत दिव्य महिमा है। अथच विश्वभुवन के
जनक होकर भी वे फिर हमारे ही पुत्र हैं।[5] हम सब आर्य उत्साह
और अन्तर्मुखता की ऊर्जस्विता से उनको उत्पन्न करते हैं, यज्ञ के प्रथम साधन के
रूप में जगाते हैं पूर्वतन अन्तर्गूढ़ वेदमंत्र और प्राण की कविकृति द्वारा।[6]
और जन्म से ही वे हम सब के भीतर सचमुच स्थापित करते हैं कविधर्म, सिद्ध
क्रिया उनको धिषणा और प्राण के प्लावन ने मित्र की ज्योति के रूप में।[7]

भूरेः (७)। [2] इमाः प्रजा अजनयन् मनूनाम् (मनुष्य के आदि पिता, आदि याजक ; बहुवचन कल्प
आवर्तन का सूचक (तु. १०।१७।२) इसके अलावा सारे देवता भी 'मनुजात' १।४५।१ रूप में
मनवः' १।८७।७, ८।१८।२२, अतएव मनुरूपी देवताओं की सन्तान')। विवस्वता चक्षसा द्याम
अपश्च च (२)। 'विवस्वान' परम ज्योति, आदिदेव। जगत साक्षी के रूप में वे ही चक्षु तु.
१।११५।१। [4] स मातरिश्वा पुरुवार पुष्टिर विदद् गातुं तनयाय स्वर्वित् (४) मातरिश्वा
विश्व प्राण, अग्नि के जनक (१।३१।३, ७१।४, ३।९।५ ...) अर्थात् हमारे भीतर ज्योति की
अभीप्सा के प्रेरक। [5] द्र. ५।३।९, टी. १३८४३। [6] तम् ईळत प्रथमं यज्ञसाधं विश आरीर
... ऊर्जः पुत्रम् (३) ; सहसा जायमानः (१) पूर्वया निविदा कव्यताः योः (२) निवित् तु.
१।९६।२। 'निवित्' अति प्राचीन देव प्रशस्ति, गद्य में रचित। संक्षेप में देवता का पूर्ण परिचय।
सूक्त उसका ही विस्तार है (तु. ऐब्रा. गर्भा वा एत उक्थानां यन् निविदः ३।१०) ऋक् संहिता के
खिलकाण्ड के पंचम अध्याय में ग्यारह निवित् पाई जाती हैं। देवता क्रमशः अग्नि, इन्द्र मरुत्वान्,
इन्द्र, सविता, द्यावापृथिवी, ऋभुगण, विश्वदेवगण, अग्नि वैश्वानर, मरुद्गण, अग्नि जातवेदा;
एवं सोम हैं। ये ही वेद के प्रधानतम देवता हैं। अग्नि की निवित् इस प्रकार है:— अग्निर् देवेद्धः,
अग्निर् मन्विद्धः, अग्निः सुषमित्, होता देववृतः, प्रणीर् यज्ञानाम्, रथीर् अध्वराणाम्, अतूर्तो होता
तूर्णिर् हव्यवाट्, आ देवो देवान् वक्षत् यक्षद् अग्निर् देवो देवान्, यो अध्वरा करति जातवेदाः।
प्रसंगतः जातवेदा अग्नि की निवित् : अग्निर् जातवेदाः सोमस्य मत्सत्, स्वनीकश् चित्रभानु,
अप्रोषिवान् गृहपतिस् तिरस् तमांसि दर्शतः घृतवाहन ईड्यः, बहुलवर्त्मा स्तृतयज्वा, प्रतीत्या
शत्रून् जेता पराजितः, अग्ने जातवेदो अभि द्युम्नम् अभि सह आयजस्व, तुशो अपतुशः, समिद्धारं
स्तोतारम् अंहसस् पाहि, अग्निर् जातवेदो इह श्रवद् इह सोमस्य मत्सत्, प्रेमां देवो देवहूतिम्
अवन्तु देव्या धिया, प्रेदं ब्रह्म प्रेदं क्षत्रम्, प्रेमं सुन्वन्तं यजमानम् अवतु, चित्रश् चित्राभिर्
ऊतिभिः, श्रवद् ब्रह्माण्यं आवसा गमत्। 'प्रेमां देवः' से अन्त के अंश तक प्रथम को
छोड़कर बाकी सब निवित् ही हैं। 'ब्रह्म' और 'क्षत्र' उपनिषद के 'प्रज्ञा' और 'प्राण' —
वैदिक साधना के ये दो मुख्य साधन-स्रोत हैं (तु. क. १।२।२५ ; इतिहास में मोक्षधर्म एवं
राजधर्म ; योग में श्रद्धा एवं वीर्य हैं)। 'कव्यता' = कव्यतया (कवि-कृति के द्वारा ; तु. १)।
यह कविकृति 'आयु' अथवा प्राणशक्ति की। अभीप्सा की आग प्राण में ही जलती है। [7] स
प्रत्नथा (पहले ही जैसा, चिरकाल) सहसा जायमानः सद्यः काव्यानि बल (यथार्थ) अधत्त विश्वा,
आपश्च मित्रं धिषणा च साधन् १। ये 'मित्र' अथवा आनन्त्य की व्यक्त ज्योति हैं (तु. ५।३।१)।
'धिषणा' वाक् (निघ. १।११ ; 'वाग् वै धिषणा' शब्रा. ६।५।४।५) अथवा प्रज्ञा ('विद्या वै धिषणा' तैब्रा
३।५।५।२) ; द्र. देवी "धिषणा"। 'अप्' अन्तरिक्षचारी प्राण। प्राण और प्रज्ञा के आवेश से
आधार में आदित्यज्योति के अभिसारक ऊर्ध्वस्रोता अग्नि का जन्म। [8] रायो बुध्नः
संगमनो वसूनां यज्ञस्य केतुर् मन्मसाधनो वेः ६। 'वेः' < विः 'पक्षी' (तु. १।१६४।१),
यहाँ ज्योति-विहग, सूर्य — अग्निमंत्र से जिनकी उपासना। [9] भरतं सुप्रदानुम् ३। 'भरत'
तु. अग्निर् वै भरतः, स वै देवेभ्यो हव्यं भरति शा. ३।२ (श. १।४।२।२, १।५।१।८);

हमारी उत्सर्ग भावना के प्रतिभान हैं, आलोक हैं वे, संवेग के चिन्मय उत्स हैं,
ज्योतियों के संगम विन्दु हैं, ज्योति विहग के मंत्र और साधन हैं। [८] वे विश्वम्भर
हैं, उनका प्रसाद विद्युद्विसर्प अथवा विद्युत्प्रवाह के रूप में प्रवाहित
होता रहता है हम सब के भीतर। [९] इसी से वे द्रविणोदा हैं; और उनका
द्रविण, क्षिप्रग, सपौरुष, वीर्यवती एषणा और दीर्घायु का निदान है। [१०]
... इसके अलावा अन्यत्र हम पाते हैं कि जिस प्रकार हमारे भीतर ढाल
देते हैं वे अपनी दाहकता, उसी प्रकार वे भी चाहते हैं कि हम उनके
भीतर ढाल दें अपने देदीप्यमान चित्त की पूर्णाहुति। [११] तब उनकी ऊर्ध्व-
गामी धारा से ज्योतिःपथ का रुद्ध द्वार खुल जाता है हम सब के सम्मुख। [१२]

उसके बाद ऋतुयाज सूक्त का द्रविणोदाः। ऋतु प्रकृति परिणाम के
ऋतच्छन्दा प्रवाह के कारण ऋक् संहिता में कालवाची शब्द है [१४५८]
वस्तुतः हमारी जानकारी में कालमान की दीर्घतम इकाई संवत्सर है। उसके
ही भीतर बारी बारी से ऋतुचक्र का आवर्तन होता रहता है। शीतोष्ण या
ओषधि एवं अन्न आदि का पचना– जो हम सब के बाहरी जीवन का आधार
है, उसकी रूपरेखा संवत्सरव्यापी इस ऋतुचक्र के साथ निबद्ध है। [१] जहाँ
आवर्तन है, वहाँ ही मृत्यु है। इसलिए संवत्सर मृत्युस्पृष्ट है जिसने अमृत
सुवर्ग लोक को आच्छादित कर रखा है। इस आच्छादन को दूर करके अमृत-
लोक के प्रयाण के लिए सोमयाग के प्रातःसवन में ऋतुग्रह प्रचार की व्यवस्था
है। [२] कालचक्र के आवर्तन को स्वीकार करके ही यह उसके बाहर होना है, उप-
निषद की भाषा में सूर्यद्वार भेद करके अव्ययात्मा अमृत पुरुष में तल्लीन
होना है। [३]

संवत्सर में बारह पूर्णिमा और बारह महीने होते हैं। महीनों को दो भागों
में विभाजित करने पर दो अयन प्राप्त होते हैं। जब सूर्य का दोलन या संचरण
उत्तर की ओर होता है एवं दिन के प्रकाश की क्रमिक वृद्धि होती है तब यह
उत्तरायण होता है, फिर जब दोलन दक्षिण की ओर होता है एवं प्रकाश का क्रमिक
ह्रास होता है तब यह दक्षिणायन होता है। ज्योतिरग्र आर्यों के निकट एक
का संकेत अमृत की ओर है और दूसरे का संकेत मृत्यु की ओर है। फिर
बारह महीनों को तीन भागों में विभाजित करने पर तीन चातुर्मास्य प्राप्त
होंगे [१४५९]। छः भाग करने पर छः ऋतुएँ — वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त,

---

एष उ वा इमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्ति तस्माद् वै वा ह भरत नद् इति श. १।५।१।८ (प्राणो भरतः
ऐब्रा. २।२४)। द्र. सा., तु. टीभू. १२६०। 'सृप्रदानुम' सर्पणशील दानयुक्तम सा.; किन्तु वे
'सृप्र' को 'अविच्छेद' कहते हैं। वस्तुतः यह विशेषण 'द्रविणोदस्' का समानार्थक है।
तु. 'सदनं रयीणाम्' ७ 'रायो बुध्नः' ६; दान का 'सर्पण' उसी से। [१०] द्रविणोदा द्रविणसस्
तुरस्य द्रविणोदाः सनरस्य प्र यंसत्, द्रविणोदा वीरवतीम् इषं नो द्रविणोदा रासते दीर्घम्
आयुः ८। 'सनर' नरयुक्त = पौरुषयुक्त; उसी प्रकार 'वीरवती' = वीर्यवती (तु. प्र
यंसि होतर् बृहतीर् इषो नः ३।१।२२)। [११] तु. द्रविणस्युं द्रविणोदः, सपर्येम २।६।३;
अध्वर्यवः स पूर्णां वष्ट्य आसिञ्चम् ३७।१ (७।१६।११)...। [१२] अग्निः स द्रविणोदा अग्निर् द्वारा
व्य् ऊर्णुते ८।३९।६ (१।१२८।६); और भी तु. ६।१६।३४, टी. १२५४[२]।
[१४५८] ऋक् संहिता में 'काल' एक बार ही है १०।४२।९; वहाँ भी तात्पर्य है 'उपयुक्त समय' किन्तु
शौनक संहिता में 'काल' एक दार्शनिक तत्व : कालः स ईयते परमो नु देवः १९।५४।५ (द्र. सूक्त
५३-५४)। [१] तु. ता. तस्माद् यथर्तु आदित्यस् तपति १०।७।५, ... ओषधयः पच्यन्ते ८।१; श. ऋतवो
वै इदं सर्वम् अन्नाद्यं पचन्ति ४।२।३।१२ ... समिद्धाः प्रजाश् च प्रजनयन्त्य् ओषधीश् च पचन्ति १।३।४।७
[२] द्र. तैस. ६।५।३।१। [३] तु. मु. १।२।११। अवश्य मुण्डकोपनिषद् के मतानुसार 'यज्ञरूप प्लव अदृढ़'
(१।२।७)। किन्तु द्र. वेदमीमांसा, नचिकेता का उपाख्यान–प्रथम खण्ड।
[१४५९] किन्तु संवत्सरव्यापी चातुर्मास्य के चार पर्व हैं— वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध एवं शुनासीरीय।

और शिशिर। ब्राह्मण में कहीं कहीं हेमन्त और शिशिर को एक ऋतु मानकर संवत्सर में पाँच ऋतुओं की कल्पना है।[1] नाम से ही बोध होता है कि वसन्त में उजाला फूटता है, और हेमन्त में सब हिम या सर्द हो जाता है। एक में प्राण का उदयन है और एक में अस्तमयन है। वसन्त ऋतुमुख अथवा वर्षशिरः है। जिस प्रकार सौरमास का नाम राशि के नाम पर है और चान्द्रमास का नाम नक्षत्र के नाम पर है, उसी प्रकार वेद में ऋतुलक्षण के अनुसार बारह मास के बारह नाम हैं — मधु-माधव (वसन्त), शुक्र-शुचि (ग्रीष्म), नभः नभस्य (वर्षा), इषः ऊर्जः (शरत्), सहः सहस्य (हेमन्त), तपः तपस्य (शिशिर)।[2]

ऋक् संहिता में ऋतु देवता से सम्बन्धित तीन सूक्त हैं [१४६०]। प्रथम सूक्त की ऋक् संख्या बारह और बाकी दो सूक्तों की संख्या छः-छः है। ये संख्याएँ स्पष्टतः महीने की सूचक हैं। ऋतु का उल्लेख संहिता के सभी मंत्रों में नहीं है किन्तु ब्राह्मण में सब मिलाकर मान लिया जाता है कि है।[1] ऋतु के अलावा प्रत्येक मंत्र में ही अन्य देवताओं का उल्लेख है बल्कि वे ही मुख्य हैं, ऋतुएँ गौण हैं: सोमपान करने के लिए देवताओं को ही आह्वान किया जाता है, ऋतुएँ उनकी सहपायी हैं, उनके साथ सोमपान करती हैं। प्रथम और द्वितीय मण्डल में देवताओं का नाम और क्रम एक ही है: १ इन्द्र, २ मरुद्गण, ३ देवपत्नीगण के साथ त्वष्टा, ४ अग्नि, ५ इन्द्र, ६ मित्रावरुण, ७-१० द्रविणोदा, ११ अश्विद्वय, १२ अग्नि गार्हपत्य।[2]

क्रमानुसार फाल्गुनी, आषाढ़ी एवं कार्तिकी पूर्णिमा पर अनुष्ठित होता है फिर सब के अन्त में फाल्गुनी शुक्ल प्रतिपदा को अनुष्ठित होता है (द्र· कात्यायन श्रौ· पंचम अध्याय)। [1] तु· श· पंच वा ऋतवः संवत्सरस्य ३।१।४।५; ऐ· पञ्चर्तवो हेमन्त शिशिरयोः समासेन १।१; ता· १२।४।८, १३।२।६ ...। आगे चलकर देखेंगे कि हेमन्त-शिशिर को एक साथ मानना द्रविणोदा के पक्ष में विशेष तात्पर्यपूर्ण है। [2] तु· तैब्रा· मुखं वा एतद् ऋतूनां यद् वसन्तः १।१।२।६-७, तस्य (संवत्सरस्य) वसन्तः शिरः ३।११।१०।२)। [3] द्र· तैसं· १।४।१४; शब्रा· ४।३।१।१४-२०। कभी-कभी संवत्सर में एक 'अधिमास' होता है, जिसका नाम है 'संसर्प' अथवा अंहस्पति (द्र· तैसं· ऐ· सा·)।

[१४६०] ऋ· १।१५; २।३६, ३७। [1] १।१५ सूक्त के १-४, ६ में 'ऋतुना', ५ में 'ऋतूँर् अनु'; उसके ही अनुरूप २।३६ सूक्त, किन्तु ऋतु का उल्लेख नहीं। १।१५ सूक्त के ७, ८ में ऋतु का उल्लेख नहीं; ९, १० में है ऋतुभिः; ११, १२ में 'ऋतुना'। उसके अनुरूप २।३७ सूक्त के १-३ में 'ऋतुभिः', ५ में नहीं, ६ में 'ऋतुना'। इन तीन सूक्तों को मिलाकर देखें तो दिखाई पड़ता है कि संहिता में प्रथम मंत्र को छोड़कर आरम्भ के छः मंत्रों में एवं अन्त के दो मंत्रों में 'ऋतुना' एवं बीच के चार मंत्रों में 'ऋतुभिः' है। किन्तु प्रैष सूक्त में वाक्य के विन्यास में आरम्भ के छः मंत्रों में 'ऋतुना' बीच के चार मंत्रों में 'ऋतुभिः' एवं अन्त के दो मंत्रों में फिर 'ऋतुना' (ऋ· खिल ५।७।५ तिलकमन्दिर संस्करण)। विभक्तिभेद के कारण मंत्र के इन तीनों गुच्छों पर ब्राह्मण में यह अर्थ आरोपित किया गया है: ऐब्रा· के मत में प्रथम 'प्राण' द्वितीय 'अपान', तृतीय व्यान (२।२९)। शब्रा· में प्रथम 'दिन', द्वितीय 'रात्रि', तृतीय पुनः 'दिन'; अथवा 'मनुष्य', 'पशु', पुनः 'मनुष्य' (४।२।१।१०-१३)। लक्षणीय: बीच का मंत्रगुच्छ द्रविणोदा का (अपान, रात्रि, पशु)। ऋ· १।१५ सूक्त का विनियोग स्मार्त (सायण)। [2] देवतागण ऋत्विकों के पात्रों से पान करेंगे, यही लक्षणीय। क्रमानुसार पात्रों के नाम हैं: होत्र, पोत्र, नेष्ट्र, आग्नीध्र, ब्राह्मण, प्रशास्त्र, होत्र, पोत्र, नेष्ट्र, अमृत अथवा इन्द्रपान, आध्वर्यव, गार्हपत्य। यहाँ सात प्राचीन ऋत्विकों के नाम पाए जाते हैं; अध्वर्यु गण के अध्वर्यु एवं नेष्टा, ब्रह्मगण के ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीध्र एवं पोता, और होतृगण के होता और प्रशास्ता (मैत्रावरुण); उद्गातृगण का कोई नहीं (द्र· २।५ सूक्त विशेष रूप से २।५।२; अध्यात्म व्यंजना द्र· टी· १३१६५)। इन सात ऋत्विकों के अतिरिक्त आठवें स्वयं यजमान (तु· २।५।२, प्रैष मंत्र ५।७।२।१५)। द्रविणोदा का तृतीय पात्र विलक्षण (आगे चलकर द्र·)। सर्वत्र जिनका

स्पष्ट है कि ऋतुयाज मंत्रों में द्रविणोदा को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। चार
मंत्रों के गुच्छ के वे देवता हैं अतएव वे संवत्सर के एक चातुर्मास्य के देवता हैं
किन्तु यह कौन सा चातुर्मास्य है? संवत्सर की सूचना या प्रस्तावना में एक
चातुर्मास्य एवं उसकी व्याप्ति वसन्त और ग्रीष्म इन दो ऋतुओं को लेकर है।
वसन्त ऋतुमुख है, उस समय अन्धकार की सुनिश्चित पराजय में प्रकाश
का जन्मोत्सव, आदित्य का उत्तरायण शुरू होता है। हम जानते हैं कि प्रत्येक
अहोरात्र में वैसी एक घटना घटती है जब मध्यरात्रि के घोर अन्धकार
को विदीर्ण करके प्रकाश का अभियान शुरू होता है। अतएव स्वाभाविक
रूप से ही जान पड़ेगा कि संवत्सर के आदि में अश्विद्वय के द्वारा एक चातुर्मास्य
का आरम्भ होता है। जिस प्रकार अग्नि के साथ घृत का एवं इन्द्र के साथ सोम
का विशेष सम्पर्क है, उसी प्रकार अश्विद्वय के साथ 'मधु' का सम्बन्ध है[१४६१]
ऋतु सूक्त के इन दो आश्विन मंत्रों में भी मधु का उल्लेख प्राप्त होता है। वसन्त
के दो महीनों का नाम भी मधु एवं माधव है। ये सब उक्त परिकल्पना के अनु-
कूल है। अश्विद्वय में जिस प्रकाश का संकेत है, वह गार्हपत्य अग्नि में[1] जाग्रत
है, इन्द्र में सन्दीप्त है और मरुद्गण में उद्दाम है अर्थात पृथिवी से अन्तरिक्ष
को लाँघ कर द्युलोक के आखिरी छोर तक उस समय जैसे प्रकाश की एक आँधी
चल रही है। ग्रीष्म के दो महीने शुक्र और शुचि नाम की सार्थकता भी यहीं है।
ब्राह्मण में भी इन दो ऋतुओं के महीनों को 'अहः' कहा गया है। ... उसके
बाद का चातुर्मास्य वर्षा और शरत ऋतु को लेकर है। प्रथम देवता त्वष्टा
और देवपत्नी गण हैं। त्वष्टा, विश्वकर्मा विश्वरूप प्रजापति की प्राचीन संज्ञा है।
देवपत्नीगण सहित[2] उनको द्वितीय चातुर्मास्य के अग्रभाग में स्थापित करने में
एक प्राजापत्यव्रत का संकेत प्राप्त होता है।[3] आकाश 'नभः' अथवा मेघवाष्प
से आच्छादित हो गया है, उसके भीतर वज्र में, विद्युत में, वर्षण में 'नभस्य'
अग्नि और पर्जन्य का दिव्य क्षोभ जारी है।[4] फिर चातुर्मास्य के मध्यबिन्दु
पर उत्तरायण का अन्त और दक्षिणायन का आरम्भ होता है। उस समय भी प्रकाश
के दाक्षिण्य अथवा अनुकूलता का भाव रहता है किन्तु भीतर ही भीतर अवक्षय
का कार्य, वृत्र की तामसी माया का शनैश्चरण शुरू हो जाता है। तब उसको रोकने
के लिए 'गवेषण' इन्द्र[5] ज्योतिरेषणा के साथ अग्रसर होते हैं। बाहरी अवक्षय
अपरा प्रकृति का नियम है, उसे रोकना सम्भव नहीं। किन्तु उसे रोक देने
पर ही भीतरी प्रकाश प्रबल हो जाता है। निरोध योग का यही रहस्य है।
उस समय अन्तर्मुख होने पर चेतना 'ऊर्जस्वी' होती है और सत्ता की गहराई
में मित्रावरुण की 'वसिष्ठ' ज्योति फूटती है — व्यक्त और अव्यक्त के आनन्त्य
से अन्तःसत्त्व। यहीं द्वितीय चातुर्मास्य का परिसमापन होता है। फिर और
भी देखते हैं कि रूपकार त्वष्टा की दृष्टि के सम्मुख पृथिवी से लेकर अन्तरिक्ष
को पार करके द्युलोक के प्रत्यन्त तक एक ज्योतिर्मय उद्भास है — यद्यपि वह
अन्त की ओर अन्तरावृत्त है।[6]

पात्र है वे ही यजन करते हैं, केवल इस जगह होतृगण के अच्छावाक यजन करते हैं (प्रैष मंत्र द्र०)
[१४६१] विशेष आलोचना द्रष्टव्य. ऋ० ४।४५ सूक्त। १ तु० १।१५।२, द्र० टी० १३७९।[1] २ ये सब
'ग्ना' (१।१५।३) एवं 'जनि' (२।३६।३); दोनों ही <√जन् अतएव जननी शक्ति हैं। ३ तु० प्र० १।१५।
४ यहाँ ही अग्नि-पर्जन्य के संस्तव की सार्थकता द्र० ऋ० ६।५२।१६, १।१६४।५१ टी०मू० १३८३,
१३८६, १३३०। ५ 'गवेषण' जिसके मन में ज्योति की एषणा है। 'गवेषणा' में भी यही अर्थ।
इन्द्र विशेष रूप से 'गवेषणः' तु० १।१३२।३, ७।२०।५, ८।१७।१५। ६ लक्षणीय. इन दोनों
चातुर्मास्य के प्रायः सभी देवताओं को हम ऋक् संहिता के प्रथम अनुवाक में ही पाते हैं। वहाँ

उसके बाद तृतीय चातुर्मास्य है, जिसके अधिष्ठाता केवल द्रविणोदा अग्नि हैं। इस चातुर्मास्य में हेमन्त और शिशिर दो ऋतुएँ हैं। इस बार आदित्य के दक्षिणायन का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखने लगा है, प्रकाश और ताप के अवक्षय को अब बाहर में रोकना सम्भव नहीं। मृत्यु का हिम स्पर्श नीचे उतरता आ रहा है; किन्तु अमृत चेतना उसके निकट पराजय स्वीकार नहीं करेगी, वह ऋतुचक्र के आवर्तन से ऊर्ध्व निश्चय ही जाएगी। बाहर की आग जितनी ही मात्रा में निस्तेज होती जा रही है, उतनी ही मात्रा में भीतर की आग प्रबल होती जा रही है। इस समय उसका प्रकटन बहिश्चेतना में नहीं बल्कि अन्तश्चेतना के समूहन में तथा चिन्मय प्राण के निगूढ़ संचरण में होता है, जैसे योगनिद्रा में, योगी की वैवस्वत मृत्यु में और प्रलय में जगत्पति के अनन्तशयन में; प्राकृत जगत में अनेक प्राणियों को शीतनिद्रा में—विशेष रूप से साँप को। उस समय अग्नि 'अहिर्बुध्न्य'—प्राण के विस्फारण में नहीं बल्कि कुण्डलन में [१४६२]। यहाँ ये 'अहिर्बुध्न्य' ही शैशिर चातुर्मास्य के द्रविणोदा हैं।

ब्राह्मण में इस चातुर्मास्य की कई विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। संवत्सर के दो चातुर्मास्य की उपमा दिन के साथ और इस एक की उपमा रात के साथ दी गई है [१४६३]। यह जैसे पशु चेतना की आच्छन्नता है, जिसे अन्यत्र 'अपान' कहा गया है।[२] अपान मृत्युग्रस्त प्राण है।[३] द्रविणोदा इसी रात्रि के, इसी आच्छन्नता के और इसी अपान के देवता हैं।

किन्तु बहिःप्रकृति के सो जाने पर भी देवता कभी नहीं सोते—वे अन्तश्चेतन हैं। इस मृत्यु और तमिस्रा की आच्छन्नता के मध्य भी उनकी अमृत ज्योति की तपस्या चलती रहती है। संहिता में द्रविणोदा के वांछित पात्र के वर्णन में यही संकेत प्राप्त होता है [१४६४]। प्रत्येक मास के अधिष्ठातृ देवता एक-एक ऋतु के साथ ऋत्विकों के पात्र से सोमपान करते आए हैं।[१] किन्तु

हैं अग्नि, वायु, इन्द्र, मित्रावरुण, अश्विद्वय, विश्वदेवगण एवं सरस्वती। यहाँ अग्नि, मरुद्गण, इन्द्र, मित्रावरुण, अश्विद्वय, त्वष्टा एवं देवपत्नीगण हैं। प्रथम अनुवाक के देवताओं का क्रम लोकसंस्थान के अनुसार है: प्रथम सूक्त पृथिवीस्थान अग्नि का है, द्वितीय सूक्त का आरम्भ अन्तरिक्ष स्थान वायु के द्वारा एवं तृतीय सूक्त का आरम्भ द्युस्थान अश्विद्वय के द्वारा (द्र. नि. ७।१४; १०।१, १२।१)। इसके भीतर ही वैदिक साधना की समग्र रूपरेखा सूत्र रूप में अवधारित है। ऋतु सूक्त में देवताओं का क्रम आदित्यायन के छन्दानुसार है।

[१४६२] तु. ऋ. 'स जायत प्रथमः पस्त्यासु महो बुध्ने रजसो अस्य योनौ, अपादशीर्षा गुहमानो अन्ताऽऽयोयुवानो वृषभस्य नीळे।'—वे जन्मे पहले जलस्रोतों के भीतर इस रजोभूमि के महान चिन्मय, शानमय उत्स में, इसकी योनि में; उनके न पैर थे, न सिर था—आदि अन्त दोनों ही छिपा रखा था, सिमटे-सिकुड़े हुए ये वीर्यवर्षी (रहस्य) के नीड़ में ४।१।११। अन्तरिक्ष में प्राण का स्रोत बह रहा है, उसके भीतर अग्नि का प्रथम आविर्भाव—महाशक्ति के उस मूलाधार में जिसके अतल में महाबोधि की निगूढ़ रहस्यमय दीप्ति है। वे उस समय साँप की तरह कुण्डली मारे अवस्थित हैं जिसके कारण समझ में नहीं आता है कि कहाँ उनका आदि है अथवा कहाँ उनका अन्त है। जिस प्रकार वे मातृयोनि में, उसी प्रकार फिर वीर्यवर्षी ओघपिता के सुनील रहस्य के अतल में संगोपित। यह जैसे सृष्टि के आरम्भ में कुमारसम्भव की छवि हो। ठीक इसी प्रकार से हम सब के भीतर भी चिदग्नि का आविर्भाव होता है। अग्नि तब गार्हपत्य: ऐब्रा. के अनुसार 'एष ह वा अहिर्बुध्न्यो यद् अग्निर्गार्हपत्यः' ३।३६। ऋक्-संहिता में अग्नि 'अहिर्धुनिर् (फनफनाते हैं, फुफकारते हैं) वात इव ध्रजीमान (सनसनाने लगते हैं) १।७९।१ (सायण कहते हैं वैद्युत अग्नि')। इसी नाड़ी संचारी अग्निस्रोत से ही अहिभूषण रुद्र शिव की कल्पना की गई है, जो पुराण में 'अहिर्बुध्न्य' है [विद्र. वही]।

[१४६३] द्र. श. ४।३।१।१०-११, १३। संहिता के मंत्र-विन्यास में देखते हैं कि प्रथम छः मास प्रस्फुट प्रकाश, उसके बाद चार मास अन्धकार, उसके बाद फिर दो मास प्रकाश।→

द्रविणोदा सभी ऋतुओं के साथ पान करते हैं— लगता है समस्त काल उनके भीतर सिमट आया है; वे काल के भीतर रहकर भी कालातीत हैं—वे महाकाल हैं, वे पशुपति हैं।[2] उनका सोमपान अद्भुत है। उन्होंने होतृगण के होता के पात्र से, ब्रह्मगण के पोता के पात्र से एवं अध्वर्युगण के नेष्टा के पात्र से सोमपान किया है। तब भी 'द्रविणोदाः पिपीषति'[3]— उनकी प्यास जैसे बुझने वाली नहीं। इस बार उन्होंने अपना तुरीय पात्र उठा लिया जो अस्पृष्ट एवं अमृत है।[4] यह 'इन्द्रपान' स्वयं उनके द्वारा मिश्रित, इसका याज्या मंत्र वे स्वयं ही पढ़ेंगे।[5] वे आत्मयाजी और स्वराट् हैं। और उसी स्वाराज्य सिद्धि के फलस्वरूप ही दक्षिणायन के गहरे अँधेरे को चीरकर मनुष्य के भीतर[6] अश्विद्वय के शरमुख प्रकाश का अभियान शुरु होता है, जिसका पर्यवसान मित्रावरुण के अनिबाध आनन्त्य की दीप्ति में होता है। ऐसे ही द्रविणोदा के 'सहः' एवं तपः[7] संवत्सर के आवरण को हटाकर हमें सुवर्ग के अमृतलोक में उत्तीर्ण करता है।[8]

दक्षिणायन के शेष चार मास के अन्धकार को समझाने के लिए ब्राह्मण में हेमन्त-शिशिर का 'समास' (ऐ. १।१)। याग अथवा यज्ञ के समय अध्वर्यु एवं प्रतिप्रस्थाता दक्षिणायन और उत्तरायण का अभिनय करते हैं (तैस. ६।५।३।४)। [1] श. ४।३।१।१२, १३। [2] ऐब्रा. २।२९। [3] तु. ऐउ. १।१।४, २।४; ऋ. 'अन्तश् चरति रोचनाऽस्य प्राणाद् अपानती'— भीतर ही भीतर विचरण कर रही है ज्योतिर्मयी (सार्पराज्ञी) इनके (सूर्य के) प्राण (तु. प्र. १।८) अथवा प्रश्वास से अपान अथवा निःश्वास लेते हुए ऋ. १०।१८९।२। यह 'रोचना' वह सूर्यरश्मि है जो 'सीमा को विदीर्ण करके' हमारे भीतर अनुप्रविष्ट होकर एक बार कुण्डलित फिर विस्फारित होती है (द्र. ऐउ. १।३।१२-१४)। सार्पराज्ञी के इस 'अपानन' के फलस्वरूप प्राण आकर मर्त्य आधार में प्रविष्ट होता है, मृत्युग्रस्त होकर। और भी द्र. टी. १२६९ [2]।

[१४६४] ऋ. 'अपाद् धोत्राद् उत पोत्राद् अमत्तोत नेष्ट्राद् अजुषत प्रयो हितम्, तुरीयं पात्रम् अमृक्तम् अमर्त्यं द्रविणोदाः पिबतु द्राविणोदसः'— पान किया होत्र से और पोत्र से (पान करके) मत्त हुए, और नेष्ट्र से आस्वादन किया जिस प्रीति का (उपचार) वह निहित थी उनके लिए; (इस बार) जो तुरीय पात्र अस्पृष्ट (अथवा सुडौल, सुपुष्ट) एवं अमर्त्य, वह द्रविणोदा पान करें द्रविणोदा के पुत्र होकर २।३७।४। देवता और ऋत्विक् दोनों ही द्रविणोदा- (द्र. टी. १४५३) उपास्य-उपासक के सायुज्य में अमृतत्व। [1] द्र. ऋतु पात्रों के नाम टी. १४६० [2]। द्रविणोदा को छोड़कर और सब देवता पान करते हैं 'ऋतुना'। केवल १।१५।५ इन्द्र को कहा जा रहा है 'पिबा सोमम् ऋतूँर् अनु', एवं इसके ही अनुरूप मंत्र २।३६।५ में ऋतु का उल्लेख नहीं। बहुवचन का प्रयोग इन्द्र और द्रविणोदा का समत्व सूचित करता है (द्र. टीका के अन्त में)। किन्तु प्रैष मंत्र में एकवचन ही है। [2] अनुरूप भावना, भागवत १०।२९ में है। रास की रात्रि 'शारदोत्फुल्लमल्लिका', किन्तु मल्लिका ग्रीष्म का फूल। यहाँ भी सभी ऋतुओं का समाहार। दक्षिणायन में रात्रि का प्राधान्य, किन्तु, रात्रि भी वहाँ प्रकाशमय हो गई है। द्रविणोदा के समय किन्तु रात के अँधेरे के ऊपर ज़ोर दिया गया है उनकी अन्तरावृत्ति अन्तर्मुखता का निगूढ़ उल्लास ही रास है। शतपथ ब्राह्मण में इस चातुर्मास्य को 'पाशव' कहा गया है (४।३।१।१२) इसलिए उसके देवता 'पशुपति' जो वाजसनेयी माध्यन्दिन संहिता में रुद्र का नाम (१६।१७) है। कृष्ण भी 'गोपाल' (विष्णु 'गोपाः')। दोनों देवता जैसे एक-दूसरे के पूरक। [3] ऋ. १।१५।९ [4] २।३७।४ (द्र. सा., नि. ८।२)। [5] तथा प्रैषमंत्र : होता यक्षद् देवं द्रविणोदाम्, अपाद् धोत्राद् अपात पोत्राद् अपान नेष्ट्रात्, तुरीयं पात्रम् अमर्त्यम् इन्द्रपानं देवो द्रविणोदः पिबतु द्राविणोदसः, स्वयम् आयुधाः स्वयम् अभिगूर्याः (तु ऋ. २।३७।२), स्वयम् अभिगूर्तया होत्राय ऋतुभिः सोमस्य पिबतु अच्छावाक यज (५।७।५।१०, द्र. नि. वहीं दुर्ग)। [6] द्र. श. ४।३।१।१०-२०। [7] इस चातुर्मास्य में ऋतु के अनुसार महीनों के नाम 'सहः सहस्य तपः तपस्य'— अन्तश्चेतना में अग्निशिखा का द्योतक। ऋतु-सूक्त की यह व्याख्या अध्यात्म एवं अधिदैवत दृष्टि से। अधियज्ञ दृष्टि से भावना में कुछ विलक्षणता है। ऋक् संहिता एवं प्रैषाध्याय में मंत्र का विन्यास उसी के अनुसार है। वहाँ सूक्त का आरम्भ इन्द्र से किया गया है अश्विद्वय से नहीं। यदि सूक्त का प्रथम मंत्र संवत्सर के आरम्भ की सूचना देता है तो फिर मधुमास के देवता इन्द्र होते हैं और अश्विद्वय

द्रविणोदा के बाद अग्नि **वैश्वानर**। पार्थिव चेतना की यज्ञ वेदी में जात
वेदा रूप में जिनका प्रथम आविर्भाव होता है, उनका ही परम विस्फारण
वैश्वानर रूप में द्युलोक के अग्र भाग में होता है। जातवेदा एवं वैश्वानर
को लेकर अग्नि-विभूति के एक प्रत्याहार के बारे में पहले ही बतला
चुके हैं। इह और अमुत्र अर्थात इहलोक और परलोक के बीच अग्नि
ही पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। उसके कारण ही ऋक् संहिता के
वैश्वानर सूक्तों में जातवेदा एवं वैश्वानर इन दो संज्ञाओं के प्रयोग में
दोनों के व्यतिषंग या आपसी सम्बन्ध का भाव स्पष्ट रूप से विकसित
हुआ है। अध्वर के प्रथम प्रज्ञान होकर भी जातवेदा जिस प्रकार विश्व-
भुवन के मूर्द्धा पर दमक रहे हैं [१४६५], उसी प्रकार वैश्वानर भी ऋत-
जात होकर पृथिवी का पथ पार करके चलते-चलते द्युलोक के मस्तक
पर आरोहण कर रहे हैं। अर्थात बीज रूप में जो अवम हैं आधार हैं वे
ही फल रूप में परम हैं, पुनः फल रूप में जो परम हैं वे ही बीज रूप
में अवम हैं।

वैश्वानर शब्द के मूल में 'विश्वानर' है। पाणिनि के अनुसार यह एक
संज्ञा शब्द है [१४६६]। जिस प्रकार 'विश्वदेव' अथवा समस्त देवताओं का
समाहार। – उसी प्रकार 'विश्वानर' या सभी मनुष्यों का समाहार — जो तंत्र के
दिव्यौघ और मानवौघ का स्मरण दिला देता है। ऋक् संहिता में 'विश्वानर' दो

एवं गार्हपत्य अग्नि दक्षिणायन के अन्त में चले जाते हैं और द्रविणोदा दक्षिणायन के
आरम्भ में। इससे इन्द्र का प्राधान्य सूचित होता है। लक्षणीय है कि ऋतु सूक्त के देवताओं
में इन्द्र दो बार, अग्नि भी दो बार, द्रविणोदा चार बार और सभी एक बार हैं।
अब द्रविणोदा यदि इन्द्र होते हैं तो फिर ऋतु याग में उनका प्राधान्य होता है। यह
क्रौष्टुकि का मत है। उसी प्रकार द्रविणोदा के अग्नि होने पर उनका प्राधान्य होता है। यह
शाकपूणि का मत है। इस विकल्प का उल्लेख पहले ही किया गया है (टीभू. १४५३-५४)।
एक के अनुसार कालजय की साधना इन्द्र द्वारा शुरू करनी होगी और एक के अनुसार
अग्नि द्वारा। किन्तु वस्तुतः इन्द्राग्नि युग्म देवता। इसके बाद ही ऐन्द्राग्न ग्रह प्रचार
के उपलक्ष्य में तैत्तिरीय संहिता का मन्तव्य : 'सुवर्गाय वा एते लोकाय गृह्यन्ते
यद् ऋतुग्रहाः; ज्योतिर् इन्द्राग्नी; यद् ऐन्द्राग्नम् ऋतुपात्रेण गृह्णाति, ज्योतिर् एवा-
स्मा उपरिष्टाद् दधाति सुवर्गस्य लोकस्य अनुख्यात्या (प्रकट करने के लिए) ओजोभृतौ
वा एतौ देवानां यद् इन्द्राग्नी; यद् ऐन्द्राग्नो गृह्यत, ओज एवाव रुन्धे ६।५।४।१'... तैस.
में जहाँ ऋतु के अनुसार मास का उल्लेख है, वहाँ सायण मधुमास चैत्रमास
बतलाते हैं। तो फिर उस समय उत्तरायण प्रवृत्ति चैत्र में होती। इस समय पौष के आरंभ
में होती है। मास स्थिर रहते हैं किन्तु अयनचलन के लिए ऋतु क्रमशः पिछड़ जाती
है। दो हज़ार वर्ष में एक मास पीछे रह जाती है। सायण का निर्देश सही होने पर
यह प्रायः छः हज़ार वर्ष पूर्व की बात है। चैत्र में वासन्त-विषुव नहीं बल्कि उत्तरायण
प्रवृत्ति ही ग्रहण करना होगा — क्योंकि वसन्त उस कारण ही ऋतुमुख या वर्षशिर है।
[१४६५] द्र. ऋ. वैश्वानर सूक्त में : 'दिवश्चित् ते बृहतो जातवेदो वैश्वानर प्र रिरिचे
महित्वम्' — हे जातवेदा, हे वैश्वानर, (उस) बृहत् द्युलोक को भी पार कर गई है
तुम्हारी महिमा १।५९।५; यज् जातवेदो भुवनस्य मूर्धन्न् अतिष्ठो अग्ने सह रोचनेन १०।८८।५
तु. टी. १३२२[3]। १ 'मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरम् ऋत आ जातम् अग्निं कविं
सम्राजम् अतिथिं जनानाम् आसन्न् आ पात्रं जनयन्त देवाः' — मूर्धा हैं जो द्युलोक
के, पथिक हैं जो पृथिवी के, ऋत से उत्पन्न (उस) वैश्वानर अग्नि को, कवि, सम्राट
एवं जन गण के (उस) अतिथि को जन्म दिया है देवताओं ने — (जिनके) मुख में
220

स्थानों पर सविता का विशेषण है और एक स्थान पर इन्द्र का।[2] एक और
स्थान पर इन्द्र को 'विश्वानरस्य ... पतिम्' कहा जा रहा है — यहाँ 'विश्वानर'
स्पष्ट रूप से विश्वमानव के अर्थ में प्रयुक्त है।[3] देवता ही सब कुछ हुए हैं इस
लिए विश्वमानव उनके ही प्रतिरूप हैं — इस दृष्टि से वे भी 'विश्वानर'।[4]
सविता द्युस्थान देवता हैं और इन्द्र अन्तरिक्ष स्थान देवता हैं; पृथिवी स्थान देवता
अग्नि (अथवा जीवचेतना) दोनों के ही अपत्य अथवा विभूति हो सकते हैं इसलिए
वे 'वैश्वानर' अर्थात् सावित्र द्युति अथवा ऐन्द्रशक्ति हैं। यास्क के अनुसार
अनुमान किया जा सकता है कि सर्वभूत में अनुप्रविष्ट जो एक देवता हैं वे ही
'विश्वानर' हैं; उनसे ही 'वैश्वानर'।[5] यही वैश्वानर की निदान-कथा है - जिस
से वे हुए हैं अर्थात् हम सब के भीतर उतर आए हैं किन्तु वे जो हुए हैं
उनकी उस महिमा की गाथा ही संहिता, ब्राह्मण और उपनिषद में विस्तार
पूर्वक वर्णित है।

निघन्टु में 'वैश्वानर' पद को अग्नि नाम के अन्तर्गत विन्यस्त किए जाने
पर भी [१४६७], प्राचीन आचार्यों ने वैश्वानर के स्वरूप के सम्बन्ध में द्रवि-
णोदा की तरह ही कुछ विचार-विमर्श किया है। निरुक्त में उसकी एक
व्याख्या प्राप्त है।[1] किसी किसी नैरुक्त आचार्य के मत में, वैश्वानर 'मध्यम'
अन्तरिक्ष स्थान देवता हैं अर्थात् वे इन्द्र, वायु अथवा विद्युत हैं क्योंकि उनकी
प्रशस्ति में वर्षकर्म या वृष्टिपात का उल्लेख है।[2] इसके अलावा प्राचीन याज्ञिकों

(उनका) सोमपात्र ६।७।१। देवाविष्ट ऋत्विक के ऋतच्छन्द कर्म द्वारा वे देवताओं के
पानपात्र रूप में इस पृथिवी में ही उत्पन्न होते हैं, बार-बार द्युलोक में आरोहण करते
हैं (तु. ३।५।१२, टी. १३२३[3]; वैश्वानरो महिना नाकम् अस्पृशत् ६।८।२ किन्तु ऋक के
आरम्भ में उनके आविर्भाव का उल्लेख परमव्योम में है)। [2] ल. वैश्वानर सूक्त में जातवेदा
का समावेश ३।२।८, ४।५।११, १२, द्र. टी. १४६६।
[१४६६] ६।३।१२८।[1] ऋक् संहिता में यह विशेषण: वायु का ११४२।१२, इन्द्र का ८।९८।१२,
बृहस्पति का ४।५०।६ (पिता के रूप में), सविता का ५।८२।७, सूर्य का, ६।६७।६, सोम
का ९।९२।३, १०३।४, देवगण का ६।५१।७, ७।३५।११। 'विश्वदेव:' जिस प्रकार समूह है
उसी प्रकार विश्वे देवा:' व्यूह है — एक समाहार है, दूसरा इतरेतर (एक दूसरे के साथ) है।
[2] १।१८६।१, उद उ ज्योतिर् अमृतं विश्व जन्यम् (विश्वजनीन) विश्वानर: सविता देव अश्रेत्
(आश्रय लिया; सविता सब के भीतर हैं, सभी उनके प्रतिरूप, यही ध्वनि है) ७।७६।१; १०।५०।१।
[3] ८।६८।४। [4] तु: इन्द्र के सम्बन्ध में: अर्चा विश्वानराय विश्वाभुवे १०।५०।१; अनुरूप
त्वष्टा 'विश्वरूप' ३।५५।१९; (१०।१०।५), १।१३।१०, सोम ६।४१।३, त्वाष्ट्र २।११।१९, १०।८।९
बृहस्पति ३।६२।६, परमदेवता ३।३८।४; ५६।३। [5] अपि वा विश्वानर एव स्यात् प्रत्यृत: सर्वाणि
भूतानि, तस्य (अपत्यं) [दुर्ग] 'वैश्वानर:' ७।२१। निरुक्त की और भी दो व्युत्पत्ति वहाँ हैं —
'विश्वान् नरान् नयति, विश्व एनं नरा: नयन्तीति वा। वहाँ दुर्ग: 'यथा पञ्चाग्नि विद्यायाम् उच्यते:
अपि वा सति तस्मिन् सर्वा: प्रवृत्तय: फलवत्यो नराणां भवन्तीति हेतु कर्तृत्वेन सर्वासु प्रवृत्तिषु
अयम् एव नरान् नयति प्रवर्तयतीति वैश्वानर: ... अथवा स नीयमानस् तासु क्रियासु अंगभावं
नरै: कर्म सम्पद्यते।' यह व्युत्पत्ति शब्द शास्त्रियों द्वारा अनुमोदित न होने पर भी अर्थवह
होने के कारण प्रणिधेय है।
[१४६७] निघ. ५।१। निघन्टु के इस खण्ड में मात्र तीन नाम हैं — अग्नि, जातवेदा एवं
वैश्वानर। अग्नि के अन्यान्य नाम अगले खण्ड में हैं। इस विभाजन से भी समझ में आता है
कि जातवेदा, अग्नि की विभूति का आदि है एवं वैश्वानर अन्त है। दोनों के मिलने से एक
प्रत्याहार। [1] नि. ७।२१-२१। [2] द्र. ऋ. प्र नू महित्वं वृषभस्य वोचं यं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते।
वैश्वानरो दस्युम् अग्निर् जघन्वाँ (हत्या की है) अधूनोत् काष्ठा (वृष्टि की धाराओं को) अव (नीचे
की ओर गिराया) शम्बरं (मेघ को) भेत् (अर्थात् वेध करके पानी बरसाया) १।५९।६। यह व्याख्या
निरुक्त की है (७।२३ पूर्व पक्ष) 'काष्ठा' < काश 'दीप्ति देना', 'चमकना' इसमें वर्षण और
विद्युत की ध्वनि है। आधुनिक व्याख्या में वृत्र और दस्यु शम्बर वध का चित्रण।

की दृष्टि में वैश्वानर द्युस्थान आदित्य हैं। अन्यान्य कारणों में उनका
एक प्रधान कारण यह है कि सोमयाग के तीन सवन में क्रमानुसार
पृथिवी से अन्तरिक्ष होते हुए द्युलोक में उत्तीर्ण होने की भावना है, उसको
'रोह' कहते हैं। उसके विपरीत क्रम में 'प्रत्यवरोह' है; जिसका तात्पर्य
है कि द्युलोक में पलायन कर जाने से हमारा काम नहीं चलेगा, पुनः इस
पृथिवी पर उतर आना होगा। इस प्रत्यवरोह की अनुकृति में होता जिस अग्नि-
मारुत शस्त्र का पाठ करते हैं, उसके पूर्व ही वैश्वानर सूक्त है।[3] उसके
बाद रुद्र सूक्त में मध्यस्थान देवता की प्रशस्ति है, उसके बाद अग्निमारुत
सूक्त।[5] अतएव प्रत्यवरोह क्रमहेतुवश वैश्वानर यहाँ अवश्य ही आदित्य हैं।
... किन्तु शाकपूणि अनेक युक्तियों द्वारा इस उभय पक्ष का खण्डन करते हुए
कहते हैं कि मध्यस्थान विद्युत् अथवा द्युस्थान आदित्य – यही दो ज्योति हैं;
वे ही विश्वानर हैं।[6] उनसे उत्पन्न होने के कारण यह पृथिवीस्थान अग्नि ही
वैश्वानर हैं। उन्होंने आदित्य से अग्निजनन का जो विवरण दिया है, उससे उस
युग में आतशी काच अथवा चकमकयाआतशी पत्थर का चलन था, उसका सन्धान
प्राप्त होता है।[7]

ऋक् संहिता में वैश्वानर से सम्बन्धित विभिन्न ऋषियों द्वारा
रचित तेरह सूक्त प्राप्त हैं [१४६८]। उसके अलावा विकीर्ण मंत्रों में भी उनका
उल्लेख है। 'वैश्वानर' सर्वत्र अग्नि का ही विशेषण है। केवल एक स्थान पर
विश्वदेवगण को भी 'वैश्वानराः' कहा गया है।[1] सब के भीतर एक ही अग्नि का
अधिष्ठान अथवा आधारभेद या विभूतिवैचित्र्य में विश्व देवता का अधिष्ठान-
वैदिक अद्वैतवाद की दृष्टि से एक ही बात है; क्योंकि 'एको देवः' 'विश्वेदेवाः'
'एकं सत्' का ही वैभव है – दोनों में कोई विरोध नहीं, प्रत्येक आधार में
एक और अनेक का युग्म विलास हम सब का नित्य प्रत्यक्ष है। एक स्थान
पर है, 'प्रवहमान पवमान (सोम) ने जन्म दिया द्युलोक की अद्भुत वज्रध्वनि जैसी
वैश्वानर बृहत् ज्योति को;[2] वैश्वानर यहाँ ज्योति का विशेषण है। यही बृहत्
ज्योति, उपनिषद की ब्रह्मज्योति है। संहिता का 'बृहत्' और उपनिषद का 'ब्रह्म'
दोनों एक ही व्यंजना वहन करते हैं।[3] अतएव वैश्वानर यहाँ ब्रह्म की संज्ञा या नाम
है। इस प्रकार हमने वैश्वानर के तीन साधारण परिचय प्राप्त किए – अर्थात् वे
अग्नि हैं, वे विश्वदेवता हैं, वे ब्रह्मज्योति हैं। इन तीनों की औपनिषद संज्ञा-
आत्मचैतन्य, विश्वचैतन्य और ब्रह्म चैतन्य है।

एक ही अग्नि नाना रूपों में प्रज्वलित हुए हैं [१४६९]। हमने देखा कि

---

[3] ऋ. ३।२ सूक्त। [4] २।३३ सूक्त। [5] ६।४८ सूक्त। [6] विद्युत् नाड़ी संचारी चैतन्यस्रोत का प्रतीक है और आदित्य प्रज्ञान का। अध्यात्म दृष्टि से आधार में दोनों का जो ताप है, वही अग्नि है। इसी रूप में सभी मनुष्यों के भीतर होने के कारण वे वैश्वानर हैं। [7] निरुक्त – 'अथादित्यात्, उदीचि प्रथम समावृत्ते आदित्ये कंसं वा मणिं वा परिमृज्य (यम आदित्यमणिम् इत्य् आचक्षते, दुर्ग) प्रतिस्वरे (धूप में, सूर्य की ओर) यत्र शुष्कगोमयम् असंस्पर्शयन् धारयति, तत् प्रदीप्यते; सो ऽयम् एव सम्पद्यते। ७।२३।१०।

[१४६८] नोधा १।५९, कुत्स १।९८, विश्वामित्र ३।२, ३, २६, वामदेव ४।५, भरद्वाज ६।७-९, वसिष्ठ ७।५, ६, १३, मूर्धन्वान् १०।८८। [1] ये देवास इह स्थन (हो) विश्वे वैश्वनरा उत, अस्मभ्यं शर्म सप्रथो गवे ऽश्वाय यच्छत ८।३०।४। 'गो' और 'अश्व' क्रमशः प्रज्ञा और प्राण के प्रतीक। तु. 'विश्वे देवा वैश्वानराः' मा. ११।५८। [2] ऋ. पवमानो अजीजनद् दिवश् चित्रं न तन्यतुम्, ज्योतिर् वैश्वानरं बृहत् ९।६१।१६। ज्योति के साथ नाद का सहचार लक्षणीय। यही नाद 'गर्ध्यगा नाद' अथवा प्रजापति के तीन 'द' (बृ. ५।२); संहिता में बृहस्पति का 'स्तनित' अथवा 'सिंहनाद' जो प्रस्तर प्राचीर को तोड़कर ज्योति को मुक्ति प्रदान करता है (तु. ऋ. १०।६७।५, ९)। [3] द्र. टीम्. ११७४...।
[१४६९] तु. ऋ. ८।५८।२, टी. १२३०१।

वे कभी 'जातवेदा:', कभी 'रक्षोहा', और कभी द्रविणोदा हैं; फिर आगे चलकर हम देखेंगे कि वे 'तनूनपात्', 'नराशंस', अथवा 'अपांनपात्' हैं किन्तु ये सब एक वैश्वानर के ही विभूति भेद से अनेक नाम हैं। इसलिए संहिता में कहा जा रहा है— 'हे वैश्वानर, अन्य सब अग्नि तुम्हारी ही शाखा हैं';[1] वैश्वानर ही उन सब अग्नियों में ज्येष्ठ हैं।[2] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार भी वैश्वानर ही समस्त अग्नि।[3] तथा छान्दोग्योपनिषद में वैश्वानर को प्रत्यगात्मा एवं विश्वात्मा दोनों ही कहा गया है।[4]

जो स्वरूप, गुण और कर्म अग्नि का है, स्वभावत: वही वैश्वानर का भी है। तब भी उनकी भावना का एक वैशिष्ट्य है। संहिता की विवृति में पहले ही उनकी लोकोत्तर उत्तुंगता की ओर दृष्टि जाती है। अग्नि पृथिवी स्थान देवता हैं। यहाँ देह के अरणिमंथन द्वारा समिद्ध होकर वे द्युलोक की ओर ऊर्ध्व शिख होते हैं। किन्तु वैश्वानर स्वरूपत: परम व्योम में नित्य आविर्भूत हैं [१४८०]। अथच वे त्रिषधस्थ हैं तीनों भुवन में ही अवस्थित हैं।[1] वे द्युलोक के मस्तक हैं, पृथिवी की नाभि हैं और दोनों के बीच अन्तरिक्ष के नित्य पथिक हैं।[2] उनकी सर्वव्यापी दीप्ति ने छुआ है द्युलोक को, छुआ है भूलोक को,[3] आपूरित किया है रोदसी का अन्तराल।[4] संक्षेप में वे ही विश्वभुवन की नाभि हैं[5] स्थित हैं उसके मूर्धा या मस्तक में भी।[6] केवल यही नहीं, वे विश्वरूप हैं— उनके ही मूर्धा में विश्वभुवन और प्राण की सात धाराएँ प्ररूढ़ हुई हैं शाखाओं की तरह, विश्वभुवन चारों ओर उनका ही विपुल विस्तार है।[7]

---

[1] वया इद् अग्ने अग्नयस् ते अन्ये १।५९।१। [2] शौ. वैश्वानर ज्येष्ठेभ्यस् तेभ्यो अग्निभ्यो हुतम् अस्त्व् एतत् ३।२१।६। [3] ६।२।१।३५, ३६...। [4] ५।११।२४।

[१४८०] ऋ. स जायमान: परमे व्योमनि व्रतान्य् अग्निर् व्रतपा अरक्षत, व्य् अन्तरिक्षम् अमिमीत (आच्छादित कर लिया) सुक्रतुर् वैश्वानरो महिना नाकम् अस्पृशत् (६।८।२; यहाँ 'व्रतपा' रूप में परमव्योम से उनका उतर आना, फिर यहाँ से विशोक लोक में उत्तीर्ण होना — दोनों का ही उद्देश्य) ७।५।७, दिवि योनि: १०।८८।७ (द्र. टी. १२८६), 'मातु: पदे परमे अन्ति यद् गोर् वृष्ण: शोचिष: प्रयतस्य जिह्वा'— परम पद में (पृश्निरूपिणी) गो-माता के सन्निहित (थनों की ओर बढ़ रही है) वीर्यवर्षी देवता की प्रसारित ज्वाला की जिह्वा' (४।५।१०; 'पृश्नि' मरुद्गण की माता, ब्रह्मसंस्पर्श का प्रतीक, उनका थन अमृत का निर्झर; उसी अमृत की तृष्णा में वैश्वानर की शिखा यहाँ से उठकर परमपद में अपने उत्स में जाती है)। [1] ६।८।७; द्र. टी. १२८५[2], १२७०[1], १३५६[5]। [2] १।५९।२, द्र. टी. १२४८[1]; तु. अन्तर् दूतो रोदसी दस्म ईयते ३।३।२, केतुं दिवो रोचनस्थाम्, उषर्बुधम् अग्निं मूर्धानं दिव: ३।२।१४, ६।७।१ (टी. १४६४[1])। [3] तु. पृष्टो दिवि पृष्टो अग्नि: पृथिव्यां पृष्टो विश्वा ओषधीर् आ विवेश, वैश्वानर: सहसा पृष्टो अग्नि: (१।९८।२; 'पृष्ट' <√ स्पृश्, तु. दिवि स्पृशन्ति भानव: १।३६।३, शौ. दिवि पृष्ट: २।२।२ स्पर्श किये हैं', और भी तु. 'पृश्नि') ऋ. पृष्टो दिवि धाय्य् (निहित) अग्नि: पृथिव्याम् ७।५।२, स्वर्विदि दिविस्पृशि १०।८८।१। [4] स रोचयज् जनुषा रोदसी उभे ३।२।२, आ रोदसी अपृणद् आ स्वर् महत् ७, ३।३।१०, ७।१३।२ (जातवेदा का उल्लेख लक्षणीय) १०।८८।३। [5] वैश्वानर नाभिर् असि क्षितीनां स्थूणेव जनाँ उपमिद् ययन्थ (स्तम्भ की तरह जन साधारण को टेक देकर, सहारा देकर सँभाल कर रखा है; तु. शौ. स्कम्भ ब्रह्म) ऋ. १।५९।१। [6] १०।८८।५, द्र. टी. १३२२[2], १२३३[8], १२३१)। [7] 'वैश्वानरस्य विमितानि चक्षसा सानूनि दिवो अमृतस्य केतुना, तस्येद् उ विश्वा भुवनाधि मूर्धनि वया इव रुरुहु: सप्त विस्रुह:'— वैश्वानर के चक्षु छाए हुए हैं द्युलोक की सानुओं (अधित्यकाओं) के अमृत के निशान के रूप में अथवा निदर्शन होकर, उनकी ही मूर्धा में है निखिल भुवन, शाखाओं की तरह निकली हुई हैं सात धाराएँ (६।७।६; विस्रुह् 'स्रोत, धारा' नि. ६।३ तु. प्रसर्स्राणो [फैल जाती है] अनु बर्हिर् वृषा शिशुर् मध्ये युवाजरो विस्रुहा [सा. 'ओषधीनां मध्ये', अर्थात नाड़ीतंत्र में] हित: ५।४४।३); द्र. टी. १३१४[2]; १।५९।५, टी. १४६४; तु. छा. वैश्वानर ५।११-१८।

पुन: वे विश्वरूप होकर ही 'विश्वकृत' हैं [१४७१] उन्होंने अपने 'अभिक्रन्द' द्वारा ही विश्व को रचा है।[1] स्थावर जंगम सभी उनकी कृति हैं[2] — वे सहस्ररेता वृषभ हैं[3] और ऊपर-नीचे निखिल विश्व में आस्थिर तत्पर होकर अपना बीज निषिक्त करते हुए गतिशील हैं।[4] यही उनका 'विश्वकर्मा' अथवा प्रजापति रूप है।

वैश्वानर जिस प्रकार सर्वदेवमय हैं [१४७२] उसी प्रकार वे ही विश्व-मानव हैं।[1] इस मर्त्य आधार में वे ही अमृत ज्योति के रूप में ध्रुवपद पर विराजमान हैं, दृष्टि के सामने प्रकट होंगे, इसलिए स्वयं को ध्रुव ज्योति के रूप में स्थापित कर रखा है।[2] यहाँ आविर्भूत होकर ही वे विश्व साक्षी हैं, यहाँ से उनकी ज्योतिर्महिमा लोकोत्तर में उत्सृष्ट होती है[3] अर्थात् वैश्वानर की दीप्ति का विकीर्णन सर्वत्र यहाँ से ही होता है।

मनुष्य के साथ उनका सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। वे उनके राजा हैं, वे विश्वपति हैं [१४७३] वे मनुष्य की उत्सर्ग साधना के केन्द्र हैं[1] और अग्रया बुद्धि के नियन्ता हैं[2] — वे ही भावविह्वल चेतना में परम देवता के रूप में आविर्भूत होते हैं।[3] इसी आधार में नित्य जाग्रत[4] वे वृत्र के अवरोध को तोड़ते हैं, शम्बर के मायाजाल को[5] छिन्न-भिन्न कर देते हैं, श्रद्धा रहित, उत्सर्गहीन कार्पण्य की ग्रन्थि को विदीर्ण करते हैं,[6] अवरुद्ध प्राण की धारा को मुक्त करते हैं और चिदाकाश में तिमिर विदारक उषा की ज्योति प्रकट करते हैं।[7]

[१४७१] शौ. अग्निः प्रातःसवने पात्व अस्मान् वैश्वानरः विश्वकृद् विश्वशम्भुः ६।४७।१; तु. ऋ. 'विश्वकर्मा' १०।८१-८२ सूक्त, १०।८२।२ (टी. १२६५)।[1] 'त्वं भुवना जनयन्न् अभिक्रन्न् अपत्याय जातवेदो दशस्यन्' — तुम भुवनों को जन्म देते हो, उनके कारण निनाद करके अपने अपत्य (सन्तान) को हे जातवेदा प्रदान करते हो (स्वयं को) ७।५।७। यही 'अभिक्रन्द' अन्यत्र 'व्याहृति', तु. वाक् द्वारा 'सलिल का तक्षण' एवं उससे 'अक्षर का क्षरण' (१।१६४।४१-४२), तंत्र का 'नाद'।[2] 'स पतत्री त्वरं (जो उड़ता है, चलता है) स्था जगद् यच्छ्वात्रम् (अनायास, 'क्षिप्रम्' सा.) अग्निर् अकृणोज् जातवेदाः १०।८८।४। उनका जन्म और विश्वभुवन की कृति (निर्माण) साथ-साथ इसलिए कि वे ही विश्वभुवन हैं।[3] ४।५।३।[4] ३।२।१०, टी. १३२१[8]।

[१४७२] तु. ऋ. विश्वदेव्यम् ३।२।५ (अग्नि का विशेषण १।१४८।१, बृहस्पति का ३।६२।४, पूषा का १०।९२।१३, सोम का ९।११०।१; तु. येनेमा विश्वा भुवनान्य् आभृता विश्वकर्मणा विश्वदेव्यावता (विश्वदेवमयेन सूर्येण) १०।१७०।४। 'विश्वदेव के लिए' अथवा 'विश्वदेवमय' दोनों ही अर्थ सम्भव। प्रथम अर्थ में 'जो विश्वदेव की ओर लिए जा रहे हैं'; यो विश्वेषाम् अमृतानाम् उपस्थे ७।५।१; त्वे विश्वे अमृता मादयन्ते १।५९।१।[1] तु. वैश्वानरो महिम्ना विश्वकृष्टिः १।५९।७, दमूनसम्... विश्वचर्षणिम्... मनुर्हितम् ३।२।१५।[2] ६।९।४-५, टी. ११७०[1]।[2] इतो जातो विश्वम् इदं विचष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण १।९८।१ (तु. ५।४।४; यहाँ शाकपूणि का मन्तव्य: 'न च पुनर् आत्मना त्मा संयतते [प्रति स्पर्धी होता है], अन्येनैवान्यः संयतते, इत इमम् आदधाति, अमुतोऽमुष्य रश्मयः प्रादुर्भवन्ति इतो ऽस्यार्चिषः तयोर् भासोः संसंगं दृष्ट्वैवम् अवक्ष्यत्', नि. ७।२१; अतएव सूर्य और वैश्वानर पृथक् हैं। ऋक् का भावार्थ है — वैश्वानर की दीप्ति सूर्य के समान है अर्थात् विश्वव्यापी आत्मचैतन्य की दीप्ति 'रवितुल्य' है, तु. (श्वे. ३।८), ७।१२।२।

[१४७३] ऋ. १।५९।५, ७।८।१, ६।८।४, ७।१; ३।२।१०, ३।८।[1] नाभिं यज्ञानाम् ६।७।२।[2] यंतारं धीनाम् ३।३।२।[3] असुरो विपश्चिताम् ३।३।४। ~~विपश्चित्~~ 'मनश्चित' 'विपश्चित्' मेधावी (३।१५) अर्थात् तत्त्ववेत्ता: तु. मनीषिणो ~~मेधिरासो~~ विपश्चितः ८।४३।१९, पतङ्गम् अक्तं असुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः १०।१७७।१ (टी. १३२२ ६) ८।११४, ६५।७, ९।१६।८। यहाँ भी यही अर्थ। किन्तु ऋक् संहिता में देवताओं के बारे में ही अधिक प्रयुक्त है — विशेष रूप से सोम के विशेषण के रूप में जो अतल

अतएव विशेष रूप से हम उनको आर्यों की ज्योति कहते हैं [१४८४] वे ही आधार से दस्युओं को विताड़ित करके आर्यों के लिए विपुल ज्योति प्रदान करते हैं,[1] विश्वचेतना की अनिबाध अनन्तता[2] को उजागर करते हैं, बृहस्पति रूप में मनुष्य को परमदेवता के सायुज्य में उत्तीर्ण करते हैं[3] अर्थात् बृहस्पति होकर परम देवता के साथ मनुष्य का अभेद भाव अथवा परम सौम्य स्थापित करते हैं।

आध्यात्मिक दृष्टि से कहा जाए तो हम अपने भीतर 'चित्ति' अथवा अंतर्मुखी विवेक चेतना द्वारा वैश्वानर का आविष्करण करते हैं यद्यपि उसके भी मूल में विश्व प्राण की प्रेषणा कार्य कर रही है [१४८५]। विप्र की सूक्ष्म दृष्टि के प्रकाश से आधार में उनकी महिमा का उन्मेष होता है।[1] कहा जा सकता है कि मन के विमर्श से शीर्ष में उनका आविर्भाव होता है अर्थात् वे साधक के सहस्रार में तेजोमय हो उठते हैं।[2] परम व्योम में ऋत के धामों में जो निगूढ़ रहस्य की ज्योति झिलमिला रही है, उसे वे जानते हैं।[3]

की आनन्दधारा है (तु. ८।१२।३, २२।३, ३३।१, ८६।३६, ४४, ८६।२२, १०१।१२)। अतएव कहा जा सकता है कि देवता का विशेषण ही ऋत्विक में उपचरित हुआ है। देवता का सायुज्य प्राप्त करने के कारण हृदय के प्रत्येक कम्पन (विप्) को जो जानते हैं, वे विपश्चित् हैं। उनकी ऊर्ध्वस्रोता चेतना बार-बार वैश्वानर की वारुणी चेतना में मिल जाती है। असुर वैश्वानर का वर्णन द्र. छा. ५।१८।[4] ऋ. ३।२।१२ (टी. १२२३[3]), ३।७।५ १।५९।६ (द्र. टी. १४६६[2])। [5] ७।६।३ (टी. १२००[2])। [6] विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरम् केतुम् (पताका) अह्नाम् अकृण्वन्, आ यस् ततानोषसो विभातीर् अपो ऊर्णोति (अपावृत करते हैं, हटा देते हैं) तमो अर्चिषा यन् (जाते-जाते) १०।८८।१२, वैश्वानर सूर्य रूप में; तु. 'अन्तर्वविद् अकृणोज्ज्योतिषा तमः' अन्तरालस्थित अन्धकार को ज्योति द्वारा दूर किया ६।८।३, ७।१, 'यो देह्यो अनमयद् वधस्नैर् यो अर्यपत्नीर् उषसश् चकार' — जिन्होंने प्रहरण द्वारा (प्रहार से) दीवारों को झुका दिया और उषाओं को ईश्वर-पत्नी बनाया (७।६।५; **देही** — घेर, परिधि, दीवार, तु. इन्द्र: ... शम्बरस्य वि नवतिं नव च देह्यो हन् ६।४७।२; अविद्या के निन्नानबे आवरण, तु. वेदान्त में 'कोश'; वैश्वानर ने तमिस्रा के आवरण को चीरकर प्रातिभ संवित् की अरुणिमा को प्रकट किया, उसे प्रज्ञान के सूर्य के साथ युक्त किया)।

[१४८४] ऋ. १।५९।२, टी. १३४८[1]। [1] त्वं दस्यूँर् ओकसो अग्न आज उरुज्योतिर् जनयन्न् आर्याय ७।५।६। [2] युष्मा देवेभ्यो वरिवश् चकर्थ १।५९।५। [3] ३।२६।२, टी. १३२९[1], १३४४।

[१४८५] तु. ऋ. आ दूतो अग्निम् अभरद् विवस्वतो वैश्वानरं मातरिश्वा परावतः (बहुत दूर से) ६।८।४, आ यं दधे (हमारे भीतर) मातरिश्वा दिवि क्षयम् (द्युलोक जिनका वास) ३।२।१३। [1] ३।३।२, द्र. टी. १३६०[3]; तु. ३।२६।१, टी. १३१३[2]। [2] तु. द्वे समीची बिभृतश् चरन्तं शीर्षतो जातं मनसा विमृष्टम्, स प्रत्यङ् विश्वा भुवनानि तस्थाव् अप्रयुच्छन् तरणिर् भ्राजमानः' — दोनों अच्छी तरह मिलकर वहन करते हैं उनको, जब वे चलते रहते हैं; शीर्ष से उत्पन्न हुए हैं वे, मन के विमृष्ट, विवेचित होकर; वे विश्वभुवन के सामने खड़े हुए — अप्रमत्त, सब का अतिक्रमण करके, देदीप्यमान होकर १०।८८।१६। वैश्वानर जब सूर्यरूप में मूर्द्धन्य चेतना में दीप्त होते हैं — उस समय का वर्णन है। 'द्वे', द्युलोक और भूलोक; वैश्वानर की दीप्ति से दोनों प्रकाशमान हैं, दोनों में कोई विरोध नहीं। 'शीर्षतो जातम्' तु. ६।१६।१३, टी. १३४९; मु. 'शिरोव्रत' ३।२।१०। [3] तु. इदम् उ त्यन् महि महाम् अनीकम् यद् उस्रिया सचत पूर्व्यं गौः, ऋतस्य पदे अधि दीद्यानं गुहा रघुष्यद् रघुयद् विवेद' — यही वह महत् ज्योतिःपुंज है महानों (बड़ों) का, जो आगे (चलते हैं)। और आलोकधेनु उनके साथ-साथ चलती हैं; ऋत के धाम में झिलमिला रही है जो गोपन (ज्योति) क्षिप्रस्यन्दी (क्षरणशील) और क्षिप्रगामी होकर उसको उन्होंने प्राप्त किया ४।५।९। 'उस्रिया गौः' अथवा आलोकधेनु उषा हैं, उषर्बुध् अग्नि उनके वत्स हैं, वे उनके साथ-साथ चलते हैं। यह अग्नि पार्थिव आधार में स्थित होने पर भी पुंजीभूत चित्शक्ति में 'रवितुल्य रूप' हैं (तु. १।११५।१, श्वे. ३।५)। वे परमव्योम की उसी ज्योति की ओर चल पड़े एवं उसे प्राप्त भी किया। प्रातिभ संवित् (उषा), अभीप्सा की शिखा (अग्नि वैश्वानर) एवं प्रज्ञान (सूर्य) इन तीनों का समाहार।

३ उसी गुहाहित को वे कवि-चेतना में मनीषा की दिव्य प्रभा से आलोकित करते हैं। ४ सप्तधा विच्छुरित उस बृहत् प्रगाढ़ ज्योति का गुरुभार लगता है साधक अब और वहन नहीं कर सकता। ५ जो उसने देखा है, जो जाना है और जिस ज्योति का द्वार खुल गया है उसके सामने, कैसे किसी को वह अपनी बात बतलाएगा। ६ लगता है इस रहस्य का ओर-छोर उसे नहीं मिला। अतः वह कातर दृष्टि से दूर दिगन्त की ओर निहारता रहता है कि कब अमृतमयी ज्योतिर्मयी उषाएँ सूर्य के प्रकाश से ~~उसके~~ आकाश को जगमग करेंगी।७

एक दिन वैश्वानर का आवेश उपासक की चेतना में पूर्ण सिद्ध होता है। उस दिन फिर देवता और मनुष्य में भेद नहीं रहता। तब ऋषिकंठ से यही ब्रह्मघोष ध्वनित होता है : 'मैं अग्नि हूँ, जन्म से ही सभी जातकों का वेत्ता हूँ - प्रदीप्त हैं मेरे चक्षु, अमृत है मेरे मुख में; अर्चि हूँ मैं तीनों धामों में — प्राणलोक को आच्छादित किए हूँ; मैं अजस्र दीप्ति हूँ, मैं ही हविः हूँ [१४७६]।' इस उक्ति में सर्वात्मभाव एवं ब्रह्म सायुज्य की भावना बहुत ही स्पष्ट है। 'ब्रह्म' प्रबुद्ध एवं परिव्याप्त काव्यचेतना में आविर्भूत दिव्यावाक् है तथा 'ब्रह्म' बृहत् की मंत्र चेतना है। अग्नि-उपासक के हृदय में वैश्वानर इसी ब्रह्म का पथ उन्मुक्त कर देते हैं।१ उल्लिखित मंत्र में उसका ही उल्लास है।

---

४ ऋ. ४।५।३ टी. १३२०७। ५ इदं मे अग्ने कियते पावकामिनते गुरुं भारं न मन्म, बृहद् दधाथ धृषता गभीरं यह्वं पृष्ठं प्रयसा सप्तधातु'— हे अग्नि, हे पावक, मेरी शक्ति ही कितनी (तब भी तुम्हारा व्रत) लंघन नहीं किया; ऐसे मुझमें तुमने गुरुभार की तरह निहित किया है अपनी धर्षक (उत्पीडक) प्रीति के साथ यह मनन — जो बृहत है, गहरा है, जो दुर्दम्य है, सर्वव्यापी है, जिसके सात धाम हैं ४।५।६। 'मन्म' मनन, मंत्र, कविहृदय का ज्योतिरुच्छ्वास। 'धृषता प्रयसा' देवता के प्रेम या अनुराग का वह आक्रमण जो हम सब को अभिभूत करता है। 'पृष्ठम्' < √स्पृश + थ (नि. ४।३।२) समतल भूमि का प्रतीक, जिस प्रकार 'नाकस्य पृष्ठम्' यहाँ पृष्ठ भाग या पीठ की की तरह व्याप्त'। 'सप्तधातु', तु. 'विष्णु का सप्तधाम' (ऋ. १।२२।६) यज्ञ का (८।१०२।२), अग्नि का (४।७।५); मनन का सप्तधाम उसका ही अनुगत। ६ 'प्रवाच्य वचसः किं मे अस्य गुहा हितम् उप निर्णिग् वदन्ति, यद् उस्रियाणाम् अप वार् इव व्रन् पाति प्रियं रुपो अग्रं पदं वेः' — (सब से) क्या कहूँगा मैं उस बात को लेकर, वे जिस गुहाहित का (आभास) मुझसे चुप-चुप कह गए, तो क्या आलोकधेनुओं का (रहस्य) द्वार की तरह खोल दिया? वे रखवाली करते हैं पृथिवी के प्रिय (धाम) और पक्षी के परम पद की ४।५।८। 'अस्य वचसः' अग्नि जो बात मुझसे कह गए हैं, तु. २ (टी. १३२०)। उस रहस्य को बाहर किसी के निकट प्रकट नहीं किया जाता। 'गुहा हितम्' तु. गोर् अपगूळ्हं पदम् (३) अर्थात् परावाक् का रहस्य। अग्नि के उद्दीपन से ही वाक् का दर्शन एवं श्रवण, उसके बाद मंत्र में उसका स्फुरण होता है। निर्णिक — तु. 'निण्य' गोपन < निर् √नी > 'निर्णय' जिसे भीतर से बाहर लाया जाए। तो फिर निर्णिक् < निर् √नी + इज्, त्रि. विण. चुप-चुप। 'वदन्ति' अग्निशिखाएँ, क्योंकि इसके पहले हैं 'अग्निः ... प्र ... वोचत्' (३)। उस्रियाणां [पदम्] तु. गोः पदम् (३)। अग्नि पृथिवी स्थान देवता हैं, इसलिए पृथिवी उनका 'प्रिय' धाम है। किंतु वैश्वानर रूप में उनका ऊर्ध्वाभिसरण आलोकपाखी (ज्योति विहग) सूर्य के परम धाम की ओर। वे दोनों के ही 'पाता' अथवा रक्षक हैं। ७ 'क्व मर्यादा वयुना कद् ध वामम् अच्छा गमेम रघवो न वाजम्, कदा नो देवीर् अमृतस्य पत्नीः सूरो वर्णेन ततनन्न् उषासः'— कहाँ है सीमा और पथ, उस प्यार का धन क्या है, जिसकी ओर भागूँगा, घोड़ा जैसे (भागता है) ओजःसम्पद की ओर? कब अमृत की दिव्य स्वामिनी उषाएँ सूर्य की छटा से हम सब को आच्छादित करेंगी? ४।५।१३। 'मर्यादा' सीमा; वस्तुतः 'उरौ अनिबाधे' हम सब के विहार, विचरण की कोई सीमा नहीं। 'वामम' < √ 'प्यार करना, अर्जन करना चाहना और पाना दोनों ही' काम्य धन। 'वाजम्' जयलब्ध सम्पत्ति के लिए संवेग और ओजस्विता की आवश्यकता। घुड़दौड़ की उपमा। [१४७६] ऋ. अग्निर् अस्मि जन्मना

वैश्वानर का यह व्यक्त रूप है। फिर वे अव्यक्त अँधेरे में भी हैं, उस अँधेरे के सामने भय से विश्वदेवता नत हो जाते हैं [१४७७]। ये वही 'महाविनाश' हैं जिसमें विश्वभुवन की आहुति से सृष्टि का निर्वाण या लय होता है।[१] वैश्वानर सृष्टि और प्रलय दोनों ही हैं — मातरिश्वा के रूप में वे जिस प्रकार सृष्टि के प्रथम प्राणस्पन्द हैं[२] उसी प्रकार वे महानिशा में संहृत भुवन की मूर्द्धन्य चेतना हैं।[३]

वैश्वानर की इस व्याख्या के साथ ऋक्संहिता के हिरण्यगर्भ, वाक्, विश्वकर्मा और पुरुष की व्याख्या तुलनीय [१४७८]। सब ही उस एक भुवनेश्वर की वन्दना है जिसे हम औपनिषद 'पुरुष' के रूप में जानते हैं जो, भीतर-बाहर अवस्थित हैं और यह सब जो कुछ है, वे ही हुए हैं।

संहिता में वैश्वानर का यही परिचय प्राप्त होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर उनका उल्लेख है। वहाँ बार बार उनको संवत्सर रूप में प्रजापति कहा जा रहा है [१४७९]। द्रविणोदा अग्नि के प्रसंग में संवत्सरव्यापी ऋतुचक्र का आवर्तन-रहस्य इसके पूर्व आलोचित हुआ है। वसन्त में प्राण का उन्मेष और शिशिर में उसका निमेष होता है। ऋतुचक्र की इस धुरी परिक्रमा में हम काल के छन्द में प्रजापति के विश्वरूप का एक आवर्तन देखते हैं।

जातवेदा घृतं मे चक्षुर् अमृतं म आसन्, अर्कस् त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो घर्मो हविर् अस्मि नाम ३।२६।७। सूक्त के अन्तिम तृच की पहली ऋचा का विनियोग अग्निचयन के समय संचित अग्नि की प्रशस्ति में (आश्वलायन श्रौ. ४।८)। अग्निचयन पुरुषसूक्त में उल्लिखित देवयज्ञ की अनुकृति है — मेरी आत्माहुति से विश्वसृष्टि। अग्निवेदि विश्व का प्रतिरूप है, उसके भीतर मैं ही हिरण्यपुरुष के रूप में हूँ। इस दृष्टि से इस मंत्र को ब्रह्मसायुज्य के बीज के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। कात्यायन के विचार से तृच के प्रथम दो मंत्र आत्मस्तुति भी हो सकती हैं, अन्त का मंत्र उपाध्याय अथवा आचार्य की स्तुति। सम्पूर्ण तृच में जीवन्मुक्त का वर्णन है — प्रथम दो मंत्रों में उनका ब्रह्मघोष और अन्तिम मंत्र में प्रशस्ति है। याज्ञिकों के मतानुसार प्रथम दोनों ऋचाओं के देवता अग्नि हैं। आध्यात्मिक दृष्टि सिद्धों की है और आधियाज्ञिक दृष्टि साधकों की है। 'घृतम्' इदानीम् अत्यन्तं दीप्तम्- सा.। 'अमृतं म आसन्' जिस प्रकार वे सर्वद्रष्टा हैं उसी प्रकार सर्वभोक्ता भी हैं। वे 'मध्वद' (तु. १।१६४।२२) अथवा 'पिप्पलाद' (२०) हैं अर्थात् अनुकूल अथवा प्रतिकूल जिस किसी भी अनुभव में 'अङ्गुष्ठमात्र पुरुष' रूप में अमृत का आस्वादन प्राप्त करते हैं, 'अर्कः' सा. 'प्राण' तु. शब्रा. १०।६।२।७, ४।१।२।३। ॥ 'अर्चिः' अतएव आग का सुर'। 'त्रिधातुः' प्रज्वलित हो रहे हैं इन तीन धामों में: पृथिवी में अग्नि रूप में अन्तरिक्ष में विद्युत रूप में और द्युलोक में सूर्य रूप में। 'घर्मः' दीप्ति, प्रकाशात्मा — सायण। 'हविः' — तु. सा. भोक्तृभोग्य भावेन द्विविधं हीदं जगत् एतावद् वा इदं सर्वम् अन्नं चैवान्नादश् च सोम एवान्नम् अग्निर् अन्नाद (बृ. १।४।६) इति श्रुतेः। मैं अग्नि हूँ, मैं ही हविः हूँ। इसलिए मैं ही स्वयम् का भोग करता हूँ। यह सर्वात्मभाव ही अग्निचयन का परिणाम है।[१] तु. ऋ. वैश्वानर ब्रह्मणे विन्द गातुम् ७।१३।३।

[१४७७] ऋ. विश्वे देवा अनमस्यन् भियानास् त्वाम् अग्ने तमसि तस्थिवांसम् ६।९।७। अग्नि गुहाहित हैं, अव्यक्त की तमिस्रा में अन्तर्गूढ। ज्योति के देवता वहाँ जाने से डरते हैं। फिर विपरीत क्रम में वह तमिस्रा ही ज्योति का उत्स है।[१] यं देवासो अजनयन्ताग्निं यस्मिन्न् आजुहवुर् भुवनानि १०।८८।९।[२] तु. ३।२९।२।[३] १०।८८।६।

[१४७८] द्र. ऋ. १०।१२१, १२५, ८१-८२, ९० सूक्त।

[१४७९] द्र. श. संवत्सरो वै पिता वैश्वानरः प्रजापतिः १।५।१।१६, ५।२।५।१४, ६।२।१।३६, ६।६।१।५, २०, ७।३।१।३५; ऐ. ३।४१; तै. १।७।२।५...।[१] ४।२।४।१; ४।[२] तु. ऋ. 'मातरिश्वा'॥ 'वैश्वानर' ३।२९।२।[३] श. ३।८।५।४; तै. ३।८।६।२, ९।१७।३।

संवत्सर बार-बार घूम-फिर कर आता है। उस एक ही विश्वरूप को बार-बार देखते हैं और उसके अनुध्यान में विश्वमूल प्राण के छन्द को आयत्त करके अध्यात्म चेतना का प्रसार करते हैं। ज्योतिर्विज्ञान की दृष्टि से यह वैदिक साधना की एक धारा है। इस विज्ञान के माध्यम से संवत्सर को प्राण के स्पन्दन के रूप में जानने पर ही सृष्टि के मूल को जाना जा सकता है। यज्ञ-रहस्य के साथ इस काल-विज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यज्ञ, चेतना का उत्तरायण अथवा ऊर्ध्वमुखी क्रमिक अभियान है जो आदित्यायन के छन्द में छन्दित है। सृष्टि अथवा प्राजापत्य व्रत आदित्यायन की विभूति है। अतएव ब्राह्मण ग्रन्थों में 'प्रजापति', 'संवत्सर', 'यज्ञ' ये सब ही समानार्थक हैं। वहाँ वैश्वानर को संवत्सर प्रजापति कहे जाने पर हम उनको यज्ञेश्वर पुरुष के रूप में पाते हैं। अन्यत्र संवत्सर रूपी 'प्राण' एवं 'आयु'[1] कह कर भी उनका वर्णन किया गया है।[2] इसके अतिरिक्त द्युलोक की अग्नि को पृथिवी पर उतार लाने के कारण ब्राह्मणों के मतानुसार 'यह पृथिवी ही अग्नि वैश्वानर है, और वही प्रतिष्ठा है', अर्थात् यहाँ जो कुछ है सब ही वैश्वानर है।

ब्राह्मणों में आध्यात्मिक दृष्टि से वैश्वानर 'तनूपाः' अग्नि हैं [१४८०]। अग्नि का यही विशेषण ऋक् संहिता में भी है।[1] वे हमारे आधार के रक्षक हैं; उनका ताप ही हम सब का प्राण है, हमारी चेतना है। साधना की दृष्टि से वे 'शिवः' अर्थात् मूर्द्धन्य चेतना की दीप्ति हैं।[2] यहाँ ही अग्नि-सोम के मेल से शरीर योगाग्निमय होता है।[3] फिर यही अग्नि वैश्वानर हम सब के भीतर रहकर अन्न का परिपाक करते हैं।[4] अन्त में ब्राह्मणग्रन्थों में ब्राह्मण अथवा ब्रह्मवित् पुरुष को भी वैश्वानर कहा गया है।[5]

छान्दोग्योपनिषद में वैश्वानर विद्या का प्रसंग है जिसके बारे में पहले ही बतलाया गया है [१४८१] यह प्रसंग शतपथ ब्राह्मण में भी प्राप्त होता है, किन्तु दोनों की व्याख्या में कुछ अन्तर है। दोनों जगह विद्या के प्रवक्ता अश्वपति कैकेय हैं, लेकिन विद्यार्थियों में प्राचीनशाल औपमन्यव की जगह ब्राह्मण ग्रंथ में महाशाख जाबाल हैं। ब्राह्मण का विवेचन बहुत कुछ संक्षेप में है, वहाँ प्राणाग्निहोत्र का अनुशासन नहीं है। और फलश्रुति में है: 'यो वा एतं वैश्वानरं ... वेदाप पुनर्मृत्युं जयति सर्वम् आयुर् एति।' यह उपनिषद में नहीं है।

अग्नि का संक्षिप्त परिचय यहाँ ही समाप्त हुआ।

[१४८०] श. ३।२।२।२३; तैआ. २।५।३। [1] साधारणतः ऋ. ८।७१।१३, १०।४६।१, ६९।४; वैश्वानर का विशेषण १०।८८।८। [2] श. ६।६।१।१८, ७।३।१।१७; 'शिरोव्रत'। [3] उसका संकेत, चित्त की एकाग्रता से आधार में ताप की उत्पत्ति एवं उसके साथ व्याप्ति-भावना के फलस्वरूप स्निग्धता का अनुभव। दोनों के मिलन से देह चेतना में अग्नि-सोम का युगलविलास। [4] तु. श. अयम् अग्निर् वैश्वानरो यो अयम् अन्तःपुरुषे, येनेदम् अन्नं पच्यते यद् इदम् अद्यते १४।८।१०।१ (बृ. ५।९।१)। [5] तैब्रा. २।१।४।५, ३।७।३।२।

[१४८१] [1] श. १०।६।१।

[१४८२] द्र. नि. ७।८-११। 'भक्ति' भजना (विभाजन) घनिष्ठ सम्बन्ध। [1] नि. ७।५। [2] नि. ७।८।२। 'स्तोम', द्र. वेमी. प्रथम खण्ड। [3] नि. ११।१३, १२।३५। [4] द्र. टीयू. १२८७; नि. ७।८।२, तत्र दुर्ग; उद्दिष्ट संज्ञाओं में बहुवचन लक्षणीय।

२२८

६- आप्री देवगण

सामान्यतया देवताओं का परिचय देते हुए यास्क ने उनकी 'भक्ति' 'साहचर्य' एवं 'कर्म' के बारे में बात की है [१४८२]। निरुक्तकारों की दृष्टि में वस्तुत: तीन देवता — पृथिवी स्थान अग्नि, अन्तरिक्ष स्थान वायु या इन्द्र और द्युस्थान सूर्य हैं।[१] प्रत्येक देवता की भक्ति इत्यादि पृथक-पृथक है। उसमें अग्नि भक्ति (विभाजन) इस प्रकार है: लोकों में पृथिवी, सोमयाग के तीन सवनों में प्रात: सवन, ऋतुओं में वसन्त, छन्दों में गायत्री, स्तोमों में त्रिवृत्, सोम में रथन्तर, प्रथम स्थान में गिनाए गए देवगण एवं अग्नायी, पृथिवी और इला यही तीन स्त्री देवता हैं।[२] किन्तु यास्क ने विशेष रूप से जिस प्रकार अन्तरिक्ष स्थान एवं द्युस्थान देवगण का उल्लेख किया है[३], उस प्रकार पृथिवी स्थान देवगण का उल्लेख नहीं किया। दुर्ग अपनी व्याख्या में पृथिवी स्थान देवगण के 'आप्रय:, अक्षा: ग्रावाण:, अभीषव:' इत्यादि का उदाहरण देते हैं। इसमें आप्रीगण ही प्रधानत: देवतापद वाच्य हैं; अन्यत्र पार्थिव वस्तुओं में देवत्व का आरोप मात्र है। वैदिक भावना में आप्रीदेवगण के महत्व की ओर दृष्टि रखकर कहा जा सकता है कि आप्री देवगण ही मुख्यत: पृथिवी स्थान देवगण हैं।[४]

~~ऋग्वेद में~~ आप्रीदेवगण के सम्बन्ध में रचित आप्री सूक्तों को एक विशेष मर्यादा एवं स्थान प्राप्त है। ऋक् संहिता के विभिन्न मण्डलों में कुल दस आप्री सूक्त हैं। इनमें प्रत्येक सूक्त एक-एक ऋषि के वंश में प्रचलित था। जिसमें प्रथम मण्डल के तीन सूक्त क्रमश: मेधातिथि, दीर्घतमा एवं अगस्त्य के हैं; दशम मण्डल के दो सूक्त वाध्र्यश्व सुमित्र और जमदग्नि के हैं; और बाकी पाँच सूक्त गृत्समद, विश्वामित्र, वसुश्रुत आत्रेय, वासिष्ठ एवं कश्यप असित अथवा देवल के हैं [१४८३]। प्रत्येक यजमान के पक्ष में अपने-अपने गोत्र प्रवर्तक ऋषि के आप्री सूक्त का प्रयोग करना ही प्राचीन विधि है।[१] किन्तु आश्वलायन का कथन है कि गृत्समद एवं वासिष्ठ गोत्र के अतिरिक्त अन्य सभी जमदग्नि का आप्री सूक्त भी व्यवहार में ले सकते हैं। विशेषतया प्राजापत्य पशुयाग में यह सूक्त ही सार्वजनीन है।[२] यास्क ने भी आप्री सूक्त के प्रसंग में इस सूक्त को ही आदर्श मानकर उसकी व्याख्या की है।[३]

दो सूक्तों को छोड़कर प्रत्येक सूक्त में ग्यारह ऋक् हैं। प्रत्येक ऋक् के अलग-अलग देवता हैं और वे सब क्रमबद्ध हैं। क्रमानुसार उनके नाम इस प्रकार हैं:- १- समिद्ध:, २- नराशंस: अथवा तनूनपात् ३- इल:,

---

[१४८३] ऋ. सूक्त १।१३, १४२, १८८; १०।७०, ११०; २।३, ३।४, ५।५, ७।२, ९।५। ल. आर्षमण्डलों में वामदेव एवं भारद्वाज के दो मण्डलों में आप्री सूक्त नहीं है, क्यों? ९।५ सूक्त में अग्नि, पवमान सोम के साथ मिश्रित हैं; द्र. टी. १३५८[४]। [१] द्र. ऐ.ब्रा.- ताभिर् यथऋष्य आप्रीणीयाद्, यद् यथाऋष्य् आप्रीणाति यजमानम् एव तद् बन्धुतयानो-त् सृजति २।४। [२] आश्वलायन श्रौ. ३।२।५-७। द्र. ऐ.ब्रा. 'स (साग्निचित्य द्वादशाह यागे) पुरस्ताद् दीक्षाया: प्राजापत्यं पशुम् आलभते। ... तस्या प्रियो जामदग्न्यो भवन्ति। तद् आहुर् यद् अन्येषु पशुषु यथऋष्य आप्रियो भवन्त्य् अथ कस्माद् अस्मिन् सर्वेषां जामदग्न्य: ~~एवेति~~। सर्वरूपा वै जामदग्न्य: सर्व समृद्धा: ४।२६; तु. श.ब्रा. १३।२।२।१४। [३] नि. ८।५-२१।

४- बर्हिः, ५- देवीर्द्वारः, ६- उषासानक्ता, ७- दैव्यौ होतारौ प्रचेतसौ, ८- सरस्वतीला-भारत्यः, ९- त्वष्टा, १०- वनस्पतिः, ११- स्वाकृतयः। द्वितीय देवता के लिए विकल्प हैं। मेधातिथि और दीर्घतमा के आप्री सूक्त में नराशंस और तनूनपात् इन दो देवताओं के लिए ही एक एक मंत्र है जिसके कारण प्रथम सूक्त में बारह एवं दूसरे में अन्त के एक ऐन्द्री ऋक् को लेकर तेरह मंत्र हैं [१४८४]। उसी प्रकार से प्रैषिक सूक्तों में भी बारह मंत्र हैं। वसिष्ठ, आत्रेय, वाध्र्यश्व और गृत्समद के आप्री सूक्तों के द्वितीय देवता केवल नराशंस हैं, बाकी चार के आप्री सूक्त में केवल तनूनपात् हैं।[1]

'आप्री' संज्ञा की ये तीन व्युत्पत्तियाँ हैं — ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार आप्री 'याज्या' अथवा याग के मंत्र हैं। इन सब मंत्रों का पाठ करके देवता को प्रीत करने, सन्तुष्ट करने के कारण इनकी संज्ञा 'आप्री' है। ये तेज एवं 'ब्रह्मवर्चस' अथवा बृहत् की भावना जनित दीप्ति हैं [१४८५]। शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि 'पूरे मन से अथवा आत्मा से जो यज्ञ का आयोजन करता है और स्वयं को संकुचित कर लेना या समेट लेना चाहता है तो सम्भवतः वह यज्ञ में दीक्षित होता है। उसकी आत्मा लगता है रिक्त हो जाती है। तब इन आप्री मंत्रों से उस आत्मा को आप्यायित किए जाने के कारण ही उनकी संज्ञा या नाम आप्री है।' अन्त में यास्क की व्युत्पत्ति के अनुसार 'आप् (पाना) आ प्री (प्रीत करना) धातु से' आप्री संज्ञा हुई।[2] वस्तुतः आप्री ऋक् का विशेषण है एवं उसी से देवता का भी विशेषण है।[3] यास्क ने इस संज्ञा को दोनों अर्थों में प्रयोग किया है।[4]

[१४८४] मंत्र संख्या बारह होने पर उसका तात्पर्य निश्वास भावना से है। तु. अग्निचयन के प्रसंग में शब्रा. 'द्वादशाप्रियः। द्वादश मासाः संवत्सरः। संवत्सरो अग्निः।... द्वादशाक्षरा जगती; इयं वै जगती, अस्यां हीदं सर्वं जगत्, इयम् उ वा अग्निः।... जगती सर्वाणि छन्दांसि, सर्वाणि छन्दांसि प्रजापतिः, प्रजापतिर् अग्निः' ६।२।१।२८-३०। इन्द्र ज्योतिर्मय विश्वप्राण के साथ नित्य युक्त शुद्ध मन के देवता हैं। पशुयाग प्राण को ऊर्ध्वायित या उदात्त करने की साधना है। इसलिए उसमें इन्द्र की प्रमुखता का होना स्वाभाविक है। यजुः संहिता के अनेक आप्रीसूक्तों में वही है। [1] नि. ८।२२।१२

[१४८५] ऐब्रा. आप्रीभिर् आप्रीणाति (तु. ऋ. प्रीणन् वृषा कनिक्रदत् ७।५।१; यह आप्री सूक्त का है)। ऐब्रा. तेजो वै। तेजो वै ब्रह्मवर्चसम् आप्रियः २।४।१ शब्रा. 'तद् यद् आप्रीभिश् चरन्ति, सर्वेणेव वा एष मनसा सर्वेणात्मना यज्ञं सम्भरति सं च जिहीर्षति यो दीक्षते। तस्य रिरिचान इवात्मा भवति। तम् एताभिर् आप्रीभिर् आप्याययन्ति। तद् यद् आप्याययन्ति, तस्माद् आप्रियो नाम' ३।८।१।२। किन्तु काण्वशाखा का पाठ है,— 'स यद् एताभिर् आप्रीभिः पुनर् आप्यायत एताभिर् एनम् आप्रीणाति, तस्माद् आप्रियो नाम।' तु. ज़ेन्द *âfrinaiti*। शब्रा. की व्युत्पत्ति आक्षरिक नहीं बल्कि निगूढ़ तात्पर्य के बोध को उजागर करती है। इस प्रकार का व्युत्पादन अध्यात्मशास्त्र की एक सुपरिचित पद्धति है। ये भावना के सहायक हैं, शब्द विज्ञान के नियम द्वारा इन पर विचार करने से काम नहीं चलता। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार:— 'यजमान के रिक्त आत्मा का आप्यायन अथवा आपूरण आप्रीसूक्त द्वारा होता है क्योंकि ये सारे सूक्त प्राण की मंत्रमाला हैं इसलिए उनकी ऋक् संख्या ग्यारह है। और आत्मा का बहिर्प्रकाश प्राण में है।' [2] नि. 'आप्रियः कस्मात्? आप्नोतेः प्रीणातेः

. आप्री सूक्त के देवता यज्ञाङ्ग हैं न कि अग्नि, इसे लेकर यास्क ने सम्प्रदाय गत मतभेदों का उल्लेख किया है। कात्थक्य का कथन है कि 'इध्म वस्तुत: यज्ञ का इन्धन है'; 'तनूनपात' आज्य है अर्थात तनू गाय है, उसके दूध से आज्य होने के कारण वह उसका नाती हुआ; 'नराशंस' यज्ञ का ही एक और नाम है, क्योंकि सारे नर उसमें आसीन होकर देवता का शंसन करते हैं अथवा प्रशस्ति-पाठ करते हैं; 'द्वार:' यज्ञगृह का द्वार है; 'वनस्पति' यूप इत्यादि है किन्तु शाकपूणि का कथन है कि इन सब से ही अग्नि का बोध होता है [१४८६]। इस मतभेद के भीतर परवर्ती युग के कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड में विरोध का आभास मिलता है। वेदार्थमीमांसा में रहस्य-प्रस्थान और उपनिषत् प्रस्थान के बीच सूक्ष्म भेद का भी मूल यही है। यास्क निश्चित रूप से शाकपूणि के मत का समर्थन करते हैं।

आप्री सूक्त के मंत्रों का विनियोग पशुयाग के प्रयाज में होता है यह पहले ही बतलाया जा चुका है [१४८७]। अत: आप्री देवगण पशुयाग के प्रयाज के देवता हैं। पशुयाग दो प्रकार के होते हैं। एक स्वतंत्र है, उसका नाम 'निरूढ पशुबन्ध' है; और कई तो सोमयाग का अंग होने के कारण 'सौमिक' कहलाते हैं।[१] निरूढ पशुबन्ध आहिताग्नि को आजीवन प्रतिवर्ष एक बार करना ही होता होता है। इसके अतिरिक्त दो बार भी किया जाता है अथवा छ: बार भी किया जाता है। एक बार करने के लिए वर्षाकाल में श्रावण अथवा भाद्र की अमावस्या अथवा पूर्णिमा में करना चाहिए; दो बार करने के लिए दक्षिणायन एवं उत्तरायण के आरम्भ में करना पड़ता है और छ: बार करने के लिए प्रत्येक ऋतु में करना होता है। पशु प्राण का प्रतीक है। पशुयाग को संवत्सर के ऋतुचक्र के साथ बाँध देने का तात्पर्य ऋतच्छन्दा विश्वप्राण की अनुकूलता को आत्मोन्नयन के कार्य में लगाना है। शतपथ ब्राह्मण का कथन है, 'पुरुष के भीतर दश प्राण हैं और एकादश आत्मा, जिसमें सारे प्राण प्रतिष्ठित हैं। यही सम्पूर्ण अखण्ड पुरुष है। इस प्रकार उसकी समस्त आत्मा को आप्यायित किया जाता है। उसी से प्रयाज ग्यारह हुए।'[२] इसलिए पशुयाग प्राणोपासना का ही नामान्तर है एवं आप्रीसूक्त का भी वही तात्पर्य है।[३]

वा' ८।४। इसके बाद यास्क ने ऐतरेय ब्राह्मण के कथन का उल्लेख किया है। आप धातु से व्युत्पत्ति का कोई प्रमाण उन्होंने नहीं दिया। किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण के भाष्य में सायण शाखान्तर के कथन का उद्धरण देते हैं, 'आप्रीभिर् आप्नुवन्, तद् आप्रीणाम् आप्रीत्वम्' (तैब्रा. २।२।८।६)। ऋक् संहिता में 'आप्री' शब्द नहीं है किन्तु एक स्थान पर है 'आप्रस्य वक्मनि' (१।१२२।२)। सायण ने उसका अर्थ दिया है 'आपनशीलस्य इतस् ततो व्याप्तस्य शूरस्य'; Geldner कहते हैं जिस प्रकार 'गायत्री ॥ गायत्र' उसी प्रकार 'आप्री ॥ आप्र', अर्थात् है प्रीतिसाधक यजमान का बोधक है। अनुक्रमणिका में 'आप्री' एवं 'आप्र' दोनों ही संज्ञाएँ हैं (१।१३)। देवताओं की प्रशस्ति को जिस प्रकार 'शंस' कहा जाता है उसी प्रकार उनकी प्रीतिसाधक मंत्रमाला को भी 'आप्री' कहा जा सकता है। इसलिए ऐतरेय ब्राह्मण की व्युत्पत्ति ही संगत है (द्र. शांब्रा. १०।२; तु. शब्रा. ३।८।१।२, ६।२।१।२८, ३१, ११।८।३।५, १३।२।२।१४; ताब्रा. १५।८।२, १६।५।२३)। [३] तु. नि. दुर्ग: 'आप्रिय ऋच:, तत् सम्बन्धात् देवता अपि।' ... ऋचस् तावत् आप्नुवन्ति प्रीणन्ति वा देवता इति आप्रिय। अथ पुनर् देवता आप्यन्ते आप्रीयन्ते वा इत्य् आप्रिय: ८।४।२। [४] नि. ८।४।१, २१।२, २२।१३।

[१४८६] द्र. नि. ८।५, ६, १०, १४, १७।

[१४८७] द्र. टी. १४२०। [१] आश्वलायन श्रौ. ३।८।३-४। [२] शब्रा. दश वा इमे पुरुषे प्राणा: आत्मैकादशो अस्मिन् एते प्राणा: प्रतिष्ठिता:। एतावान् वै पुरुष:। तद् अस्य सर्वम् आत्मानम्—

इन ग्यारह प्रयाजों में प्रथम दश में हव्य आज्य है और अन्तिम प्रयाज का हव्य पशु की 'वपा' (चरबी) अथवा नाभि के पास का मेद है। नाभि अग्नि का स्थान है एवं वपा सहजदाह्य है — यही संकेत अनुधावन योग्य है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार प्रश्न होगा कि कौन-कौन देवता स्वाहाकृति हैं? उत्तर होगा, विश्वदेवगण (अर्थात् विश्व की समष्टि चित्‌शक्ति)। ... यह वपाहुति ही अमृताहुति है ... एवं अध्यात्मशक्ति के रूप में अशरीरा है ... इसलिए वपाहुति से सम्पूर्ण यजमान को संस्कृत, शोधित कर के देवयोनिरूप अग्नि में आहुति दी जाती है ... और उसके कारण यजमान समस्त आहुति के परिणामस्वरूप हिरण्यशरीर होकर ऊपर स्वर्गलोक में चले जाते हैं [१४८८]।' यहाँ पशु वस्तुतः यजमान का निष्क्रय या रक्षा-शुल्क है; अर्थात् स्वयं को प्रत्यक्षतः आहुति न दे सकने के कारण प्रतिनिधि-रूप में पशु की आहुति देना।¹ इसलिए पशुबलि आत्मबलि का ही नामान्तर है, द्रव्ययज्ञ, ज्ञानयज्ञ का प्रतीकमात्र है।

वैदिक यज्ञ में पशुबलि का कर्म अधिक मात्रा में था, यह धारणा सही नहीं है। आहिताग्नि का अवश्यकरणीय निरूढपशुबन्ध वर्ष में अधिक से अधिक छः बार करना सम्भव था और उसमें केवल एक पशु की आवश्यकता होती। सोमयाग में एकाधिक पशु की आवश्यकता होने पर भी उसकी संख्या निर्धारित थी; इच्छानुसार उसे बढ़ाने का उपाय नहीं था। इसके अतिरिक्त सोमयाग जटिल व्ययसाध्य क्रिया है, उसे सम्पन्न करना सब के लिए सम्भव भी नहीं होता। आश्वलायन कथित दोनों काम्य पशुयाग के सम्बन्ध में भी यही बात है [१४८९]। सब मिलाकर वैदिक यज्ञ में पशुवध के सम्बन्ध में ऐसा एक संयम था लेकिन परवर्ती युग के रक्तकर्दम में ही उसका अभाव दिखाई देता है।

प्रयाज और अनुयाज के देवताओं के साथ आप्रीदेवगण का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए आप्रीदेवगण के प्रसंग में इनका भी स्वरूप क्या है उसके बारे में यास्क ने कुछ विवेचन किया है [१४९०]। ब्राह्मण के कथनानुसार

आप्ययन्ति। तस्माद् एकादश प्रयाजा भवन्ति (पशुयाग में) ३।८।१।३। २ तु. ऐब्रा. 'यजमानो वा एष निदानेन (सूक्ष्मदृष्टि निरूपणेन-सा.) यत् पशुः (पशुना स्वात्मनो निष्क्रीतत्वात् पशोर् यजमानत्वम्)। अनेन ज्योतिषा (पशोः पुरतो नीयमानोल्मुकेन) यजमानः पुरो ज्योतिः स्वर्गं लोकम् एति' २।११। इस पुरोज्योति के साथ तु. उपनिषद का 'हृदप्रद्योत' बृ. ४।४।२। द्र. टी. १४८७।

[१४८८] ऐब्रा. 'तद् आहुः, का देवता स्वाहाकृतय इति। विश्वे देवा इति ब्रूयात्। ... सा वा एषामृताहुतिर् एव यद् वपाहुतिः। अमृताहुतिर् अग्न्याहुतिः (आतिथ्यकर्मसु मथितस्याग्नेर् आहवनीयाग्नौ प्रक्षेपरूपा-सा.), अमृताहुतिर् आज्याहुतिः, अमृताहुतिः सोमाहुतिः। एता वा अशरीरा आहुतयः। या वै काश् अशरीरा आहुतयः, अमृतत्वम् एव ताभिर् यजमानो जयति। ... स यावान् एव पुरुषस्, तावन्तं यजमानं संस्कृत्याग्नौ देवयोन्यां जुहोति। अग्निर् वै देवयोनिः सोऽग्नेर् देवयोन्या आहुतिभ्यः सम्भूय हिरण्यशरीर ऊर्ध्वः स्वर्गं लोकम् एति,' २।१३-१४। रक्त-मांस ही शरीर है, वह वपा अथवा रेतः नहीं। ¹द्र. टी. १४८६। यज्ञ की प्रतिष्ठा या संस्थापन निष्क्रयवाद के ऊपर। समस्त आहुति ही आत्माहुति की प्रतिनिधिस्थानीय। तु. ऐब्रा. 'सर्वाभ्यो वा एष देवताभ्य आत्मानम् आलभते, यो दीक्षते। ... स यद् अग्निषोमीयं पशुम् आलभते, सर्वाभ्य एव तद् देवताभ्यो यजमान आत्मानं निष्क्रीणीते' २।३। मरने के बाद शरीर को चिता की अग्नि में आहुति देना ही कहा जाए तो यथार्थ आहुति है। वही 'अन्त्या इष्टि' है।

[१४८९] द्र. श्रौ. ३।७।८; एक में पशुसंख्या ग्यारह और एक में अठारह। काम्य पशुयाग

उन्होंने दिखाया है कि दोनों याग के देवता कहीं छन्द, ऋतु, अथवा पशु हैं और कहीं प्राण अथवा आत्मा। उनके अपने सिद्धान्त के अनुसार यहाँ देवता वस्तुतः अग्नि हैं अन्यान्य मत 'भक्तिमात्र' अर्थात् गौण हैं। इस सिद्धान्त के पोषण में जिस प्रकार ब्राह्मणोक्त वचन का उद्धरण दिया है उसी प्रकार ऋक् संहिता से भी दिखाया है कि सौचीक अग्नि विश्वदेवगण के निकट प्रयाज और अनुयाज इन दोनों याग के अधिकार की माँग करते हैं, देवता भी उनकी माँग को स्वीकार करते हुए कहते हैं 'तव प्रयाजा अनुयाजाश्च'। पहले ही हमने देखा है कि सौचीक अग्नि अजर अमर तुरीय अग्नि हैं, प्राणसमुद्र की अतलता में निहित दिव्य अभीप्सा का सिद्धरूप हैं। प्रयाज और अनुयाज उनके ही अधिकार में हैं अर्थात् समस्त यज्ञ ही उनका है, — संहिता की यह उक्ति परम्पराक्रम से आप्रीदेवगण के आग्नेयत्व का ही समर्थन करती है।

यास्क के उल्लिखित विचार में यज्ञरहस्य की एक और दिशा का संकेत मिलता है। प्रयाज और अनुयाज प्रधान याग के उपक्रम एवं उपसंहार हैं। इन दो भावनाओं की वेष्टनी में उत्सर्ग की मूल भावना जैसे सम्पुटित है। यह सम्पुट रचेंगे किससे? छन्द द्वारा, कालचक्र के आवर्तन द्वारा अथवा इन्द्रियशक्ति के ऊर्ध्वायन द्वारा — जिसका संकेत छन्दः, ज्योतिष एवं कल्प इन तीन वेदांगों में है; या फिर आध्यात्मिक दृष्टि से मुख्य प्राण अथवा आत्मचैतन्य द्वारा रचेंगे। भावना का आधार जो भी क्यों न हो, सब कुछ को अभीप्सा की आग में तपाना होगा, यास्क के सिद्धान्त का यही तात्पर्य है।

एक और बात ध्यातव्य है कि आप्रीसूक्त की देवता अग्नि हैं एवं पशुयाग में उसका विनियोग होता है — इसकी व्यंजना गहरी है। पशु अमार्जित प्राण अथवा इन्द्रियशक्ति का प्रतीक है। उसके भीतर अब आत्मचैतन्य की ताक-झाँक शुरू हो गई है [१४८१]। प्रमत्त होने के बावजूद वह वश में करने और देवता का वाहन होने के योग्य है। किन्तु इस योग्यता को सार्थक करने के लिए अग्नि में आत्माहुति देकर उसको चिन्मय अथवा चैतन्यस्वरूप होना होगा। मेरा प्राण ही पशु है, मेरी ऊर्ध्वमुखी अभीप्सा का नित्य दहन ही अग्नि है और मेरी आत्मा ही देवता है। तात्पर्य यह है कि हम सब का अमार्जित प्राण ही पशु है, हमारी ऊर्ध्वमुखी उत्कट अभिलाषा का त्रिकाल व्यापी दहन ही अग्नि है और आत्मा ही देवता है। समिद्ध चेतना के संवेग में निकृष्ट प्राण का चिन्मय रूपान्तर पशुयाग का तात्पर्य है।

ये आप्रीसूक्त जिस प्राण के ऊर्ध्वायन अथवा उदात्तीकरण की व्यंजना वहन कर रहे हैं [१४८२], वह इनके सम्बन्ध में अनेक प्रकार से ग्यारह संख्या के प्रयोग से समझ में आता है। प्रथमतः सूक्त के देवताओं की संख्या ग्यारह है। प्राय: सब सूक्तों की ही संख्या ग्यारह है। ऋक् संहिता में आप्री सूक्त

के लिए द्र. तैस. २।१, तैब्रा. २।८ ...। [१४८०] नि. ८।२१-२२।

[१४८१] 'पशु' < √पश् (देखना); तु. शब्रा. अग्नि ने पशुओं के भीतर प्रवेश किया, तब 'प्रजापतिः ... तेषु (पशुषु) एतम् (अग्निम्) अपश्यत्, तस्माद् वै ते पशवः' ६।२।१।४। और भी तु. तां. 'इन्द्रियं वै वीर्यं रसः पशवः' २३।७।४; श. प्रजापतिः ... प्राणेभ्य एवाधिपशून् निरमिमीत, मनसः पुरुषं ... तस्माद् आहुः प्राणाः पशवः इति' ७।५।२।६; तैब्रा. प्राणाः पशवः ३।२।८।८, श. रौद्रा वै पशवः ६।३।२।७।' 'पशुः पश्यतेः' नि. ३।१६। अन्य व्युत्पत्ति — < √पश् 'बन्धने', तु. पाश। आधुनिक व्युत्पत्ति: < IE peḱ 'Wool' Lat. pecu 'animal'. [१४८२] शांब्रा. प्राणा वा आप्रियः १८।१२। ——→

की संख्या दश है किन्तु यास्क ने उसके साथ एक प्रैषिक आप्री सूक्त[1] जोड़कर सूक्त संख्या ग्यारह कर दी है। ग्यारह की संख्या अन्तरिक्ष की भावना के साथ जुड़ी है — जैसे आठ संख्या पृथिवी की और बारह संख्या द्युलोक की है। अन्तरिक्ष प्राणलोक है क्योंकि वह वायु का संचरणस्थान है[2] एवं वायु प्राण है।[3] शतपथ ब्राह्मण में प्राणवृत्ति की संख्या आत्मा को लेकर ग्यारह है;[4] बृहदारण्यकोपनिषद में एकादश रुद्र को अध्यात्म दृष्टि से एकादश प्राण कहा गया है।[5] रुद्रगण अन्तरिक्ष स्थान देवता हैं।

आप्री सूक्तों में अभीप्सा की आग समिद्ध करने से शुरू करके स्वाहाकृति में विश्वदेवता के निकट चरम आत्मनिवेदन तक एक परिपूर्ण चित्र प्राप्त होता है [१४५३]।

यास्क के निश्चित सिद्धान्त के अनुसार प्रथम आप्री देवता का नाम **इध्म** है [१४५४]। किन्तु संहिता में उनका नाम 'समिद्ध' है। इस नाम का कहीं स्पष्ट उल्लेख न होने पर मंत्र में 'समिध्' शब्द के प्रयोग द्वारा उसे द्योतित किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण के मत से 'समिध्' देवता और याग दोनों का ही नाम है।[1] कात्थक्य की दृष्टि में 'यज्ञेध्म' अथवा यज्ञकाष्ठ, उसे पहले ही बतला चुके हैं। ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है कि 'समस्त प्राण ही समिध्, यह जो कुछ है सब प्राण ही प्रज्वल कर रहा है। इसलिए (इस मंत्र-पाठ द्वारा होता) प्राणों को ही प्रीत करते हैं और यजमान में प्राणाधान करते हैं।'[2]

समिद्ध अग्नि के मंत्र में उत्सर्ग-भावना का प्रथम सोपान प्राप्त होता है। ब्रह्म-भावना की अथवा बृहत् होने की जो आकूति हम सब के भीतर प्रच्छन्न अथवा अस्पष्ट है, ज्वालामयी अभीप्सा में उसके प्रज्वलित हो जाने से ही आधार में अग्नि समिद्ध हुए [१४५५]। उसे ही ऐतरेय ब्राह्मण में उपासक के भीतर प्राण-प्रतिष्ठा की क्रिया कहा गया है। उपनिषद में भी कहा गया है कि अपनी देह को ही अधरारणि और प्रणव को उत्तरारणि करके ध्याननिर्मन्थन के अभ्यास द्वारा निगूढ़, रहस्यमय देवता को इसी आधार में उजागर करना होगा।[1]

---

[1] नि. ८।२२।१२; द्र. ऋ. खिल ५।७ (प्रैषाध्याय) १, मैसं ४।१३।२, कासं १५।१३, तैब्रा. ३।६।२, ऐब्रा. २।४; तु. मा. २१, २९, ३०, ३३, ३४। [2] तु. श. सह हैवेमाव अग्रे लोकाव आसतुः। तयोर् वियतोर् योऽन्तरेणाकाश आसीत, तद् अन्तरीक्षम अभवत् ७।१।२।२३, अन्तरिक्षं वा अपां सधस्थम् ।५।२।५८; जैउ. 'य एवायं पवते (वायुः), एतद् एवान्तरिक्षम' १।२०।२। [3] तु. श. प्राणा उ वा वायुः ८।४।१।८; ऐ. 'वायुः हि प्राणः' २।२६, ३।२; ता. ४।६।८, कौ. ५।८, १३।५...। [4] श. ३।८।१।३। [5] ३।९।४।

[१४५३] आप्री सूक्त अन्यान्य संहिताओं में भी हैं: द्र. मा. २०।३६-४६, ५५।६६, २१।१२-२२, २९-४०, २७।११-२२, २८।१-११, (१२-२२) २४-३४, २९।१-११, २५-३६; तैसं. ४।१।८।१-१२, १८। Haug कहते हैं वेद का 'आप्री' और अवेस्ता का afringan मूलतः एक।

[१४५४] नि. 'तासाम् इध्मः प्रथमगामी भवति'; व्युत्पत्ति देते हुए कहते हैं, 'इध्मः समिन्धनात्' ८।४। ऋक् संहिता में 'इध्म' से सर्वत्र इन्धन का बोध होता है। अनुक्रमणिका में 'इध्म' एवं 'समिद्ध' दोनों संज्ञाएँ ही हैं। [1] तु. ऐब्रा. 'समिधो यजति' २।४; तत्र सायण. 'समिन्नामक देवतात्वाद् यागोऽपि समिध इत्यनेन शब्देनोच्यते। समिन्नामकं यागं कुर्याद् इत्यर्थः। यद् वा हौत्रप्रकरणत्वात् समिद् देवताविषयां याज्यां पठेद् इत्यर्थः।' [2] ऐब्रा. 'प्राणा वै समिधः। प्राणा हीदं सर्वं समिन्धते, यद् इदं किं च। प्राणान् एव तत् प्रीणाति, प्राणान् यजमाने दधाति' २।४।

[१४५५] द्र. टीमू. १२५०, १३५६। [1] श्वे. १।१४।

अग्नि का जो सामान्य धर्म है, वही समिद्ध अग्नि का भी है। आप्री सूक्तों में उनके सामान्य धर्म के ज्ञापन के साथ-साथ कुछ-कुछ विशेष व्याख्या भी है जो उपासक के मनन के उल्लास को समृद्ध करती है। वे यज्ञ के पहले आविर्भूत जातवेदा हैं [१४८६], तब भी इस पार्थिव आधार में निहित रह कर ही विश्वभुवन में फैल जाते हैं।[1] उनका तेजपुंज द्युलोक की उत्तुंगता का स्पर्श करता है और वहाँ से सूर्य के रश्मिजाल के साथ वे व्याप्त होते हैं।[2] उस समय वे सहस्रजित हैं।[3]

माध्यन्दिन संहिता में इन्द्र के उपलक्ष्य में अनुष्ठित एक पशुयाग के आप्री सूक्त में कहा जा रहा है कि यह समिद्ध अग्नि गायत्री छन्द एवं गौ के डेढ़ वर्ष के बछड़े के साथ मिलकर इन्द्राविष्ट आधार में इन्द्रिय अथवा इन्द्रियवीर्य एवं तारुण्य स्थापित करता है [१४८७]। गौ, ज्योति अथवा प्रज्ञा का प्रतीक है। पूरे सूक्त में उसके विचित्र अभ्युदय और रूपान्तर का वर्णन है।[1] ऐन्द्र पशुयाग में अन्य एक सूक्त का विनियोग भी है। वहाँ समिद्ध इत्यादि आप्रीदेवगण को इन्द्र के साथ मिलाकर दिया हुआ है।[2] अग्नि एवं इन्द्र का साहचर्य वेद में सुप्रसिद्ध है। साधना में अभीप्सा का संवेग वज्रवीर्य या दृढ़शक्ति दोनों चाहिए। इसके अतिरिक्त एक की ही चिद्विभूति रूप देवता 'सजोषाः' हैं। इसलिए सहज में ही एक की भावना में अपर की भावना का अनुप्रवेश हो सकता है। वैदिक अद्वैतदृष्टि के इस वैशिष्ट्य की बात का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। आप्रीदेवगण का पारस्परिक सम्बन्ध उसका एक सुन्दर निदर्शन है।

ऋक् संहिता के एक आप्री सूक्त की विवृति एवं विश्लेषण से आप्रीदेवगण का परिचय और भी स्पष्ट रूप में प्राप्त हो सकता है। उसके लिए ऋषि विश्वामित्र गाथिन का सूक्त यहाँ चुना गया है। उनके साथ हमारा घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनका ब्रह्मवीर्य भारत-जन का रक्षक है — यह उनकी अपनी ही उदात्त घोषणा है। हमारी नित्य उच्चार्य सावित्री ऋक् के वे ही प्रवक्ता हैं।

समिद्ध अग्नि के प्रति उनकी उक्ति है : 'समिध-समिध में सुमना होकर प्रबुद्ध हो ओ हम सब के भीतर — शुक्र-शुचि (शिखा-शिखा में) तुम ज्योति का प्रसाद दो। हे ज्योतिर्मय, जो सब ज्योतिष्मान हैं उन्हें (इस) यज्ञ साधना में लेकर आओ; सखाओं के सखा होकर — तुम सुमना हो — सिद्ध करो हे अग्नि [१४८८]।' — अपना सर्वस्व इन्धन रूप में हमने तुम को सौंप दिया है हे देवता। उसे अपने स्पर्श से प्रज्वलित करके इस आधार में सुदीप्त-

[१४८६] द्र. ऋ. ५।५।१। [1] तु. समिद्धो अग्निर् निहितः पृथिव्यां प्रत्यङ् विश्वानि भुवनान्य अस्थात् २।३।१। [2] तु. 'उप स्पृश दिव्यं सानु स्तूपैः सं रश्मिभिः ततनः सूर्यस्य' ७।२।१। यहाँ अग्नि एवं सूर्य का सायुज्य ध्वनित होता है। उपनिषद में इसे कहा गया है कि 'यहाँ जो पुरुष है और जो पुरुष आदित्य में है, दोनों एक हैं' (तै. २।८, ई. १६)। उसकी ही दार्शनिक व्याख्या है — 'अयम् आत्मा ब्रह्म' (माण्डू. २)। 'सं ततनः' तु. तन्तुं तनुष्व (आतत करो) पूर्व्यम् १।१४२।१। यज्ञ भूलोक से द्युलोक तक आतत या विस्तृत एक 'तन्तु' अथवा वस्त्र १।१३०।१, टी. १३४४[1]। [3] १।१८८।१; तु. ५।२६।६, टी. १३५५[3]।
[१४८७] द्र. मा. समिद्धो अग्निः समिधा सुसमिद्धो वरेण्यः गायत्री छन्द इन्द्रियं त्र्यविर् गौर् वयो दधुः २१।१२ (तु. मैसं ३।११।११।१, काठक संहिता ३८।१०।१, तैब्रा. २।६।१८।१)। 'वयः' अथवा तारुण्य आधान का उल्लेख होने के कारण नाम 'वायोधस' आप्री सूक्त। [1] 'वयः' किसके भीतर आधान? उव्वट और महीधर कहते हैं इन्द्र में, सायण कुछ कहते नहीं। सूक्त के ४, ६, ८, १० मंत्रों में है 'इह'; व्याख्या में उव्वट-महीधर 'इन्द्रे', सायण 'कर्माणि'।

सौमनस्य विकसित करते हुए जागो। तुम्हारी शुभ्र-शुचि शिखाओं के अनघ उत्सर्पण में हम सब के अंग-अंग में ज्योति पसर रही है। हे चिन्मय आज उत्सर्ग की साधना में विश्वदेवता का चिन्मय प्रकाश ले आओ। प्रसन्न होओ, हे तपोदेवता! सौषम्य के छन्द में छन्दित होकर हम सब के भीतर विश्वज्योति को मूर्त करो।

समिद्ध अग्नि के बाद द्वितीय आप्री देवता साधारणतः **तनूनपात**; कहीं कहीं नराशंस हैं। विश्वामित्र के सूक्त में वे तनूनपात् हैं। इसलिए यहाँ उनका ही प्रसंग प्रस्तुत है।

आप्री सूक्त के अतिरिक्त ऋक् संहिता में और दो स्थानों पर तनूनपात् का उल्लेख है [१४८९], जिससे उनके परिचय का सुस्पष्ट संकेत प्राप्त होता है। उनके स्वरूप को लेकर मतभेद की बात पहले ही बतला चुके हैं। कात्थक्य कहते हैं 'तनूनपात आज्य (घृत) है। यहाँ गो को तनू कहा गया है क्योंकि सारे भोग इसमें ही 'आतत' हैं। इससे ही दूध उत्पन्न होता है और दूध से उत्पन्न होता है आज्य।' फिर शाकपूणि कहते हैं 'तनूनपात् अग्नि है। यहाँ आप् को तनू कहा जा रहा है इसलिए कि वे अन्तरिक्ष में 'आतत' हैं। उनसे ओषधि-वनस्पति उत्पन्न होते हैं फिर उसी ओषधि वनस्पति से ये उत्पन्न होते हैं।'[1] किन्तु ऋक् संहिता में स्पष्ट ही बतलाया जा रहा है कि 'तनूनपात्' असुर के भ्रूण को कहा जाता है; वे ही नराशंस होते हैं, जब विशिष्ट रूप में जन्म लेते हैं; और वे मातरिश्वा हैं, जो माँ के भीतर रूप धारण करते हैं।'[2] यहाँ चिद् अभिव्यक्ति अथवा चेतना के क्रम-विकास की एक धारा प्राप्त होती है। विश्व के मूल में 'असुर' पिता रूप में एवं महाप्रकृति रूपिणी माता अवस्थित हैं। मातरिश्वा अथवा महाप्राण इसी माता के भीतर के प्रशान्त समुद्र के हृदय में सहसा तरंगवत स्फीत हो उठा। उसके भीतर निक्षिप्त या छोड़ा गया असुर का चिद्बीज तनूनपात् हुआ। उसके बाद की अवस्था 'नराशंस' — नवजातक रूप में। असुर के ईक्षण या दृष्टि एवं संकल्प से माता के गर्भ में जिस आदिम प्राणोच्छ्वास की सृष्टि होती है वही सृष्टि का प्रथम पुरुष है।

देवता का तारुण्य अन्त में यजमान में संचारित होता है, वही यज्ञ का उद्देश्य है। 'अवि' ६: महीने का बछड़ा, 'त्र्यवि' डेढ़ बरस का (महीधर और सायण)। तु॰ प्रैष सूक्त मा॰ २८।२४-३४। ² २०।२६-४६। तु॰ तीन प्रैष सूक्त मा॰ २१।२९-४०, २८।१-११, २८।२४-३४।
[१४८८] ऋ॰ समित् समित् सुमना बोध्य् अस्मे शुचा शुचा सुमतिं रासि वस्वः, आ देव देवान् यजथाय वक्षि सखा सखीन्त् सुमना यक्ष्य् अग्ने ३।४।१। **समित समित** [क्रिया विशेषण, अथवा 'समिधा समिधा', समिद्ध इति शेषः, तु॰ मा॰ २१।१२, ऋ॰ प्रैष १] प्रत्येक समिध में या जलते इन्धन में। अध्यात्म दृष्टि से सब कुछ ही इन्धन है (तु॰ गीता ४।२३-३०)। भीतर यह आग जलाना ही साधना का प्रथम सोपान है। वही 'दीक्षा' है अर्थात् सब कुछ जला देने की, अग्नि प्रज्वलित करने की दीप्त अभीप्सा (<√दह् + इच्छार्थ सन्)। **सुमनाः**- अधिकांश क्षेत्रों में अग्नि का विशेषण। उनको लेकर साधना का आरम्भ, इसलिए उनका प्रसाद सब से पहले चाहिए। हम सब के भीतर उनका सौमनस्य उपनिषद् की भाषा में 'धातु प्रसाद' अथवा 'सत्वशुद्धि' होकर विकसित होता है। दौर्मनस्य अन्यतम योगविघ्न (योगसूत्र १।३१)। 'वस्वः सुमतिम्' ज्योति का प्रसाद। प्रथम पाद में प्रार्थना, 'तुम प्रसन्न होओ'; यहाँ 'वह प्रसाद हमें नित्य देते हो' — यह कृतज्ञ स्वीकृति है। तु॰ ऊर्ध्वो अग्निः सुमतिं वस्वो अश्रेत (आश्रय लिया) प्रतीची (आमने-सामने होकर) जूर्णिः (उनकी ज्वाला) देवतातिम् एति (देवात्म भाव में सम्पन्न हो रही है) ७।३९।१। 'यजथाय' — 'यजथ' उत्सर्ग एवं भावना की साधना, जिस प्रकार 'उक्थ' वा 'उचथ' वाक् की, 'विदथ' विद्या की साधना है, बौद्ध 'शमथ' प्रशम की। 'सखा सखीन्' — आधार में समिद्ध अग्नि के साथ साध्य विश्वदेवगण का अथवा विश्वचेतना का सायुज्य।
[१४८९] ऋ॰ ३।२९।११, १०।९२।२। ¹ नि॰ ८।५। **नपात** — नि॰ अननरायाः (व्यवहित) प्रजाया नामधेयं निर्नततमा (नितान्त ही निम्न, नत) भवति' ८।६। आधुनिक व्युत्पत्ति→

उसके बाद का पुरुष तनूनपात् एवं नराशंस तृतीय पुरुष है। और एक स्थान पर अग्नि को 'अरुष का तनूनपात' कहा जा रहा है।[2] आक्षरिक अर्थ में तनूनपात् 'निज का नाती'। पदगुच्छ में वही ध्वनि है। यहाँ सायण ने 'अरुष' को वायु समझा है। किन्तु मातरिश्वा यदि वायु की संज्ञा होती है तो पूर्वोल्लिखित क्रम के अनुसार तनूनपात ठीक उसके बाद का पुरुष हुआ, इसलिए 'नपात्' अथवा नाती हो नहीं सकता। तो फिर अरुष यहाँ वही असुर है जिसके जठर से अग्नि के जन्म का उल्लेख पूर्व के इस सूक्त में किया गया है।[4] वे अरुण-राग रँगे महाकाश होने के कारण 'अरुष' हैं।[5] अग्नि इस आकाश की ही 'अनन्तरित प्रजा' हैं। तो फिर अभिव्यक्ति या क्रमविकास कुछ इस प्रकार निश्चित होता है: शुद्ध सन्मात्र रूपी महाशून्य का राग अथवा सिसृक्षा, माता अथवा महाप्रकृति के हृदय में हिलोरें लेते हैं; उसके बाद आदिमिथुन अथवा आदिमयुग्म के सम्प्रयोग से परम की जो कामना चिद्बीज में घनीभूत होती है, वही 'तननूपात' है।[6] और 'नराशंस' उनका ही मूर्त विग्रह है। आध्यात्मिक दृष्टि से आधार में 'समिद्ध' अग्नि के आविर्भाव में ही इस कुमारसम्भव का संकेत मिलता है उसके मूल में परमदेवता के ईक्षण से उच्छ्वसित आदि-माता के महाप्राण का संवेग है। इसके बाद की अवस्था को भ्रूण या जातक किस पर्याय में रखा जाएगा, उसी को लेकर ऋषियों के मतभेद से आप्रीसूक्त के द्वितीय देवता तनूनपात् होंगे न कि नराशंस होंगे — इस विकल्प का मूल कारण है। मेधातिथि एवं दीर्घतमा ने क्रमश: तनूनपात् एवं नराशंस दोनों देवताओं को ही आप्रीसूक्त में स्थान देकर भ्रम दूर कर दिया है।[7]

तनूनपात संज्ञा के भीतर एक और रहस्य है। वेदों में 'तनू' शब्द का इशारा स्वरूप की ओर है। 'स्वा तनू:' इस पदगुच्छ में यही भाव प्रकट हुआ है [१५००]। स्वरूप के बोध के लिए दो शब्दों का प्रयोग देखने में आता है — एक तो पुंलिंग 'आत्मा' है, और एक स्त्रीलिंग 'तनू' है।

<IE. nepot 'nephew', Lith. niputis 'grandson', Anglo Sax. nefa 'nephew', **तनू** <√ तन् 'सूक्ष्म होना, सूत की तरह लम्बा होना'; उपसर्ग जुड़ने पर 'फैल जाना'; तु. Lat. tenuis 'thin', GK. tanu 'slender, thin'; वेद में 'सूक्ष्म स्वरूप, आत्मा', तु. ऋ. ३।१८।४, १०।५१।१,२; क. १।२।२३...। द्र. टी. १३१८। [2] ऋ. तनूनपाद् उच्यते गर्भ आसुरो नराशंसो भवति यद् विजायते, मातरिश्वा यद् अमिमीत मातरि... ३।२९।११। 'असुर' परमदेवता अथवा वरुण (तु. अग्नि 'असुरस्य जठराद् अजायत' १४, टी. १३२२[3]; १।१४१।४, १४३।२...); 'माता' अदिति १।८९।१०। **अमिमीत** <√ मा 'निर्माण करना; व्याप्त होना; परिमाप करना' > '**माता**'; तु. अयं स न्‌. उर्वीर् अमिमीत धीर: ६।४७।३, अहिं यद् घ्नन् ओजो अत्रा. मिमीथा: ५।३१।७। [3] १०।९२।२। [4] ३।२९।१४, टी. १३२२[3]। [5] अक्तुं न यह्वं (किरणों की तरह चंचल) उषस: पुरोहितं तनूनपातम् अरुषस्य १०।९२।२, उषा अथवा श्रद्धा की अरुणिमा के उन्मेष के साथ-साथ आधार में विद्युततन्तु की तरह अग्नि का प्रकाश। [6] शतपथ ब्रा. में 'रेत:' १।५।४।२, दर्शपूर्णमासयाग के प्रयाज देवता। [7] प्रथम मण्डल के दोनों सूक्त ही। ऋक् संहिता के प्रैष सूक्त (तु. नि. ८।२२।१४) एवं यजु: संहिता के कई आप्रीसूक्त इसी प्रकार के हैं। एक में तो एक ही मंत्र में पहले नराशंस, उसके बाद तनूनपात् हैं (मा. २०।३७; तै.सं. २।६।८।३)। [१५००] द्र. टी. १४८९। तु. अग्ने यजस्व तन्वं तव स्वाम् ६।११।२, अग्नि: प्रत्नेन मन्मना शुम्भानस् तन्वं स्वाम् ८।४४।१२; * एवा महान् बृहद्दिवो अथर्वा. वोचत स्वां तन्वम् इन्द्रम् एव १०।१२०।९, * रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस् तन्वं परि स्वाम् (३।५३।८; अपनी सूक्ष्म अदृश्यप्राय सत्ता को केन्द्र में रख कर प्रज्ञाशक्ति के विचित्र

२३७

विश्वप्राण के रूप में जो सर्वत्र संचरणशील है, जिसे हम साँस-साँस में तनू के भीतर आकर्षित करते हैं, वही 'आत्मा' है।[1] और आत्मा के द्वारा संजीवित आधार 'तनू' है। दोनों ही हमारा स्वरूप है अर्थात् आत्मा और तनू में, चेतना और शक्ति में, पुरुष और प्रकृति में कोई भेद नहीं।[2] इसी से तनूनपात् का आक्षरिक अर्थ है 'आत्मस्वरूप का परिणाम'। अतः अग्नि 'अरूषः तनूनपात्', यह उक्ति अन्वर्थ या सुबोधगम्य है। महाशून्य शिवतनू है, हम सब के भीतर तनूनपात् उनके ही आत्मज हैं।

संहिता में तनूनपात् और नराशंस का एक विशेष परिचय यह है कि वे 'मधुमान्' हैं। लेकिन उसमें तनूनपात् को ही प्रायः सर्वत्र इस रूप में वैशिष्ट्य प्रदान किया गया है [१५०१]। प्रत्यक्षतः, जहाँ उनको मधुमान् नहीं कहा गया है, वहाँ मंत्र में किसी न किसी रूप में 'मधु' का उल्लेख हुआ है। कहा गया है कि वे यज्ञ को मधुमान अथवा मधुमय करते हैं।[1] ऋत के जितने पथ हैं उनको मधुलिप्त करते हैं,[2] और मधुमय पथ से होकर आते हैं[3] इत्यादि। सोममण्डल के आप्रीसूक्त में उनको स्पष्टतया 'पवमानः' अर्थात् सोमीय आनन्द की मधुधारा कहा गया है — वे अन्तरिक्ष को आलोकित करके सूक्ष्मशीर्षा होकर ऊपर उठते जा रहे हैं।[4] तनूनपात् मधुमान हैं — यह विवृति अर्थवह है। मधु सोम्य अमृतचेतना है। उसके साथ अश्विद्वय का विशेष सम्बन्ध है, जो द्युस्थान देवगण के प्रमुख हैं। अँधेरे की पराजय पर आधार में आलोक के आविर्भाव की निश्चित सूचना वे ही देते हैं। अव्यक्त के भीतर अश्विद्वय का आविर्भाव और असुर में चिद्‌बीज रूप में तनूनपात् का स्फुरण, दीप्ति — दोनों ही मूलतः एक हैं। मर्त्य आधार में वे ही अमृत के अकेले आश्वास हैं।

तनूनपात् जिस प्रकार असुर के गर्भ हैं उसी प्रकार अदिति के भी गर्भ हैं [१५०२] असुर को वरुण मान लेने से हम तनूनपात् को आदिति-वरुण के कुमार रूप में पाते हैं। आदिति-वरुण एक असंग अथच नित्य संगत आदियुग्म हैं, उनके सम्बन्ध में आगे चलकर बात करेंगे। आधार में तनूनपात् का स्फुरण एक दिव्य कुमारसम्भव को सूचित करता है,

---

उल्लास से रूप की सृष्टि करते जा रहे हैं एवं उसी से विश्वरूप हो रहे हैं, तु. ३।३८।४ ६।४७।१८)।[1] आत्मा अततेर् वा, आप्तेर् वा' नि. ३।१५; तु. 'आत्मा' क. १।३।१२, द्र. वैदिक पदानुक्रम कोष; पालि. 'अत्ता, अप्पा'; ॥ 'अतिथि'। आधुनिक व्युत्पत्ति <IE. emen 'breath' उसका भी आना-जाना होता है। तु. सूर्यं चक्षुर् गच्छतु वातम् आत्मा १०।१६।३, आत्मन्वन् नभः ९।७४।४ (तु. 'असु-र'), आत्मानं ... वातम् १०।९२।१३, वायु 'आत्मा देवानाम्' १६८।४ ... पुनः स्वरूप के अर्थ में : 'आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति १०।९७।११, आत्मेव शेवः ११७३।२, सूर्य आत्मा जगतस् तस्थुषश् च १।११५।१, तस्मिन् (पर्जन्य में) आत्मा जगतस् तस्थुषश् च ७।१०१।६ (सोम) आत्मा यज्ञस्य पूर्व्यः ९।२।१० (६।८) ...।[2] तु. श. आत्मा वै तनूः ६।७।२।६; ऋ. दक्षिणान्नं वनुते यो न आत्मा १०।१०७।७; क. तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् १।२।२३। यह समरस अद्वैतवाद वैदिक दर्शन की भित्ति है : तु. श. 'यश्चायम् अध्यात्मं 'शारीरस्' तेजोमयो ऽमृतमयः पुरुषः, अयम् एव स यो ऽयम् आत्मा, इदम् अमृतम् इदं ब्रह्मेदं सर्वम् १४।५।५।१ (बृ. २।५।१)। [१५०१] मा. २१।१३, २८।२५ छोड़कर। [1] ऋ. ३।४।२, १।१८८।२, [2] १०।११०।२, मा. २७।१२, २९।२६, [3] मा. २१।३०, २८।२।[4] ऋ. तनूनपात् पवमानः शृङ्गे शिशानो (दोनों सींगों में शान देकर, क्योंकि वे 'वृषभ' हैं) अर्षति, अन्तरिक्षेण रारजत् ९।५।२ (प्रत्येक ऋक् में अग्नि 'पवमान' अतएव अग्नि = सोम द्र. टी. १३५-८)। [१५०२] मा. होता यक्षत् तनूनपातम् उद्भिदं यं गर्भम् अदितिर् दधे शुचिम् इन्द्रं वयोधसम्। वे 'उद्भिद्' हैं, क्योंकि वे परमपुरुष के चिद्‌बीज हैं, अव्यक्त के विवर से-

२३८

उपनिषद् की अध्यात्म दृष्टि से यही कुमार 'अङ्गुष्ठमात्र पुरुष — अधूमक ज्योति की तरह हैं; वे भूत-भव्य के ईशान हैं आज भी हैं, कल भी हैं और देह के भीतर मध्वद अथवा मधुभोजी जीवात्मा के रूप में हैं।[1] गीता में वे ईश्वर की जीवभूता परा प्रकृति हैं जिन्होंने इस जगत को धारण किया है।[2] वे तो आधार के भीतर रहकर ही उसके नियन्ता हैं, संहिता में उनको तनूपाः अथवा तनू का पालक बतला कर यही बात समझाई गई है।[3]

फिर हम देखते हैं कि आधार में चित्कण के रूप में जो असुर के भ्रूण हैं वे स्वयं ही असुर हैं — 'असुरो विश्ववेदाः', 'असुरो भूरिपाणिः' [1503]। अर्थात जो बीज हैं, वही वृक्ष रूप में विस्फारित होते हैं। उस समय वे सहस्रगामिनी एषणा के धाता हैं।[1] ... फिर माध्यन्दिन संहिता में देखते हैं कि तनूनपात्, सरस्वती, उष्णिक् छन्द एवं दिव्य हविर्वाही दो वर्ष का बछड़ा- ये सब एक पर्याय के हैं और सभी मिलकर इन्द्राविष्ट आधार में तारुण्य का आधान करते हैं।[2] समिद्ध अग्नि की तुलना में तनूनपात् के समय छन्द के चार अक्षर बढ़े, बछड़े की उम्र भी छः मास बढ़ी। यह उपचय लक्षणीय है।

शतपथ ब्राह्मण में दर्शपूर्णमास याग के प्रयाज में ऋतु की दृष्टि से समिद्ध को वसन्त बतला कर तनूनपात् को ग्रीष्म कहा गया है [1504]। तैत्तिरीय ब्राह्मण के मतानुसार ऋतुमुख वसन्त अग्न्याधान का प्रशस्त काल है।[1] वसन्त में शीत की जड़िमा तोड़ कर मानो प्रथम प्राण जागता है। ग्रीष्म में वही प्राण दीप्ततर होता है। इस प्रकार ऋतुभावना के साथ चित शक्ति का क्रमिक उन्मेष जुड़ा हुआ है। प्रयाज देवताओं का विन्यास भी उसी के अनुसार है, इसके अलावा ऐतरेय ब्राह्मण में देखते हैं कि अग्निषोमीय पशुयाग के प्रयाज में तनूनपात को प्राणरूप में मनन करने का विधान दिया गया है।[2] ... सोमयाग में 'तानूनप्त्र' के रूप में एक अनुष्ठान है। यजमान और सब ऋत्विक परस्पर द्वेषशून्य होकर एकाग्रचित्त से यज्ञ का निर्वहन करेंगे इसलिए आज्य स्पर्श करके जो शपथ ग्रहण करते हैं उसको तानूनप्त्र कहते हैं। तनूनपात वहाँ मैत्रीबन्धन का हेतु है। इस प्रसंग में शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि 'यह जो पवन रूप में संचरणशील हैं, वे ही शक्तिमान तनूनपात हैं। वे ही सभी जीवों के उपद्रष्टा हैं। प्राण और उदान के भीतर वे प्रविष्ट हैं।'[3]

अंकुरित हो रहे हैं। इन्द्र का सायुज्य लक्षणीय। द्र० प्रैष 2। [1] द्र० क० 2।1।13 (ज्योति में अग्नि की ध्वनि; तु० प्रैष, भुवनस्य गोपाम् 2), 12, 5 (तु० ऋ० पिप्पलं स्वाद्वत्ति 1।164।20, मध्वदः सुपर्णाः 22, टी० 1389)। [2] गी० 7।5। अध्यात्म दृष्टि में 'जगत' क्षेत्र, गी० 13।6-7। [3] मा० 21।13। [1503] मा० 27।12 (तु० सद्योजात अग्नि जातवेदाः, आधार में चित्ति या चेतना का उन्मेष ऋ० 1।167।10 टी० 1315); शौ० 5।27।1 (तु० ऋ० पुरुषः...सहस्रपात् 10।90।1; 'प्र बाहवा पृथुपाणिः सिसर्ति' 2।38।2)। यह एक विशेषण प्रज्ञा का संकेतक है और दूसरा कर्म अथवा शक्ति का। [1] दधत् सहस्रिणीर् इषः 1।188।2। [2] मा० 21।13; द्र० प्रैष मंत्र 28।25, तत्र महीधर 'द्विवर्षा गौर् दित्यवाट्' व्युत्पत्ति अज्ञात; 'दित्य < द्वितीय? सरस्वती ऋक् संहिता में गर्भाधानकारिणी 10।184।2; द्र० 'सरस्वती', आप्रीदेवगण।
[1504] द्र० श०ब्रा० 1।3।5। दर्शपूर्णमास याग में पाँच प्रयाज। उनकी प्रत्येक ऋतु दृष्टि विधि-सम्मत होने से समस्त अनुष्ठान संवत्सर तथा प्रजापति का अर्थात विश्वचेतना का अभिद्योतक है। दर्शपूर्णमास सभी इष्टियों की प्रकृति अथवा आदर्श। पशुयाग की तरह उसका भी प्रयाज प्राण के उदयन का बोधक है। [1] तै०ब्रा० 1।1।2।6। [2] ऐ०ब्रा० 2।4। समिध 'प्राणाः', और तनूनपात 'प्राणः'। एक प्राण की वृत्तियाँ हैं और एक मुख्य प्राण है। तत्त्वतः मुख्य प्राण ही आदिम है, उसका स्फुरण वृत्तियों में होता है। स्फुरण दृष्ट या व्यक्त
239

प्राण यहाँ मुख्य प्राण की वह वृत्ति है जिसके द्वारा साधारण जीवधर्म निर्वाहित होता है; और उदान उसका ही वह ऊर्ध्वस्रोत है जो हम सब के भीतर लोकोत्तर चेतना को उद्दीप्त करता है।[4] तनूनपात् जीवसाक्षी प्राण के रूप में दोनों का नियन्ता एवं मन के भीतर बृहत् की भावना का प्रेरक है।[5] उपनिषद् में हम देखते हैं कि मुख्य प्राण इन्द्रियों का नायक एवं सम्बन्ध-सूत्र है।[6] ऋत्विक और यजमान की तरह गुरु-शिष्य के भीतर भी विद्वेष न रहे, ऐसी प्रार्थना उपनिषद के शान्तिपाठ में है।[7] यह भी तानूनप्तृ के अनुरूप है। सब मिलाकर हम देख रहे हैं कि तनूनपात् प्राण के सुषम छन्द का प्रयोक्ता है।

तनूनपात् की उपासना में हम उत्सर्ग-भावना के द्वितीय सोपान पर आ गए। अग्नि-समिन्धन के कारण जीवन में मोड़ आ गया है और आधार में एक ताप संचारित हुआ है। उसी तपोज्योति के आवेष्टन में नक्षत्र-विन्दु की तरह तनूनपात् को प्राणस्पन्दित चित्सत्ता के भ्रूण के रूप में अनुभव करते हैं। विश्वामित्र गाथिन का ब्रह्मघोष सुनते हैं:—

'जिसको सारे देवता दिन में तीन बार आयजन करते हैं उजाला रहते रहते — (आयजन करते हैं) वरुण, मित्र (और) अग्नि, वही तुम हमारे अपने हे तनूनपात्, तपोदीप्ति जिसका उत्स है, लक्ष्यवेध में जो तत्पर है इस यज्ञ को मधुमान करो [१५०५]।' — इस आधार में परमपुरुष का जो अग्निबीज निक्षिप्त हुआ है, उसको चेतना के उत्तरायण के प्रत्येक सोपान पर देवतागण स्फुरित करते रहते हैं। जीवन के प्रभात में अभीप्सा की आग प्रज्वलित होती है और व्यक्तिचेतना को देवजन्म के निमित्त उत्सृष्ट या निवेदित करती है। जीवन के मध्याह्न में विश्वचेतना की सौरदीप्ति में मित्र की प्रसन्नता चिदाकाश में झलकने लगती है। और उसकी सान्ध्यवेला में वरुण की अमा-ज्योति उतर आती है अर्थात् विश्वातीत की अनिर्वचनीयता में सभी एषणाओं का

और तत्व अदृष्ट, अलक्ष्य होता है। दृष्ट से अदृष्ट की साधना सहज है इसलिए पहले दृष्ट का उल्लेख — जैसे योग में चित्त की मूढ़भूमि के पहले क्षिप्त भूमि का। [2] श. 'यो वा॒यं पवते, एष तनूनपात्' ... । सोऽयं प्रजाम् उपद्रष्टा, प्रविष्टः ता इमौ प्राणोदानौ ३।४।२।५। [4] द्र० प्र. ३।८-९। [5] द्र० श. ३।४।२।६। [6] तु. छा. ५।१, प्र. २...। [7] क. सह वीर्यं करवावहै ... मा विद्विषावहै; तै. ब्रह्मवल्ली, भृगुवल्ली।

[१५०५] ऋ. यं देवासस् त्रिर् अहन्न् आयजन्ते दिवेदिवे वरुणो मित्रो अग्निः, सेमं यज्ञं मधुमन्तं कृधी नस् तनूनपाद् घृतयोनिं विधन्तम् ३।४।२। 'अहन् (= अहनि) त्रिः' दिन में तीन बार। सोमयाग के सुत्या के दिन तीनों वेला में तीन सवन होते हैं। सोमयाग के सवन समस्त जीवन में व्याप्त हैं, पुरुष ही यज्ञ है — यह शिक्षा देवकी पुत्र कृष्ण ने घोर आंगिरस से प्राप्त की थी (छा. ३।१६-१७)। 'आयजन्ते' देवयज्ञ के द्वारा रूपायित करते हैं। मनुष्ययज्ञ उत्सृष्टि है और देवयज्ञ विसृष्टि है (द्र. ऋ. १०।९०।६-१६, १२५।६; मनुष्य के अन्तर में देवताओं का अग्निजनन तु. ३।२।२)। **दिवे दिवे** — दिन-दिन, प्रतिदिन; ज्योतिर्भूमि की परम्परा में। दिव अथवा दिन का प्रकाश चिज्ज्योति का प्रतीक है। 'वरुण, मित्र, अग्निः' साधन की दृष्टि से इन्हें विलोम क्रम में लेना होगा। अग्नि 'उषर्बुध' जागते हैं भोर के उजाले में, मित्र मध्याह्न की दीप्ति, और वरुण लोकोत्तर रात्रि के लीन आकाश में पूर्णिमा की ज्योत्स्ना अथवा तारकाखचित अमा का आलोक। आधार में तनूनपात् को ये तीन देवता इस प्रकार व्यक्त करते चलते हैं:— आरम्भ में अग्नि उनको प्रबुद्ध व्यक्ति-चेतना के रूप में, उसके बाद मित्र विश्वचेतना की माध्यन्दिन दीप्ति में, एवं अन्त में वरुण लोकोत्तर अमृतचेतना की शून्यता में रूपायित करते हैं। जीवन के प्रभात में सूर्य का उदय इन तीनों देवताओं के चक्षु रूप में द्र. १।११५।१। तनूनपात् स्वयं अग्नि हैं तब भी यहाँ अग्नि का अलग उल्लेख किया गया है। अग्नि लोकव्याप्त वैश्वानर हैं, तनूनपात् उनके व्यक्ति-बीज हैं। 'घृतयोनि' विशेषण,

समापन होता है। ... हे स्वयम्भू तपोदेवता, तुमको ही केन्द्र में रखकर
हम सब की साधना आजीवन जारी है। उद्दीप्त तपस्या की अग्निज्वाला से
उसका आरम्भ, और उत्तरायण का शश्वत् तीक्ष्ण अभियान उसका मध्यवर्ती
स्थान है। हे तप की शिखा, आनन्द के अमृतप्लावन में उसका समापन
करो, उसे विराम दो।

उसके बाद **नराशंस**, जो कहीं-कहीं तनूनपात् के विकल्प हैं। ऋक्संहिता
में उनका परिचय बहुत ही स्पष्ट है; यदि तनूनपात् परमचेतना के भ्रूण हैं
तो नराशँस उनके विशिष्ट जातक हैं [१५०६] तनूनपात् अग्नि, नराशंस भी
अग्नि; किन्तु इसे लेकर मतभेद की सृष्टि हुई थी, यह पहले ही बत-
लाया गया है। कात्थक्य के अनुसार नराशंस 'यज्ञ': जिसका निर्वचन है-
'नर इसमें आसीन होकर शंसन करते हैं'।[1] शाकपूणि कहते हैं, नराशंस
अग्नि; जिसका निर्वचन है, 'नरों द्वारा प्रशस्य'; प्रशंसनीय।[2] किन्तु इस
शब्द का वस्तुतः एक और निर्वचन सम्भव है— 'नरों का शंसन'।[3] 'शंस'
देवता की प्रशस्ति।[4] वह वाक् की विभूति है। फिर आधार में अग्नि के संदीपन
से दिव्या वाक् अथवा मंत्र का स्फुरण होता है।[5] उसी से अग्नि 'नराशंस'
अथवा 'आयोः शंस' या केवल 'शंसः' हैं।[6] यह भावना कात्थक्य की उक्ति का
संप्रसारण है— हम सब के भीतर अग्नि समिद्ध होने पर जब यज्ञ एवं मंत्र
की प्रेरणा जागती है तब देव प्रशस्ति के उद्दीपन के रूप में अग्नि नराशंस हैं।

इस दृष्टि से नराशंस बृहस्पति अथवा ब्रह्मणस्पति के सगोत्र हैं [१५०७]।

ऋक्संहिता में केवल अग्नि (५।८।६) एवं मित्रावरुण के सन्दर्भ में प्रयुक्त (५।६८।२)। 'विधन्तम्'
यहाँ 'परिचरण' अर्थ उपयुक्त नहीं बल्कि उसके फल अथवा लक्ष्य तक पहुँचने का बोध होता है।
[१५०६] द्र. ऋ. नराशंसो भवति यद् विजायते ३।२९।११। 'विजायते' यह समस्त पद ऋक्-
संहिता में और कहीं नहीं है। इस प्रसंग में तु. 'स्यान् नः सूनुस् तनयो विजावा' — हमारी
सन्तान (साधना की धारा का) वाहन हो, सिद्ध पुत्र के पिता ३।१।२३। 'सूनुः तनयः'
ऐसा पुत्र जो साधना की धारा को सम्प्रसारित करेगा। केवल वंश का विस्तार नहीं बल्कि
ब्रह्मविद्या की धारा भी न टूटने पाए, यहाँ तक कि योनिवंश और विद्या-वंश दोनों
एक हो जाएँ— यही पुत्रैषणा का लक्ष्य है। 'हमारे कुल में कोई कभी अब्रह्मवित् न हो'
यह कामना उपनिषद के ऋषियों की थी (तु. मु. ३।२।९, माण्डू. १०, छा. ६।१।१, कौ.
पितापुत्रीय सम्प्रदान २।१५)। यही भावधारा तंत्र में भी है। मंत्र का 'विजा' यही सिद्ध
पुरुष। 'विजावा' (पदपाठ 'विजा-वा'; अनन्य प्रयोग) जिसकी 'विजा' है। 'प्रजा' और
'विजा' दोनों से सन्तति का बोध होता है, किन्तु भिन्न अर्थ में। प्रजा से वंशधारा की
अनुवृत्ति का बोध होता है और विजा से निवृत्ति का। 'विशिष्ट जातक' इस अर्थ
में भी विजा सम्भावित। आधार में नराशंस ही जातक, किन्तु सिद्ध जातक— 'विजायते'
पद की यही ध्वनि है। [1] नि. ८।६; नर + आस + शंस। [2] वही, पाणिनि सूत्र ६।३।१३७।
[3] 'नरां शंसः' प्रथम पद के अपभ्रंश में 'नराशंसः' (उभयस्वर, पदपाठ में अवग्रह नहीं)।
संहिता में अन्य पद द्वारा अन्तरित, जिस प्रकार ऋ. 'नरा च शंसम्' ९।८६।४२,
'नरा वा शंसम्' १०।६४।३, 'नरां न शंसः' २।३४।६। 'नरां न शंसैः' १।१७३।१०, (इन्द्र)
'शंसो नराम्' ६।२४।२ उसी प्रकार समस्त पद 'नृशंस' (७।८१।५) उभयस्वर। प्रसंगतः
तु. 'देवानां शंसः' (१।१४१।११, १०।३१।१ = प्रसाद। और भी तु. नाराशंसेन (नराशंस
नामसंगतेन. सायण.) सोमेन १०।५७।३, नाराशंसी (मनुष्य स्तुतिः सा.) १०।८५।६।
[4] उसके विपरीत 'निद्' तु. २।२३।१४, ३।१६।५ ...। 'देवनिद्' २।२३।८। [5] तु. विराट के मुख
से अग्नि १०।९०।१३; श. वाग् एवाग्निः ६।१।२।२८, ३।२।२।१३ ...। वेद की 'ऋक्' और
अग्नि की 'अर्चिः' सगोत्र हैं। [6] तु. नमस्यन्त उशिजः (उद्विग्न यजमान की) शंसम् आयोः
४।६।११; शं नो भगः शम् उ नः शंसो अस्तु ... शं नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः ७।३५।२।
[१५०७] तु. ऋ. बृहस्पति सूक्त: 'नराशंसो नोऽवतु प्रयाजे शं नोऽस्तु अनुयाजो हवेषु'
१०।१८२।२ (प्रयानुयाज सम्पर्क लक्षणीय); नराशंसं सुधृष्टमम् अपश्यं सप्रथस्तमम् १।१८।९।
२४१

इसलिए उनके अनन्यपर दो विशेषण 'ग्नास्पति' एवं 'चतुरंग' हैं।[1] निघन्टु में वाक् का एक नाम 'ग्ना:' — अर्थात् विश्वमूला शाश्वती नारी के रूप में है।[2] वाक् के 'चार पद' सुप्रसिद्ध हैं।[3]

माध्यन्दिन संहिता में नराशंस को सविता के साथ एक मानकर बतलाया गया है, 'वे सुकर्मा विश्ववरेण्य ज्योतिर्मय सविता हैं' [१५०८]। भावना का यह अनुषंग प्रणिधान योग्य है। विष्णु की सप्तपदी में सविता का तृतीय स्थान है। जिन सभी आप्री सूक्तों में तनूनपात् के साथ नराशंस भी हैं एवं इस सूक्त में भी हैं — वहाँ भी नराशंस का स्थान तृतीय है। यह स्थान साम्य आकस्मिक नहीं जान पड़ता। आदित्य के उदयन में सविता का स्थान कुछ नेपथ्य में है। उनके बाद ही भग में ज्योति का व्यापक प्रकाश है। यहाँ भी समिद्ध, तनूनपात् एवं नराशंस के द्वारा मानो प्राण के उदयन की भूमिका रची गई है। इन्हीं तीनों देवताओं में सम्भवतः कात्यक्य की यज्ञभावना का मूल यहीं है। नराशंस के बाद ही 'ईड्य' अग्नि में प्राण का प्रथम समर्थ प्रकाश या प्रकटन होता है। लक्षणीय है कि इसी अग्नि के द्वारा ही ऋक्संहिता का आरम्भ हुआ है।

इसी भावना के सम्बन्ध में एक और भावना पाई जाती है। ऋक् संहिता में सोम के बारे में कहा जा रहा है: 'दिन के आरम्भ में ही सुवर्ण और सुकाम्य वह उन्मादन अपनी चेतना द्वारा प्रचेतना जगाते हैं, नित्य प्रति। दो जनों को उद्यत करके (भूलोक और द्युलोक के) मध्य में चलते हैं:— मनुष्यस्तुति और देवतास्तुति को (जगा कर चलते हैं) धृतिमानों, धैर्यवानों के अन्तर में [१५०९]।' अर्थात् सोम्य आनन्द के उन्मादन से सत्यव्रती, धीर पुरुष के भीतर उषा के प्रकाश में प्राचेतसी प्रज्ञा का स्फुरण होता है; और उसी से देवता और मनुष्य के परस्पर आप्यायन की आकूति सार्थक होती है, मनुष्य की वाणी देवता की वाणी को उद्योतित करती है। 'नराशंसः' और 'दैव्यः शंसः' अथवा 'देवानां शंसः', यहाँ एक ही वाक् के दो छोर हैं जिनमें एक नर की प्रशस्ति का वाहन है और दूसरा उसके उत्तर में देवता के प्रसाद का। ये दोनों वाक् ही आग्नेयी हैं।

तनूनपात् की तरह नराशंस का भी मधु के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। वे मधुजिह्व हैं, मधुहस्त्य हैं, यज्ञ को मधुमय करते हैं [१५१०]। अग्नि की प्रेरणा से यदि मनुष्य की देवप्रशस्ति के देवता नराशंस होते हैं तो फिर उनका मधुजिह्व विशेषण सार्थक होता है। प्रशस्ति-मंत्र देवताओं के निकट यज्ञ को सुस्वादु करेंगे, यह भी संगत है। अन्यत्र देखते हैं 'जिह्वा मे मधुमत्तमा' हो — यही प्रार्थना ब्रह्मवादियों की भी है।[1]

(देवता 'सदस्पतिर् नराशंसो वा'; सदस्पति बृहस्पति का नामान्तर है)। वाक् 'बृहती' श. १४।४।१।२२, वाक् 'ब्रह्म' ऐब्रा. २।१५, ४।२१, ६।३...। वाचस्पति, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति समानार्थक हैं। फिर, वाक् 'शंस' ऐब्रा. २।४, ६।२७, ३२। [1] तु. ऋ. नराशंसो ग्नास्पतिर् नो अव्याः २।३८।१०; नराशंसश् चतुरंगः १०।९२।११। [2] निघन्टु १।११; तु. ऋ. वाक् सूक्त १०।१२५ विशेष रूप से ३, ५, ८; राष्ट्री देवानाम् ८।१००।१०। [3] १।१६४।४५; तु. चतुष्पदी ४१... १।१०६।४ और १०।६४।३ में नराशंस और पूषा स्वतंत्र। [१५०८] मा. 'सुकृद् देवः सविता विश्ववारः' १७।१३ (तु. शौ. ५।२७।३)। लक्षणीय — ऋक् संहिता में सावित्री सूक्त में ही नराशंस ग्नास्पति। 'वाक् सावित्री' जैउ. ४।२७।१२।
[१५०९] ऋ. सो अग्रे अह्नां हरिर् हर्यतो मदः प्रचेतसा चेतयते अनु द्युभिः, द्वा जना यातयन्न् अन्तर् ईयते नरा च शंसं दैव्यं च धर्तरि ९।८६।४२। दो जन मनुष्य और देवता। प्रचेतना चेतना का उन्मेष, उपचय या उच्छलन एवं व्याप्ति है — भोर के आकाश में ज्योति के कमल की पंखुड़ी खुलने की तरह।
[१५१०] ऋ. १।१३।३, ५।५।२, १।१४२।३, १०।७०।२, शौ. ५।२७।३। [1] तैउ. १।४।१।

नराशंस मूलतः देव-प्रशस्ति है। इसलिए मनुष्य के प्रशस्ति वाचक मंत्रों को 'नाराशंस' और ऋक् को 'नाराशंसी' कहते हैं [१५११] यह सब ऋभुओं, ऋषियों अथवा राजाओं की प्रशस्ति है— ऐतरेय ब्राह्मण की उक्ति के अनुसार 'मृदु इव छन्दः शिथिरम्' और तैत्तिरीय ब्राह्मण के कथनानुसार 'ब्रह्मणः शमलम्' अर्थात वेद का मलिन भाग है।[1] देव प्रशस्ति यज्ञांग है अतएव कात्थक्य का निर्वचन आधियाज्ञिक दृष्टि से; और 'समस्त यज्ञ अग्नि का'[2] यह मान कर शाकपूणि का निर्वचन आधिदैविक दृष्टि से किया गया है। दोनों में कोई विरोध नहीं। नराशंस मंत्रशक्ति के कारण ही देवता हैं— यही भावना दोनों के मूल में है।

विश्वामित्र के आप्रीसूक्त में नराशंस का उल्लेख नहीं है। यास्क ने वसिष्ठ मैत्रावरुणि के आप्री सूक्त से उनके मंत्र का उद्धरण देकर व्याख्या की है। ऋषि का कथन है— 'इन्हीं' (देवताओं के) अन्तर्गत नराशंस की ही महिमा का हम सब एकाग्र चित्त होकर स्तवन करते हैं— जो हमारे यज्ञ द्वारा यजनीय हैं और जो देवता सुक्रतु, शुचि, ध्यान के धाता होकर सुस्वादु करते हैं उभयविध हव्य [१५१२]।' — हम जिन देवताओं से घिरे हैं, वे अनघ एवं शुचि हैं; क्रान्तदर्शी प्रज्ञान में समर्थ हैं और हमारे भीतर ध्यान-चेतना का आवेश आहित कर सकते हैं। प्रशस्ति और आहुति की सामग्री हम ले आए हैं उनके पास। उनको वे सौम्य सुधा से सींच कर स्वदनीय करें। देखो तो उनकी प्रेरणा से नरकंठ स्तुतिमुखर हुआ, और हम सब के अन्तर में अग्निवर्ण वाचस्पति का आविर्भाव हुआ। उनके बिना और कौन होंगे हमारे यज्ञेश्वर? इसलिए उनकी ही महिमा के वन्दना-गीत में हमारे एकाग्र चित्त की भावना और साधना आनन्दित हो।

आप्रीसूक्त के तृतीय देवता **ईल.** हैं। यह नाम केवल निघण्टु में और प्रैष सूक्त में प्राप्त होता है [१५१३], इससे भिन्न, संहिता में उन्हें ईड् अथवा इष् धातु से निष्पन्न अनेक विशेषणों द्वारा सूचित किया गया है। वहाँ वे कहीं 'ईलित,'[1] कहीं 'ईलेन्य,'[2] कहीं 'ईडान,'[3] कहीं 'इड्';[4] अथवा कहीं 'इषित' हैं।[5] एक स्थान पर केवल ईड् धातु से,[6] और एक स्थान पर केवल 'इडाभिः' से उनका संकेत मिलता है।[7]

यास्क ईल. संज्ञा की व्युत्पत्ति ईड् अथवा इन्ध् धातु से देते हैं [१५१४]। किन्तु संहिता में ही जब इस संज्ञा का एक पर्याय 'इषित' है तब मूल व्युत्पत्ति इष् धातु से ही मानना संगत है। इष् धातु यज् धातु से आ सकती है, और स्वतंत्र भी हो सकती है। अर्थ की दृष्टि से दोनों धातु परस्पर जुड़ी हुई हैं, जिसके कारण 'इष्टि' से यज्ञ अथवा एषणा दोनों का ही बोध होता है।

[१५११] द्र. नि. ८।९; ऋ. 'नाराशंसी न्योचनी' (नववधू सूर्या के पितृगृह की दासी) १०।८५।६ [1]ऐब्रा. ६।१६, तैब्रा. १।२।३।६ (सा. भाष्य द्र.); तु. तैब्रा. २।७।५।२ (सा.)। नरप्रशस्ति के समय 'नरां' कर्म में षष्ठी, देवप्रशस्ति के बोध के लिए कर्ता में। [2]ऋ. १०।५१।८

[१५१२] ऋ. नराशंसस्य महिमानम् एषाम् उप स्तोषाम यजतस्य यज्ञैः, ये सुक्रतवः शुचयो धियंधाः स्वदन्ति देवा उभयानि हव्या ७।२।२ (मा. २९।२७); नि. ८।७। 'एषाम्' निर्धारण में षष्ठी। देवगण 'धियंधाः' जिस प्रकार पहले इन्द्र को 'वयोधाः' रूप में पाया। 'स्वदन्ति' सुस्वादु करते हैं (अन्तर्भावितार्थ) मधु अथवा अमृतचेतना के आनन्द द्वारा। नराशंस मधुमान् हैं; उनके सहचर देवता भी वही हैं। आनन्द द्वारा ही साधना का आरम्भ। 'उभयानि हव्या' प्रशस्ति और आहुति।

[१५१३] निघ. ५।२, प्रैष ४। [1]ऋ. १।१३।४, १४२।४, २।३।३, ५।५।३ (प्रैष. ४) मा. 'ईडित' २०।३, २१।३२, २८।३। [2]ऋ. ७।२।३, ८।५।३; मा. २८।२६। [3]मा. २७।१३; तैसं. ४।१।८।१; शौ. ५।२७।३। [4]ऋ. ३।४।३। [5]३।४।२; १०।११०।३; मा. २९।२८। [6]१०।७०।३। [7]मा. २०।५८। [१५१४] नि. ईल. ईट्टेः स्तुतिकर्मणः

ईड् धातु भी इसी से आई है।[1] जिसका मूल अर्थ है 'खोजना'; पूजा और वन्दना अर्थ[2] प्रसंगत: खोजने के साधन के रूप में आया है। नचिकेता की तरह अपने भीतर आग जलाकर सत्य को खोजना होगा, इस भावना से हम सुपरिचित हैं। निरुक्त की द्वितीय व्युत्पत्ति उसका ही संकेत देती है। अनेक व्युत्पत्तियों की भाँति ही यह शाब्दिक नहीं बल्कि आर्थिक अथवा तात्पर्य से सम्बन्धित है। ऋक् संहिता में भी इन्ध् धातु के साथ-साथ ही ईड् धातु का प्रयोग प्राप्त होता है।[3] तो फिर इस धातु के अर्थ का परिणाम इस प्रकार होगा:- 'खोजना' (√इष्)॥ भावना करना (√यज < 'जलाना' (√इन्ध 'ज्ञान यज्ञ से यहाँ द्रव्ययज्ञ की व्यंजना उभरती है) < 'पूजा करना, स्तुति करना',।[4] जब अग्नि को 'इडाभिर् ईड्य:',[5] 'इडेडित:',[6] 'घृतेनेऽडान:',[7] 'इडाभिर् ईडित:',[8] 'ईडाभिर् ईड्यम्',[9] किंवा 'इषित' कहा जाता है तब मूल इष् धातु के साथ ईळ- संज्ञा का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से उजागर हो जाता है।

तो फिर आप्रीदेवता जीव की ऊर्ध्वमुखी अभीप्सा की दीपशिखा हैं- इसी आप्री सूक्त में ही जिसके देवता 'इला' हैं। उनको जीवन की वेदी में प्रज्वलित करना होगा (ईलेन्य:), प्रज्वलित किया जाता है (ईलान:), प्रज्वलित किया गया है, (ईलित:) अथवा वे प्रज्वल शिखा हैं (ईल:, इड) — यही उनका परिचय है। अन्तर्दृष्टि में वे 'इडित' अर्थात् साधना के लक्ष्य या उसके आदि प्रवेग द्वारा प्रवर्तित हैं। संक्षेप में वे अन्तिम परिणाम अथवा आदि प्रवर्तन दोनों ही हैं। संहिता में बतलाया जा रहा है कि वे मनुष्य के आधार में मंत्र चेतना के द्वारा बीजरूप में निहित एवं उद्बोधित होते हैं [१५१५]। आदिम प्राण की सुमंगल सिसृक्षा हैं वे, भूलोक और द्युलोक के बीच जारी है उनका दौत्य।[1] आधार में वे आवाहन करते हैं वृत्रहन्ता इन्द्र और मरुद्गण को,[2] जो प्राण की ज्योति का अन्धड़ उठाकर ओजस्वी मन के दुर्धर्ष संवेग से अन्धतमिस्रा की पाषाण-प्राचीर को चूर-चूर कर देते हैं; अथवा वे ही गोत्रभित् वृत्रघाती वज्रबाहु पुरन्दर[3] हैं, सरपट दौड़ते हैं शीघ्रगामी घोड़ों की तरह।[4] वे अमृत चेतना के सुनिर्मल संवेग हैं और अजस्र मधुर धारा में विराट होकर फैल जाते हैं आधार के चितिकूट अथवा चेतना के केन्द्र से[5] एवं अनन्तता की ऋद्धि अथवा ऐश्वर्य, अलौकिक शक्ति छीनकर ले आते हैं अलख के कूल से।[6]

ऐतरेय ब्राह्मण में 'इड्' को इष् धातु से व्युत्पन्न मानकर उसमें अन्नदृष्टि का विधान किया गया है [१५१६] पहले ही हमने देखा है, इसके पूर्ववर्ती प्रयाज-देवता 'तनूनपात्' प्राण हैं फिर परवर्ती देवता 'बर्हि' भी प्राण हैं। यहाँ समझना

इन्धतेर् वा ८।८। [1] तु. नि. ईलिर् अध्येषणाकर्मा पूजाकर्मा वा ७।१५। √ईड < √यज्द्, दकार का मूर्धन्य परिणाम, उसके बाद अन्तरंग सन्धि एवं यकार का सम्प्रसारण और दीर्घत्व। यास्क के विचार से सब मिलाकर इस धातु के पाँच अर्थ होते हैं (द्र. टी. १३५७...)। [2] तु. ईड्य एवं वन्द्य पास-पास १०।११०।३, मा. २७।२, २८। [3] ऋ. ३।२७।१३, १४, ७।८।१, १०।३०।४। [4] ऋ. २।१।११, २।२। [5] मा. २१।१४, तु. २०।५८। [6] २१।३१, [7] २७।१४, [8] २८।३, [9] २८।२६।

[१५१५] ऋ. असि होता मनुर्हित: १।१३।४, मनुष्वद् अग्निं मनुना समिद्धम् ७।२।३। [1] असुरं सुदक्षम् अन्तर् दूतं रोदसी ७।२।३, १०।७०।३ (टी. १३३७[2])। [2] १।१४२।४, २।३।२, ५।५।३ मा. २८।३। [3] मा. २०।३८, [4] २७।३, [5] ऋ. ७।२।३ टी. १३५८[4]; [6] अग्ने सहसा असि- १।१८८।३।

[१५१६] ऐब्रा. अन्नं वा इल: २।४। अग्निषोमीय पशुयाग की व्याख्या हो रही है। [1] द्र. अन्नसूक्त ऋ. १।१८७। मूल में 'पितु' शब्द है, जो अन्न एवं पेय सोमरस दोनों का ही बोधक है। (तु. ऐब्रा. अन्नं वै पितु: १।१३)। अन्न का दिव्य रूप! 'त्वे पितो महानां

होगा कि एक प्राण विश्वगत है और एक आधारगत है। अन्न पहले प्राण का आश्रित और दूसरे का पोषक है। अन्न निश्चय ही यहाँ राहस्यिक अर्थ में प्राण-भौतिक शक्ति है जिसको हम सब का ही 'तनू' कहा जा सकता है।[1] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार तनूनपात् ग्रीष्म होने पर 'इड्' उसके बाद वर्षा,[2] और रेत: होने पर प्रजा अथवा सन्तान है।[3]

अब हम उत्सर्ग-भावना के तृतीय सोपान पर आ पहुँचे। चिद्बीज अंकुरित हो गया, इस बार अभीप्सा के संवेग में उसका उत्तरायण शुरू हुआ। माध्यन्दिन संहिता का कथन है कि अब चार अक्षर और बढ़ने के कारण छन्द अनुष्टुप् हुआ, बछड़ा हुआ अढ़ाई बरस का [१५१७]। इन्द्र का तारुण्य छलक पड़ा। विश्वामित्र के कंठ से स्वर फूटा, जिसे हम इस प्रकार सुनते हैं—

'जो ध्यानदीप्ति विश्वव्यापी है, आगे आगे चल रही है वह एषणा के प्रथम होता को जगा देने के लिए, (चल रही है) उनकी ओर प्रणति देकर वीर्यवर्षी की वन्दना करने के लिए। वे देवगण का यजन करें (मेरी ही) प्रेषणा से—जो याजकवर हैं [१५१८]।'— अर्थात् मेरी एकाग्रभावना का चिन्मय प्रभास पूरे विश्व में फैल गया। उसकी शर जैसी तन्मयता ने सत्ता के मर्म में उस उत्तरवाहिनी अग्नि शिखा के कन्दमूल को विद्ध किया, जहाँ से मेरी अलख की एषणा का आरम्भ होता है। इसी चेतना में उस शिखा के अनिर्वाण दहन को मूर्त करना होगा, अजस्र प्रणति से स्वयं को उनमें अन्तर्हित व समर्पित करना होगा, जिनका अग्निवीर्य इस ऊसर या बंजर आधार का बन्ध्यात्व दूर करेगा। मेरी प्रणति, मेरा समर्पण ही उनके भीतर उत्तरायण का प्रवेग जगाए और चैतन्यस्वरूप, चिन्मय, ज्ञानमय रूपायन के अनुत्तम शिल्पी के रूप में विश्वदेवता को मेरे भीतर उतार लाए।

देवानां मनो हितम्, अकारि चारु केतुना तवाहिम् अवसा वधीत'— तुम में ही अन्न, महान् देवगण का मन निहित है, जो चारु है, ललित, सुदर्शन है, वह किया गया (तुम्हारी ही) चिति या चेतना की झलक में; तुम्हारे ही प्रसाद या अनुग्रह से अहि का वध किया (इन्द्र अथवा त्रित ने ?) ६। इस प्रसंग में तु. छा. अन्न की 'अणिष्ठ धातु' मन, मन अन्नमय (६।५।१,४), आहार शुद्धि से सत्वशुद्धि (७।२६।२)। २ श. १।५।२।११; तु. शांखायन ब्राह्मण ३।४। ३ श. १।५।४।३।

[१५१७] मा. २१।१४; प्रैष: होता यक्षद् ईडेन्यम् ईडितं वृत्रहन्तमम् इडाभिर् ईड्यं सह: सोमम् इन्द्रं वयोधसम् अनुष्टुभं छन्द इन्द्रियं पञ्चाविं गां वयो दधद् वेत्व् आज्यस्य होतर् यज २८।२६।

[१५१८] ऋ. प्र दीधितिर् विश्ववारा जिगाति होतारम् इल: प्रथमं यजध्यै, अच्छा नमोभिर् वृषभं वन्दध्यै स देवान् यक्षद् इषितो यजीयान् ३।४।३। 'दीधित:' <√'ध्यान करना'। निघ. 'किरण' १।५, अंगुलि २।५; मूल ध्यान अर्थ से एक में प्रज्ञा एवं दूसरे में कर्म की व्यंजना (तु. ७।१।१ टी. १२६६[5], वहाँ दोनों ही अर्थ प्राप्त होते हैं)। **विश्ववार**— ऋक्संहिता में अग्नि, बृहस्पति, वायु, इन्द्र, अश्विद्वय, उषा, सविता और द्यावापृथिवी का विशेषण है; इसके अलावा रयि, रथ, नियुत, द्रविण का भी विशेषण है; एक ऋषि का नाम 'विश्ववार' (५।४४।११) है और एक ऋषिका हैं 'विश्ववारा' (५।२८ सूक्त)। अनुरूप: 'अग्नि: विश्ववार्य:' ८।१०।११; फिर 'हवे विश्वप्सुं विश्ववार्यम्'— वही देवहूति जो विश्वरूप अर्थात् विचित्र अथवा नाना वर्ण रूप है एवं विश्व देवगण की वरेण्य अथवा काम्य है ८।२२।१२। 'विश्ववार' के दो अर्थ हो सकते हैं— 'विश्व-वरेण्य' अथवा 'विश्व को जो आवृत करता है'। देवता के सन्दर्भ में दोनों ही अर्थ होते हैं। किन्तु 'दीधिति' के समय द्वितीय अर्थ ही संगत। 'विश्ववारा दीधिति' वह ध्यान चेतना जो विश्व को आवृत करती है (तु. स भूमिं विश्वतो वृत्वा ऽत्य अतिष्ठद् दशाङ्गुलम् १०।९०।१)। ध्यान चेतना की इस व्याप्ति में ही औपनिषद ब्रह्म का अनुभव। 'यजध्यै'— 'इड' अथवा एषणा के 'प्रथम होता' अग्नि क्योंकि वे ही हम सब के भीतर अमृत की एषणा जगाते हैं। 'दीधिति' अथवा
२४५

आप्री सूक्त के चतुर्थ देवता **बर्हिः** हैं। अधियज्ञ दृष्टि से बर्हिः कुशमय यज्ञांग है। अधिदैवत दृष्टि से वह अग्नि का ही प्रतीक है। यास्क की व्युत्पत्ति के अनुसार 'बर्हिः परिबर्हणात्' [१५१९]। दुर्ग उसका अर्थ करते हैं 'उखाड़ना, उपारना अथवा 'वृद्धि पाना' बढ़ते जाना। वेद में उखाड़ने के अर्थ में बृह् धातु का अनेक प्रयोग है।[१] किन्तु बर्हि के मूल में स्पष्टतः ही बृह् धातु है जिसका अर्थ है 'बढ़ते जाना'। ध्वनिसाम्य के कारण जान पड़ता है कि बर्हिः में इन दो धातुओं के अर्थ की ही व्यंजना है। कुश उखाड़ने पर वह बढ़ जाता है (दुर्ग) यही भावना उसके पीछे है। मुंजतृण से इषीका की भाँति अपने शरीर से हृदयसन्निविष्ट अंगुष्ठमात्र अन्तरात्मा के 'प्रवर्हण' अथवा उन्मूलन की चर्चा कठोपनिषद् में है।[२] उसके फलस्वरूप वहाँ आत्मा के 'महान्' अथवा 'बृहत्' होने की ध्वनि, प्रकरण से[३] समर्थित होती है। यास्क की व्युत्पत्ति के मूल में अनुरूप भावना का रहना बहुत ही सम्भव है। 'परि' (प्रत्येक दिशा में) यह उपसर्ग उसका सूचक है। यज्ञ-कार्य में देवताओं के लिए आसन बिछाने के उद्देश्य से कुश को उखाड़ा जाता है। छिन्न कुश यज्ञ का अंगीभूत होकर बृहत् होता है। उस समय वह 'बर्हिः' अर्थात् 'ब्रह्म' अथवा बृहत् की भावना का प्रतीक है। एक ही धातु से 'ब्रह्म' के अनुरूप 'बर्हिः' संज्ञा का निष्पादन संभवतः पारिभाषिक है। शतपथ ब्राह्मण में बर्हिः को 'भूमा' कहा गया है;[४] इस संज्ञा की व्युत्पत्ति के अनुकूल यह अर्थ है। लक्षणीय है कि संहिता में भी 'बर्हिः' के सम्बन्ध में 'प्रथन' अथवा विपुल होकर फैल जाने का उल्लेख बार-बार किया गया है।[५] इस प्रसंग में बृहती छन्द का विधान भी व्यंजनावह है।[६]

फिर देखते हैं कि निघण्टु में बर्हिः 'उदक' अथवा 'अन्तरिक्ष' है। [१५२०] एक प्राण का प्रतीक है और दूसरा प्राणभूमि है। ऐतरेय ब्राह्मण में बर्हिः को 'पशु' बतलाया गया है : वह भी प्राण का ही प्रतीक है। लक्षणीय है कि बर्हिः 'उद्-भिद्' अर्थात् भूमि फोड़कर उगता है। उसको आसानी से निर्मूल नहीं किया जा सकता। उखाड़ लेने पर उसकी सूई जैसी तेज़ नोक द्युलोक की ओर उन्मुख रहती है। इसी से बर्हिः को निःसंकोच द्युलोकाभिसारी अजर प्राण की एषणा कहा जा सकता है। और फिर, अन्तरिक्ष मध्यस्थान है। बृहती, सातों छन्दों के बीच का छन्द है; हृदय 'मध्य आत्मा'[१] अथवा योगासीन शरीर का मध्यदेश है; छान्दोग्योपनिषद् की वैश्वानर विद्या में पाते हैं कि 'वक्षस्थल ही वेदी है, उसका सारा लोम (रोयाँ) बर्हिः है और हृदय गार्हपत्य अग्नि है।'[२] इससे हम समझ सकते हैं कि हृदय में बिछा हुआ बर्हिः उन्मुख प्राण का आसन है जो मूलाधार से समिद्ध होकर यहाँ उठ आया है।

ध्यान दीप्ति उनका यजन करने जा रही है अर्थात उनको प्रबुद्ध करने जा रही है। ध्यान में देवता मूर्त होंगे, फिर उनके ही प्रीतिकर प्रसाद या अनुग्रह से एषणा शुरू होगी। 'इषितः' एवं 'ईळितः' (दोनों ही < √इष् 'चाहना' 'दौड़ना' बहुत तेज़ चलना) देवता की व्यंजना वहन करते हैं। अग्नि हमारे भीतर एषणा जगाते हैं जिससे हम परम को खोजते हैं। फिर हमारी दीधिति उनके भीतर संवेग जगाती है। इस प्रकार ईळ. (ईळ) मनुष्य और देवता के परस्पर आप्यायन अथवा अन्योन्यसम्भावन के देवता हैं।

[१५१९] नि. ८।८। [१] तु. वृह माया अनानत (इन्द्र) ६।४५।९, उद् वृह रक्षः सहमूलम् इन्द्र ३।३०।१७, प्र वृहा पृणतः ६।४४।११ ---। [२] क. २।३।१७। [३] तु. क. २।३।१४, ३-४, ८, १।४, १।३।१३-। [४] श. १।५।४। [५] तु. ऋ. व्यु उ प्रथते वितरं वरीयः १०।११०।४ (लक्षणीय 'वरीयः' महा-वैपुल्ये) ७।०।४, ५।५।४; मा. २०।३९, २९।४, २९। [६] मा. २१।१५, २८।२७।

[१५२०] निघ. १।१२; १।३। [१] क. २।१।१२, ३।१७। [२] ५।१८।२। यह यज्ञ का आध्यात्मिक प्रतिरूप है।

बर्हिः के प्रसंग में संहिता में इन दो धातुओं का प्रयोग उपलब्ध है — जिसमें 'स्तृ' धातु का अर्थ है फैलाना, बिछाना एवं 'वृज्' का टेढ़ा करना, झुकाना, मोड़ देना [१५२१]। देवता के लिए कुश का आस्तरण बिछाए जाने के अर्थ में स्तृ धातु का प्रयोग सहज साध्य है। किन्तु वृज् धातु का प्रयोग किस अर्थ में किया गया है वह सुस्पष्ट नहीं। दुर्ग (अग्नि के पक्ष में) प्रच्छेदन, प्रस्तरण एवं प्रणयन ये तीन अर्थ देते हैं। छेदन के अर्थ की कल्पना सम्भवत: व्रश्च॥ वृश्च धातु के साथ वृज धातु के सांकर्य के कारण आई है।[1] किन्तु निघण्टु में ही वृज् धातु से बल के अर्थ में वर्गः। वृजनम्[2] उपलब्ध है। झुकाने, टेढ़ा करने अथवा मोड़ने में बल की ज़रूरत पड़ती है। वेद के अनेक स्थानों में सहचरित 'इष' एवं 'ऊर्ज' अर्थात अभीप्सा एवं गोत्रान्तर की व्यंजना इस प्रसंग में स्मरणीय है। दुर्ग द्वारा कल्पित प्रणयन अर्थ के मूल में भी बल की ध्वनि है। यास्क द्वारा उदाहृत मंत्र में बर्हिः का 'प्रवर्जन' यदि आस्तरण अर्थ में भी ग्रहण किया जाता है तो उसमें बल का प्रयोजन इस रूप में होता है। कुश के अग्रभाग को पूरब की ओर अथवा उत्तर मुखी करके — विशेषत: पूर्वमुखी करके बिछाया जाता है। इसलिए बर्हि का एक विशेषण 'प्राचीन' है।[3] पूर्व दिशा आलोक की अर्थात "तिमिर विदार उदार अभ्युदय की" दिशा है और उत्तर व्याप्ति चैतन्य की विश्वोत्तीर्णता अथवा लोकोत्तरता की ओर ऊपर उठने की दिशा है। बर्हि का मूल अँधेरे में मिट्टी के नीचे रहे, इससे क्षति नहीं। किन्तु जब हम उसे उखाड़ कर लाएँगे और देवता का आसन बिछाएँगे तब उसका शीर्ष आलोक के उदयन वा उत्तरायण की ओर रखेंगे। यही 'प्रवर्जन' हुआ अर्थात प्राण की एषणा को अन्धकार के गुहाशयन से 'प्रवृद्ध' अथवा उन्मूलित करके उसको ज्योतिर्मुख करना। उसके लिए 'ऊर्ज' अथवा मोड़ देनेवाले या दिशा बदलने वाले बल की ज़रूरत होती है। जो ऐसा कर सकता है वह 'वृक्तबर्हिः' है। उन्मुख प्राण को यदि हम इस प्रकार ज्योति की ओर देवता के आसन रूप में बिछा पाने में सक्षम हों तभी वह 'प्रथित' होता है अर्थात विपुल, बृहत् होकर फैलता है। प्राण का यह वैपुल्य ही 'ब्रह्म' है। उसके साथ 'बर्हिः' के व्युत्पत्ति-साम्य का मूल यहाँ है।

ऋक् संहिता का कथन है कि सहस्रवीर्य के आधार इसी प्राण का आसन ओज: शक्ति द्वारा दिव्य भाव में तन्मय होकर द्युलोक की नाभि में बिछाना पड़ता है [१५२२] वसुगण, रुद्रगण एवं आदित्य गण यहाँ आकर आसन ग्रहण करते हैं।[1] मनीषी वहाँ अमृत का दर्शन करते हैं।[2] माध्यन्दिन संहिता में बतलाया गया कि इस बार छन्द के और चार अक्षर बढ़ने पर वह बृहती हुआ, और बछड़ा भी तीन बरस का हुआ।[3]

[१५२१] द्र॰ ऋ॰ १।१४२।५; जहाँ इन दो धातुओं का एक साथ प्रयोग है। यजमान का एक साधारण विशेषण है 'वृक्तबर्हिः' १।१२।२, ३।२।५, ६, ५।२३।२...। [1] तु॰ निघ॰ वृणक्ति। 'वृश्चति' वधकर्मा २।१९। किन्तु 'वृक्तबर्हिः' 'वृक्त' <√वृज्, नहीं तो 'वृक्ण' होता। [2] निघ॰ २।९; तु॰ ऊर्ज्। [3] ऋ॰ १।१८८।४, ७।५।४, १०।११०।४; मा॰ २०।२९, २९।२९।

[१५२२] तु॰ प्राचीनं बर्हिर् ओजसा सहस्रवीरम् अस्तृणन्, यत्रा दित्या विराजथ १।१८८।४; ७।५।४, ३।४।४। [1] १।१८८।४, २।३।४; मा॰ २८।४...। [2] ऋ॰ स्तृणीत बर्हिर्... मनीषिणः, यत्रा मृतस्य चक्षणम् १।१३।५। [3] मा॰ २१।१५, २८।२७।

अब हम उत्सर्ग भावना के चतुर्थ सोपान पर आ गए। प्राण की एषणा ज्योतिर्मुख एकाग्रता द्वारा द्युलोक की ओर उन्मुख हुई। उसके ही द्वारा हृदय में परमदेवता का आसन रचा। विश्वामित्र ने कहा—

'तुम सब के निमित्त धूर्तिहीन (अकुटिल) साधना द्वारा ऊर्ध्वगामी उन्नत पथ रचा गया। उन्मुख शुक्ल शिखाएँ पार कर गईं कितने भुवन। द्युलोक की नाभि में आसीन हैं होता। हम बिछा देते हैं देवताओं द्वारा व्याप्त (मन लगा कर) बर्हि: को [१५२३]।' — अर्थात सहज के छन्द में हमारा चलना, उसमें कहीं भी कौटिल्य नहीं। अतएव, जीवन में मर्त्य की एषणा और गुहाहित अमर्त्य की अभीप्सा[1] दोनों के ही निमित्त आज हमने ऊर्ध्व, उन्नत पथ की रचना की है। उसी पथ से होकर समिद्ध अग्नि की उत्तरवाहिनी शिखाएँ कन्दमूल से निकल कर तीव्र गति से प्राणसमुद्र के कूलों-किनारों को पार करके बढ़ रही हैं। पथ के बीच-बीच में एक-एक ज्योति-ग्रन्थि है। हम वहाँ ही देवता का आसन स्थापित करते हैं और ज्योतिरग्रा एषणा की कुशमुष्टि उसके ऊपर बिछा देते हैं। उस समय हमारा अन्तर देवता को आलिंगित करके देवमय हो जाता है।

[१५२३] ऊर्ध्वो वां गातुर् अध्वरे अकार्य् ऊर्ध्वा शोचींषि प्रस्थिता रजांसि, दिवो वा नाभान्य् असादि होता स्तृणीमहि देवव्यचा वि बर्हि: ३।४।४। 'ऊर्ध्व: गातु:' ऊर्ध्व, उन्नत पथ। निघ. 'गातु' पृथिवी १।१। 'अध्वरे' सहज की साधना में स्रोत के प्रतिकूल उठने या ऊर्ध्वपथ की चर्चा परवर्ती युग के साधन शास्त्रों में नाना रूपों में हुई है। यहाँ का वर्णन कुण्डलिनी के ऊर्ध्वस्रोता होने के प्रसंग की याद दिला देता है। 'वाम्' – अर्थात तुम दोनों का, बर्हि: और अग्नि का (सा:)। बर्हि: का ऊर्ध्व पथ मर्त्य प्राण का ऊर्ध्व स्रोत है। 'रजांसि' – अर्थात प्राणालोक समूह की ओर। लक्षणीय, इसके बाद ही है 'देवीर् द्वार:' अथवा ज्योति के द्वारों का प्रसंग। ज्योति का ऊर्ध्वस्रोत एक के बाद एक प्राणलोक तब तक पार करके चलता रहता है जब तक कि ज्योति में ज्योति मिल नहीं जाती। 'दिव: नाभा' [= नाभौ] < √ नभ ।। नह 'बाँधना', नि. नाभि: सन्नहनात्, नाभ्या सन्नद्धा गर्भा जायन्ते ४।२१; तु. Gk. omphalos, Lat umbilicus Germ. nabel, Eng. navel, nave; also Lat. umbo 'knob, boss on a shield'। जहाँ सब मिलकर गाँठ पड़ जाये उससे 'ग्रन्थि, मर्मस्थान' (तु. मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभि: ६।४७।२८)। चक्र (चक्का, पहिया) की नाभि प्रसिद्ध है जहाँ अर या शलाकाएँ आकर मिलती हैं। आध्यात्मिक दृष्टि में इस कल्पना से नाड़ी-ग्रन्थि भी 'नाभि'। नाभि में अरसमूह (तीलियाँ) 'समर्पित' होता है, उससे नाभि चित्त की एकाग्रता का भी प्रतीक है। तु. अमी ये सप्त रश्मयस् तत्रा मे नाभिर् आतता १।१०५।९; 'अयम् (इन्द्र:) ईयत ऋतयुग्भिर् अश्वै: स्वर्विदा नाभिना चर्षणिप्रा:' अर्थात ये इन्द्र गमन करते हैं ऋतयुक्त अश्व और स्वर्ज्योति की प्रापक नाभि के द्वारा उपलक्षित होकर, जो चरिष्णु या विचरणशील हैं उन्हें आपूरित करके (तु. क. 'सदश्व' एवं 'मन: प्रग्रह' १।३।६,९ 'चर्षणी' उद्यमी साधक, तु. ऐब्रा. चरैव ७।१५) ६।३९।४। नाभि ज्योतिर्मय ग्रन्थि (तु. 'विवस्वति नाभा' १।१३९।१, अधियज्ञ दृष्टि में उत्तरवेदि, अध्यात्म दृष्टि में हृदय) पृथिवी की नाभि अग्नि १।५९।२ (तु. १।१४३।४ टी. १२५८[2], ३।५।९, २९।४ टी. १३२२, १०।१।६; सोम भी पृथिवी की नाभि में ९।८२।७, ८।३।३ पर्जन्य के रूप में, ८।६।८)। दैव्य होतागण के वर्णन के अनुसार पृथिवी की नाभि में जिस प्रकार अग्निग्रन्थि है उसी प्रकार उसके ऊपर और भी तीन ग्रन्थि हैं (नाभा पृथिव्या अधि सानुष त्रिषु २।३।७; तु. चतस्रो नाभो [< नाभ्'] निहिता अवो दिवो हविर् भरन्त्य् अमृतं घृतश्चुत: ९।७४।६ टी. १२५३[2] सोमस्रावी ग्रन्थि)। जिस प्रकार सब के नीचे पृथिवी की नाभि यह एक चिद्ग्रन्थि (तु. मणिपूर), उसी प्रकार द्युलोक की नाभि एक और ग्रन्थि (तु. सहस्रार)। दोनों के मध्य तीन या चार नाभि का क्रम बौद्ध तंत्र की इन चार ग्रन्थियों अर्थात नाभि में आनन्द, हृदय में परमानन्द, भ्रूमध्य में विरमानन्द और मस्तक में सहजानन्द का स्मरण करवा देता है। सोम ऋत की नाभि एवं अमृत (९।७४।४) हैं उसे नाभि के नीचे नहीं उतरने देना है (९।१०।८ टी. १२५५[3]; तु. दिवि ते नाभा परमो य आददे' द्युलोक की नाभि में बँधी है सोम की परमनाभि ९।७९।४)। 'बर्हि वि स्तृणीमहि'—

उसके बाद पंचम आप्री देवता 'देवीर् द्वारः' अथवा ज्योतिर्मय द्वार हैं। कात्थक्य कहते हैं कि द्वार के अर्थ में यज्ञगृह के द्वार का बोध होता है और शाकपूणि कहते हैं कि द्वार अग्नि है [१५२४]। ये द्वार अग्निशिखा के प्रतीक हैं इसलिए यह संज्ञा बहुवचनान्त है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार अग्नि देवयोनि है, उससे यजमान 'वेदमय ब्रह्ममय अमृतमय ... हिरण्यशरीर' होकर जन्म लेते हैं।[1] द्वार के सम्बन्ध में यास्क द्वारा उद्धृत मंत्र[2] में इसी भावना की ध्वनि है।

प्रतीक रूप में संहिता में द्वार का प्रसंग अनेक स्थलों पर है। द्वार जिस प्रकार किसी को या कुछ भी ओट में रखता है उसी प्रकार फिर भीतर घुसने का रास्ता भी खोल देता है [१५२५]। अन्धकार का आवरण हट जाते ही रुद्ध द्वार हो जाता है 'देवीर् द्वारः' अथवा ज्योति का दुआर (दरवाज़ा)। उसकी आड़ में हैं अश्व (ओजः), गौ (प्रातिभ संवित्), यव (तारुण्य), वसु (ज्योति) रयि (प्राण संवेग) इष (इष्टार्थ) अथवा सिन्धु (अमृत ज्योति की धारा)।[1] देवता उसे हमारे निकट अर्गला तोड़ कर अनावृत करते हैं। यह अर्गला तोड़ने अथवा दुआर खोलने का काम अग्नि, इन्द्र एवं सोम करते हैं।[2] इसके अलावा अश्विद्वय, उषा[3] एवं देवगन्धर्व विश्वावसु अथवा सविता भी यही काम करते हैं।[4] प्रथम तीनों ऋग्वेद के तीन मुख्य देवता हैं और इनके बाद तीन देवता चित् सूर्य के उदयन के प्रथम तीन पर्व या सोपान के देवता हैं। इसे हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि पृथिवी से द्युलोक तक वितत, व्याप्त देवयान का जो आलोकपथ है, उसके ही प्रत्येक सोपान या पड़ाव-पड़ाव पर ये ज्योति के तोरण हैं। इसकी आध्यात्मिक व्यंजना का उल्लेख संहिता में ही है; वहाँ कहा गया है कि यह द्वार 'ऋत का द्वार' है, और भी स्पष्ट कहा गया है 'मति का द्वार' है और एक स्थल पर 'इन्द्र का द्वार' है।[5] शतपथ

बर्हिः अग्नि का सहचर, अग्नि का एक और विभाव। प्रत्येक लोक अथवा चक्र में अग्नि के जाने पर उनको आवृत कर बर्हि का प्रवर्जन और विस्तरण करना होगा अर्थात् प्राण को समेट कर फैला देना होगा (तु. सूर्य के तेज का समूहन एवं रश्मि का व्यूहन- ई.१६)। 'देवव्यचा' < √व्यन्च् 'फैलाना, बिखराना, आच्छन्न, आच्छादित करना', जो देवता को आच्छादित किए हुए हैं; ऊह्य या अनुमेय 'मनसा'। पदपाठ : 'देवव्यचाः', किन्तु उससे अर्थसंगति होती नहीं। [1] तु. ऋ. १।१६४।३० टी. १३८७।

[१५२४] नि. ८।१०। [1] ऐब्रा. १।१२, २।३। [2] ऋ. व्यचस्वतीर् (सुविपुला) उर्विया (विशाल होकर) वि श्रयन्ताम् (खुल जाते हैं) पतिभ्यो न जनयः (पत्नियाँ) शुम्भमानाः (स्वयं को शोभना करके) १०।११०।५। ज्योति के द्वार से यजमान के निष्क्रय के रूप में आहुतियाँ ऊपर उठ जाएँगी, देवगण नीचे उतर आएँगे, अथवा यजमान ही लौट आएँगे हिरण्यशरीर होकर। ज्योति के सब द्वार अग्नि रूप में इसी नवजातक की देवयोनि हैं।

[१५२५] तु. नि. द्वारो जवतेर् वा वारयतेर् वा ८।४; आधुनिक व्युत्पत्ति <IE. *dhuor*, GK. *thūra* 'door'। [1] तु. दुरो अश्वस्य दुर इन्द्र गोर् असि दुरो यवस्य वसुन इनस्पतिः १।५३।२, ७२।८, ८।५।२१, ९।४५।३, ६४।३। [2] अग्नि १।६८।१०, ६९।५, १२८।६, २।२।७, ३।५।१ टी. १३४२[5]; ७।९।२, उत द्वार उशतीर् वि श्रयन्ताम् उत देवाँ उशत आ वहेह १७।२ टी. १३२८[1], ८।३९।६ टी. १४५७[12]; इन्द्र १।१३०।३, प्र सूनृता दिशमान ऋतेन दुरश् च विश्वा अवृणोद् अप स्वाः ३।३१।२१ (१०।१२०।८), ६।१७।६, १८।५, ३०।५; सोम ९।४५।३ (६४।३)। [3] अश्विद्वय : दृढस्य चिद् गोमतो वि व्रजस्य (गोष्ठ के ग्रन्थि के) दुरो वर्तं गृणते चित्रराती ६।६२।११, ८।५।२१; उषा : उषो यद् अद्य भानुना वि द्वाराव् ऋणवो दिवः १।४८।१५, ११३।४, व्यु व्रजस्य तमसो द्वारो च्छन्तीर् (दीप्त होकर)

२४९

ब्राह्मण में इन छः ब्रह्मद्वारों — 'अग्निर्, वायुर, आपश् चन्द्रमा, विद्युद् आदित्य इति' का उल्लेख प्राप्त होता है, जो स्पष्टतः चेतना के उत्क्रमण के एक विशेष क्रम का बोधक है।[6] उपनिषद में भी ब्रह्मद्वार का उल्लेख नाना रूपों में है।[7]

छान्दोग्योपनिषद के लोकद्वार की व्याख्या में द्वारभावना का एक सुष्ठु परिचय प्राप्त होता है [१५२६]। सुत्या दिवस सोमयाग का प्रधान अनुष्ठान दिवस है। उस दिन प्रातः, दोपहर और सायंकाल सोम कूट कर उसके रस की आहुति अग्नि में देनी पड़ती है (सवन)। ब्रह्मवादियों का कहना है कि प्रातः सवन वसुगण के, माध्यन्दिन सवन रुद्रगण के और तृतीय सवन आदित्य गण एवं विश्वदेवगण के अधिकार में है। एक-एक देवगण का स्वधाम एक-एक लोक हुआ। पृथिवी लोक वसुदेवगण का, अन्तरिक्ष लोक रुद्रगण का, द्युलोक आदित्यगण एवं विश्वदेवगण का स्वधाम है। निश्चित रूप से प्रत्येक लोक देवाधिष्ठित होने के कारण ज्योतिर्मय अथवा चिन्मय है। यह समझा जाता है कि प्रत्येक लोक का एक-एक द्वार है जो अविद्वानों के निकट परिघ अथवा अर्गला से अर्गलित है, अवरुद्ध है। विद्वान यजमान प्रत्येक सवन के पहले लोकपाल देवगण के निमित्त सामगान करते हुए कहते हैं, 'लोकद्वारम् अपावृणु' अर्थात आलोक लोक के द्वार खोल दो। एक-एक करके तीन द्वार खुल जाएँगे और यजमान को क्रमानुसार राज्य वैराज्य एवं अन्त में स्वाराज्य और साम्राज्य का अधिकार प्राप्त होगा। ये संज्ञाएँ पारिभाषिक हैं। पार्थिव प्रकृति के ऊपर अधिकार राज्य, विराट प्राणप्रकृति के ऊपर अधिकार वैराज्य, चिन्मयी आत्मप्रकृति के ऊपर अधिकार स्वाराज्य एवं महाप्रकृति के ऊपर अधिकार साम्राज्य हुआ। आध्यात्मिक दृष्टि से इस ज्योति के द्वार को पार करने की एक और व्याख्या इसी उपनिषद में ही प्राप्त होती है। आदित्य लोक से हम सब के हृदय तक आदित्य रश्मि द्वारा रचित एक महापथ है। उसी पथ से होकर आदित्य रश्मियाँ आदित्य मण्डल से हृदय के नाड़ीचक्र में अनुप्रविष्ट होती हैं एवं नाड़ी चक्र से परावृत्त होकर पुनः आदित्य मण्डल में लौट जाती हैं। विद्वान जब शरीर त्याग

अव्रज्छुचयः पावकाः ४।५१।२, ५।८०।४; [4] सविताः सस्निम् (< √स्ना, सन, सोम का जयन्त अभिषेक) अविन्दच् चरणे नदीनाम् (नदियों के प्रवाह में, नाड़ीतंत्र में) अपावृणोद् दुरो, अश्म व्रजानाम् (पत्थरों से घिरे गोष्ठों का; सविता इन्द्र रूप में) १०।१३९।६। [5] अयम् उ ते सरस्वति वसिष्ठो 'द्वारावृतस्य' सुभगे व्य् आवः (विवृत किया है, उद्घाटित किया है), वर्ध शुभ्रे ७।९५।६; अप 'द्वारा मतीनां' प्रत्ना ऋण्वन्ति कारवः (कीर्तन करने वाले), वृष्णोः (वीर्यवर्षी सोम का) हरस (जल उतने के लिए) आयवः (जो आयु' अथवा प्राणाग्नि स्वरूप; मनन या चिन्तन का द्वार उन्होंने खोल दिया जिससे उनके प्राण में सोम की धारा आगत हो जाए) ९।१०।६, ८।६३।१ (तु. अन्तरेण तालुके य एष स्तन इवावलम्बते, सेन्द्रयोनिः' तैउ. १।६।१)। [6] श. ११।४।४।१। अग्नि पृथिवी स्थान, आदित्य द्युस्थान, दोनों के बीच उत्क्रमण के क्रम या धारा के अनुसार चार अन्तरिक्ष स्थान द्वारों का सन्निवेश या विन्यास। ब्रह्मद्वार की भावना में दोषयुक्त हवि भी समृद्ध (समिद्ध) होकर ब्रह्म का सायुज्य और सालोक्य उपलब्ध करवा देती है। समग्र ब्राह्मण ही द्रष्टव्य। [7] तु. मैत्र्युपनिषद ४।४, ऐउ. नान्दन द्वार १।३।१२, छा. ब्रह्म के द्वारपाल हैं वाक्, चक्षु, श्रोत्र, वायु (प्राण), मन ३।१३।६; मु. सूर्यद्वार १।२।११, क. विवृतं सद्मं १।२।१३...।

[१५२६] छा. २।२४, ८।६।५-६; द्र. वेमी. टीमू. प्रथम खण्ड। →

240

देते हैं तब इसी रश्मि के सहारे ओंकार के उच्चारण के साथ ऊपर उठते जाते हैं एवं पलक गिरते ही आदित्य ज्योति के महावैपुल्य में उतर जाते हैं। यह आदित्य मण्डल ही लोकद्वार है; वह विद्वान के लिए खुला रहता है, अविद्वान के लिए अर्गला द्वारा अवरुद्ध होता है। हृदय के साथ एक सौ एक नाड़ियाँ ग्रथित हैं। उनमें जो एक मस्तक की ओर चली गई है, विद्वान उसको ही पकड़ कर ऊपर उठ जाने पर अमृतत्व प्राप्त करते हैं। अन्य नाड़ियाँ सीधे न जाकर अनेक दिशाओं में गई हैं।[1]

उपनिषद् में जो लोकद्वार है, संहिता में वही 'देवीर् द्वारः' है अर्थात् दोनों ही संज्ञाओं का व्युत्पत्तिगत अर्थ ज्योति का दुआर या द्वार है। हम पहले ही बतला चुके हैं कि शतपथ ब्राह्मण में उनके एक क्रम का उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार 'वृष्टिर् वै दुरः' ये द्वार वर्षण हैं [१५२६]; अर्थात् एक एक द्वार खुल जाते हैं और उत्तर लोक की ज्योति, आनन्द और शक्ति के धारावाही वर्षण से आधार प्लावित हो जाता है। इस भावना का बीज ऋक् संहिता में ही है। ऋषि ब्रह्मातिथि काण्व अश्विद्वय को सम्बोधित करते हुए कहते हैं 'तुम अहना (उषा) का पता जानते हो, द्युलोक की इष्टद्युति और अन्तरिक्ष की नदियों को झरने दो हम सब के ऊपर, द्वार खोल दो।'[1]

संहिता के वर्णन में आप्रीसूक्त का यह 'देवीर् द्वारः' हिरण्मयी, उशती अथवा उद्विग्न [१५२८] है। अवरोध का उन्मोचन करके वे जो वैपुल्य लाते हैं उसकी सूचना इन सब विशेषणों — 'विराट्, सम्राट्[1], विभ्वीः, प्रभ्वीर्, बह्वीश्च भूयसीः'[2] 'व्यचस्वतीः'[3], 'उरुव्यचसः'[4], 'बृहतीः'[5] के माध्यम से प्राप्त होती है, माध्यन्दिन संहिता के अनुसार यहाँ आकर छन्द के और चार अक्षर बढ़ जाने पर वह पंक्ति हुआ, और बछड़ा भी चार बरस का हुआ।[6]

अब हम उत्सर्ग-भावना के पंचम सोपान पर आए। विश्व चेतना का प्रभास उस पार से उतरा, उसके ही आलोक में देवयान के उत्तरापथ में हम ज्योति के सात तोरण अर्थात् अपनी अभीप्सा की उत्सर्पिणी शिखा का वितान या विस्तार देख पाए। उनकी प्रशस्ति हम विश्वामित्र के कण्ठ से सुनते हैं — 'इन सात आहुतियों को अन्तःकरण से वरण किया (विश्वदेवता ने), विश्वभुवन का अतिक्रमण करके (मेरी) और अग्रसरित होए ऋत के छन्द में। पौरुषरंजिता (ज्योति की [illegible] विद्या की साधना से उत्पन्न होकर इस यज्ञ के निमित्त विचरण करें — वे सब जो प्राक्तनी हैं, पूर्वकालीन हैं [१५२९]।' अर्थात् उत्तरायण के पथ पर चेतना के अभियान में प्रत्येक पर्व या सोपान पर सात बार स्वयं की आहुति दी जाती है, तब

---

[1]तु. क. २३।१६; गी. ८।९-१३; इस प्रसंग में और भी तु. पूर्वोक्त ब्रह्मद्वार, नान्दनद्वार, सूर्यद्वार, ब्रह्मरन्ध्र।

[१५२६] ऐब्रा. २।४। [1]ऋ. उत नो दिव्या इष उत सिन्धूँर् अहर्विदा, अप द्वारेव वर्षथः - ८।५।२१। मंत्र का वर्षथः, √वृ का लोट् अथवा √वृष का लट् दोनोंही हो सकता है। यह प्रयोग स्पष्टतः श्लिष्ट। सायण ने वर्षण अर्थ ग्रहण किया है; तु. ५।८४।२।

[१५२८] ऋ. ७।२।५, मा. २८।२८; ऋ. १०।७०।५। [1]तु. छां. २।२४। [2]विराट्, सम्राट्...भूयसीः दुरो घृतान्य् अक्षरन् १।१८८।५। विभ्वी, विचित्र 'प्रभ्वी' समर्थ; शक्तिशाली; तु. १।९।५ संख्या में 'बह्वी', प्रसार में 'भूयसी'। तु. छां. भूमा ७।२३।१; ऋ. उरु अनिबाध ५।४२।१७, ४३।१६। 'घृत का क्षरण' ज्योति का निर्झरण। [3]ऋ. २।३।५, १०।११०।५; मा. २०।६०, २९।३४, २८।२८, २९।३०। [4]मा. २७।१५। [5]मा. २९।३०। [6]मा. पंक्तिश् छन्दः... तुर्यवाड् गौः २१।१६, २८।२८।

विश्व देवता मेरे आह्वान का उत्तर देते हैं और मेरी आहुतियों को दिव्य मन के प्रकाश में वरण कर लेते हैं। उसका लक्ष्य व्यक्त होता है—जीवन में छन्द-सुषमा के आविर्भाव में, उसके ऊपर उनकी उच्छलित ज्योति के प्लावन में।... न जाने कब से परम को प्राप्त करने की अविश्रान्त अविराम साधना चल रही है। आँखों के सामने बारी बारी से एक-एक करके ये ज्योति के द्वार खुलते जाते हैं। मन के उस पार प्रज्ञान की भूमि पर चिरन्तनी होकर हैं जो ज्योति की अंगनाएँ, वे सब उसी द्वारपथ से होकर मेरे उत्सर्ग की साधना में अपनी वीर्योद्दीप्त सुषमा के साथ उतर आएँ।

आप्रीसूक्त के षष्ठ देवता उषासा-नक्ता अथवा नक्तोषसा, अर्थात् उषा और सन्ध्या हैं। संहिता में दोनों का अग्नि के साथ सम्बन्ध नाना रूपों में उल्लिखित होने पर भी [१५३०] यास्क अपनी व्याख्या में इसकी चर्चा नहीं करते हैं; किन्तु दुर्ग का कहना है कि किसी-किसी की दृष्टि में उषा अग्नि की दीप्ति है और नक्त आहुति की दीप्ति है। भावना की दृष्टि से यह व्याख्या अधिक प्रांजल नहीं है। उसकी अपेक्षा शौनक संहिता की यह उक्ति ही बहुत गहरी है; ये 'अग्नेर् धाम्ना पत्यमाने' अर्थात् अग्नि की निरूढ़, सहज स्वाभाविक ज्योति की शक्ति से सब कुछ पर शासन करती हैं, जो कुछ है सब पर इनका प्रभुत्व है।[1] कैसे, किस प्रकार वह क्रमशः स्पष्ट होगा।

उषा वैदिक देवियों में सुषमा अथवा सौन्दर्य की दृष्टि से अनुपमा हैं। उनके वर्णन में ऋषियों की काव्य-प्रतिभा उत्कर्ष के चरमबिन्दु पर पहुँच गई है जिसे यूरोपीय पंडितों ने भी स्वीकार किया है कि विश्व के किसी भी धर्म-साहित्य में अद्भुत सुषमा की ऐसी मनोलोभा, मनोहारिणी छवि और कोई उभरी ही नहीं। नारीत्व के

[१५२९] ऋ. सप्त होत्राणि मनसा वृणाना इन्वन्तो विश्वं प्रति यन्न् ऋतेन, नृपेशसो विदथेषु प्र जाता अभी-मं यज्ञं वि चरन्त पूर्वीः ३।४।५। **सप्त होत्राणि** — 'होत्र' < √हु 'आहुति देना' अथवा ह्वे 'आह्वान करना'। 'होत्रम्' एवं 'होत्रा' ये दो रूप हैं। प्रकरण भेद से कहीं आहुति-मंत्र अथवा कहीं होमकर्म का बोध होता है। होता का कार्य भी 'होत्र' (२।१।२, १०।९१।१०, ५१।४, ५३।४...); 'होता का पात्र' २।३६।१। निघ. 'वाक्' १।११, 'यज्ञ' ३।१७। 'सप्त होत्र' सात बार आह्वान करना एवं सात बार आहुति देना - दोनों का ही बोध हो सकता है (तु. द्रप्सं जुहोम्य् अनु सप्त होत्राः १०।१७।११, येभ्यो होत्रां प्रथमाम् आयेजे मनुः समिद्धाग्निः ... सप्त होतृभिः ६३।७ टीप्. १२५३)। यह पद वर्तमान ऋक् में श्लिष्ट है, आहुति के साथ आह्वान की व्यंजना जुड़ी हुई है। सात आहुतियों से ज्योति के सात द्वार खुल जाएँगे, और सात नदियों का प्लावन आधार में उतर आएगा। रहस्य के अर्थ में वेद में सप्त संख्या का अनेक प्रयोग है। अवरार्ध के तीन तत्व एवं उसके ही मूल और आयतन रूप में परार्ध के तीन तत्व और दोनों के बीच सेतु के रूप में एक तत्व—इसी से सप्त की कल्पना। 'वृणानाः' — विश्वेदेवाः' ऊह्य वा अनुमेय। 'ऋतेन प्रतियन्' — [तु. एम् एनं प्रत्येतन, सोमेभिः सोमपातमम् (इन्द्रम्) ६।४२।२] मेरे आह्वान पर देवता सामने आकर उपस्थित हुए। उनके आने का एक छन्द है, जो उस समय मेरे जीवन में भी व्यक्त होता है। 'नृपेशसः' पौरुष का रंग लगा है जिनमें। ये सब 'देवीर् द्वारः' हैं। अग्नि की शिखा ही एक भूमि से अन्य एक भूमि का पथ खोल देती है। यह कार्य वीर्यसाध्य है। अथच देव वीर्य में स्वाच्छन्द्य का औज्ज्वल्य है। [१५३०] ऋक् संहिता में अग्नि 'उषर्भुत्' (१।६५।९, १२७।१०,

समस्त माधुर्य से मण्डित करके ऋषियों ने अन्य किसी देवता को हृदय के इतने निकट पाया ही नहीं। इसके अतिरिक्त उन्होंने उषा के परिप्रेक्ष्य में निसर्ग-श्री या प्राकृतिक सौन्दर्य को भी किसी समय भुलाया नहीं। अतएव प्रकृति, नारी और देवी अर्थात महाशक्ति के इन तीन रूपों का एक अद्भुत समन्वय वैदिक उषा के रूपायन में दिखाई देता है।

उषा द्युलोक की बेटी, भग की बहन, सूर्य की पत्नी, और अग्नि की माता है अर्थात 'जननी, तनया, जाया, सहोदरा' के रूप में नारीत्व के सारे रूपों को ही ऋषियों ने उनमें उजागर किया है। तब भी नवयौवना भावोल्लासमयी कुमारी के रूप में ही उनको चित्रित करने में उनका समस्त आनन्द केन्द्रित था। तब स्वाभाविक रूप में ही तंत्र की त्रिपुरसुन्दरी षोडशी ललिता का प्रसंग मन में उभर आता है। उषा के अनेक नाम हैं, तब भी निघन्टु में उनके सोलह नाम निर्धारित किए गए हैं; क्या वह यही संकेत वहन करता है? वैदिक भावना में अमृत चेतना की पूर्णता के साथ सोलह संख्या का रहस्यमय सम्बन्ध है। एक ओर षोडशकल सौम्य पुरुष, दूसरी ओर अमृत कलारूपिणी षोडशी कन्याकुमारी — दोनों भावनाएँ ओतप्रोत हैं साधारण रूप में देखने पर भी वैदिक उषा का रूप इसी षोडशी का रूप है। उनको वरुण की 'जामि' [१५३१] अथवा आत्मीया कहना भी अर्थपूर्ण है। अदिति के प्रसंग में अदिति-वरुण के युगनद्ध रूप की चर्चा आगे चलकर करेंगे। लगता है, उषा-वरुण उसी सामरस्य का पूर्वाभास है अर्थात रहस्यनिविड़ अकाषाय आकाश-चेतना में अरुणराग का प्रथम रोमांच है। इस कारण उषा की भावना में कवि-हृदय का इतना उल्लास छलक पड़ा है। ज्योति की एषणा के प्रथम सोपान पर वे 'उर्वशी बृहद्दिवा' हैं,[1] जिनके लिए कामार्त्त के पुरुरवा के क्रन्दन का विराम नहीं, जिनको बार-बार वह प्राप्त करता है और खो देता है। किन्तु एषणा के अन्त में संभवतः वे ही फिर 'माता बृहद्दिवा' अर्थात विश्वशिल्पी त्वष्टा की स्वप्न-संगिनी हैं।[2] दोनों स्थान पर वे 'बृहद्दिवा अथवा बृहत् की ज्योति हैं — जिसे वेदान्तिक 'ब्रह्मज्योतिरूपिणी' कहेंगे।

आध्यात्मिक दृष्टि से यही ज्योति प्रातिभ संवित अथवा मानसोत्तर विज्ञान की सहज स्फुरत्ता या चेतना का स्वाभाविक स्पन्दन है। साधना उस समय अन्तरिक्ष की द्वन्द्वभूमि से द्युलोक के स्वतःस्फुरण की आधारभूमि पर उत्तीर्ण हुई। यदि तब भी उजाले और अँधेरे का द्वैत रहता है तो आशंका का कोई कारण ही नहीं; क्योंकि उस समय तिमिरजयी उजाले की निश्चित सम्भावना प्रत्यक्षानुभूत एक सत्य है और अरुणराग का मध्याह्नदीप्ति में रूपान्तरण ऋतच्छन्द की एक घटना मात्र है। यही कारण है कि ऐतरेय ब्राह्मण उषा को 'अहन् के प्रतीक के रूप में मानता है [१५३२] संहिता में भी उषा 'अहना' है।[1]

४।५२।१, ६।१५।१...) एवं 'दोषावस्तृ' (प्रदोष = सायंकाल को प्रदीप्त करते हैं १।१।७, ४।४।९, ७।१५।१५; तु. क्षपां वस्ता जनिता सूर्यस्य ३।४९।४ इन्द्र), और भी तु. १।५९।१

२५३

उषा का संक्षिप्त परिचय यहाँ समाप्त करते हैं, विस्तारपूर्वक विवेचन द्युस्थान देवता के प्रसंग में किया जाएगा।

उषा की सहचारिणी **नक्ता** अथवा सन्ध्या [१५३३] है। उषा जिस प्रकार दिन का प्रतीक है उसी प्रकार सन्ध्या रात्रि का प्रतीक है। ऋक् संहिता में उषा की वन्दना के प्रायः बीस सूक्त हैं किन्तु रात्रि के प्रति रचित दशम मण्डल में मात्र एक सूक्त है।[1] परन्तु उसमें ही उनका वैशिष्ट्य उजागर हुआ है। वहाँ बतलाया गया है कि वे 'देवी' हैं, वे भी 'दिवो दुहिता' हैं, 'ज्योतिषा बाधते तमः' अर्थात् ज्योति द्वारा अन्धकार को दूर कर देती हैं। यह ज्योति चन्द्र की अथवा तारे की अथवा वारुणी शून्यता की है। पृथिवी में अग्नि की ज्योति है, अन्तरिक्ष में विद्युत की ज्योति है, और द्युलोक में सूर्य की ज्योति है। उसके भी ऊपर की ओर स्वर्लोक में पूर्णिमा और अमा की ज्योति है। उसके भी ऊपर की ओर ऐसा स्थान है जहाँ दिन अथवा रात किसी की भी ज्योति नहीं रहती किन्तु स्वधा में निषण्ण 'केवल' वही 'एक' हैं जिनकी भाति या दीप्ति से इन सब की अनुभा अथवा विच्छुरित आत्मदीप्ति है।[2] भोर के उजाले से अमानिशा के विवर तक एवं उसको पार करके इन सब में चेतना के उत्तरायण का स्पष्ट चित्र उभरता है।

आलोक और अन्धकार इन दोनों को लेकर सत्ता की पूर्णता है। इसलिए संहिता में कहा जा रहा है कि उषा और नक्ता ये दो बहनें हैं। उनमें जो रूप-वैषम्य [१५३४] है, उसे स्वीकार कर लेने पर भी वेद में बार-बार उनके रहस्यमय साम्य के ऊपर ही जोर दिया जा रहा है एवं कहा जा रहा है कि वे दोनों ही सुरंजना, सुरूपा हैं, सुरुचिरा हैं और अनुत्तमया सर्वोत्तम श्री से दीप्त हैं,[1] ये दोनों सुदर्शना महीयसी 'दिवो दुहिता' हैं;[2] वे तारुण्यचंचला हैं, सुशिल्पिनी हैं, यौवन के आनन्द से लबालब हैं।[3] वे फिर महीयसी जननी हैं; स्तन्य भावातुरा हैं, ऋत की माता हैं, अग्निरूपी एक मात्र शिशु को दूध पिला रही हैं;[4] इन्द्र उनके वत्स हैं,

टी. १२८८४, अग्निहोत्री का सान्ध्यमंत्र; द्र. टी. १५३३। [1] शौ. उरुव्यचसा ग्नेर...५।२८।८ (आप्री सू.)।

[१५३१] ऋ. भगस्य स्वसा वरुणस्य जामिः १।१२३।५। [1] ५।४१।१८। [2] १०।६४।१०।

[१५३२] ऐ.ब्रा. अहोरात्रे वा उषासानक्ता २।४। [1] ऋ. गृहं गृहम् अहना यात्य् अच्छा दिवे-दिवे अधि नामा दधाना १।१२३।४।

[१५३३] नि. नक्तेति रात्रिनाम अनक्ति (भिगो देती है) भूतान्य् अवश्यायेन (ओस से) अपि वा नक्ता व्यक्तवर्णा ८।१०, IE. nogt, Gr. nukta, Germ. nacht 'night' पर्यायवाची शब्द 'दोषा' तु. दोषाम् उषासम् ईमहे ५।५।६ (आप्री सू.)। और भी तु. य (अग्नि) उ श्रिया दमेष्व् आ दोषोषसि प्रशस्यते २।८।३, (अग्निं) दोषा य उषसि प्रशंसात् ४।२।८, तम् इद् दोषा तम् उषसि ७।३।५। [1] १०।१२७। [2] द्र. ऋ. १०।१२७।२; श्वे. ४।१८, क. २।२।१५।

[१५३४] वे दोनों 'विरूपे': ऋ. 'नक्ता च चक्रुर उषसा विरूपे कृष्णं च वर्णम् अरुणं च सं धुः'[2]... १।७३।७, नक्तोषासा समनसा विरूपे ११३।३, ३।४।६, ५।१।४, टी. १३६६...।

[1] 'सुपेशसा' १।१३।७, १४२।७, १८८।६, १०।३६।१; मा. २०।६१, २१।१७, ३५; प्रैष ७। 'सुरुक्मे' ऋ. १।१८८।६, १०।११०।६, मा. २०।४१। 'अधि श्रिया वि राजतः' १।१८८।६। [2] ७।२।६, ८।५।६, १०।११०।६; मा. २७।१७, २८।२८ (तु. दिवो दुहितरा १०।७०।६। [3] यह्वी ऋ. ५।५।६, मा. २०।६१। 'सुशिल्पे' ८।५।६, १०।७०।६, मा. २९।६। 'वयोवृधा' ऋ. ५।५।६।

तेज द्वारा उनको संवर्धित करती हैं।[4] वे अमृता हैं; यज्ञ के प्रारम्भ में वे दोनों ही आकर संगत होती हैं, विश्व का सारा रहस्य जानने के कारण मर्त्य की चेतना में वे ही उत्सर्ग की भावना को ले कर आती हैं और उसका तन्तु वितान बुनती रहती हैं।[6]

वैदिक साधना में अग्निहोत्र एक सुसाध्य किन्तु मुख्य याग है। सन्ध्या और उषा इस याग के दो काल हैं। सब ओर पसरे अँधेरे की निःसंगता में याज्ञिक के हृदय में सन्ध्या नित्यजाग्रत अग्नि की भावना का संचार करती हैं और उषा विश्व को सूर्य की ज्योति से प्लावित करती है। इस प्रकार इन दो दिव्य योषाओं अथवा नारियों के [1535] ज्योतिः सूत्र के वितान में यज्ञकर्ता के अहोरात्र व्यापी क्षणों के मणिबिन्दु गुँथ जाते हैं। यही कारण है कि कालव्याप्ति के इन दो प्रमुख प्रतानों का इतना महत्व है। उषा मित्र (सूर्य) की दीप्ति और सन्ध्या वरुण की दीप्ति है। मित्र और वरुण के बीच तथा व्यक्त और अव्यक्त के बीच उनका आना-जाना नित्य हुआ करता है।[1] काल के इस युग्म छन्द के रहस्य को जो जानते हैं वे ही अहोरात्रविद हैं। और इसी से वे सृष्टि और प्रलय का रहस्य भी जानते हैं। जिसके कारण काल के आवर्तन के ऊर्ध्व में वे स्वयं को प्रतिष्ठित कर सकते हैं।[2]

इस प्रकार हम उत्सर्ग-भावना के षष्ठ सोपान पर आए। अँधेरे की अर्गला खुल गई, सामने एक के बाद एक ये सात द्वार देख रहे हैं जो हिरण्यवर्णा सूर्य-योषा के अधिकार में हैं। किन्तु उससे भी ऊपर की ओर वर्णोत्तर तिमिर सागर के तट पर देखो चिरकुमारी सन्ध्या हाथ हिलाकर इशारे से बुला रही है [1536]। वह हमें वरुण के अव्यक्त रहस्य के अतल में ले जाएगी। ज्योति और अन्धकार दोनों की ही माया को जानने के बाद हम सत्ता के सत्य को जान पाएँगे।

माध्यन्दिन संहिता के अनुसार चार अक्षर और बढ़ने से इस बार छन्द त्रिष्टुप् हुआ और बछड़ा भी छः बरस का हुआ। विश्वामित्र देख रहे हैं कि 'यही तो एक दूसरे के निकट आमने-सामने झिलमिला रही हैं उषा और (सन्ध्या) दोनों। फिर तनु में अनुरूपा दोनों मुसका रही हैं (वे हँस रही हैं) जिसके कारण मित्र व वरुण हमारा उपभोग करते हैं, और (उपभोग करते हैं) मरुतसम इन्द्र ज्योतिः शक्ति की महिमा से [1537]।' अर्थात् उषा और सन्ध्या — एक ज्योतिवर्णा है और एक

---

4 'मातरा मही' मा. 28।6। 'सुदुघे' मा. 20।41, ऋ. 'सुदुघेव धेनुः' 7।2।6। 'ऋतस्य मातरा' 1।142।7, 5।5।6; 1।86।5 टी.भू. 1445। 5 मा. 28।6। 6 ऋ. 1।113।2; मा. यज्ञानाम् अभि संविदाने 29।6; ऋ. उषासानक्ता विदुषी॰व विश्वम् आ हा वहतो मर्त्याय यज्ञम् 5।41।7; तन्तुं ततं संवयन्ती 2।3।6 (मा. 20।41)।

[1535] ऋ. उत योषणे दिव्ये मही नः 7।2।6। [1] मा. अन्तरा मित्रावरुणा चरन्ती मुखं यज्ञानाम् अभि संविदाने 29।6। 2 गी. 8।17-21।

[1536] तु. सामविधान ब्रा. कन्यां ... युवतीं कुमारिणीम् 3।8।2, जिसके कारण वे असम्भूति स्वरूपिणी। द्र. 'स्तरीर् ना. त्कं व्युतं वसाना' टी. 1266[5]; ह्वयामि रात्रीं जगतो निवेशनीम् ऋ. 1।35।1 टी. 1385।

[1537] ऋ. आ भन्दमाने उषसा उपाके उत स्मयेते तन्वा विरूपे, यथा नो मित्रो वरुणो जुजोषद् इन्द्रो मरुत्वाँ उत वा महोभिः 3।4।6। 'आ' — ['सीदताम्' ऊह्य अथवा अनुमेय]

श्यामवर्णा हैं। किन्तु प्रपंचोल्लास और प्रपंचोपशम की प्रसन्नता उनके अधरों पर तैरती मधुर मुस्कान में फूट पड़ी है — मेरी चेतना में वे दोनों नित्य सहचरी हैं। जिनमें एक का आविर्भाव नेपथ्य में होता है और दूसरी की छवि अरुणिम कमनीयता में उजागर होती है। अपने नित्य जागरण के इन दोनों सन्धि क्षणों में हमें इन्हीं दो तरुणियों का आविर्भाव चाहिए। उनकी सुस्मिति, व्यक्त की दीप्ति और अव्यक्त का रहस्य तथा वज्रवीर्य के झंझावात की मत्तता को प्रकाश के विपुल प्लावन में हमारे भीतर उतार ले आए। आत्म सत्ता के अकुण्ठ समर्पण में देवता की कामना का तर्पण हो।

तु. १।१४२।७, १३।७, ७।२।६, आ नक्ता बर्हिः सदताम् उषासः ७।४२।५, उषासानक्ता सदतां नि योनौ १०।७०।६ (११०।६); मा. ऋतस्य योनाव् इह सादयामि २।६।। उषा और सन्ध्या के लिए प्राण के मूल (बर्हिः, हृदय) में, ऋत की गहराई में, सत्ता की गहनता में ('नि योनौ') आसन बिछाया गया है। वे आधार के पूरे आयतन पर उपविष्ट होंगी। **भन्दमाने** — [< √भन्द > भद् ॥ भन् 'बात करना' नि. भन्दना भन्दतेः स्तुति कर्मणः ५।२ ; निघ. 'जल उठना' १।१६, 'अर्चना करना, गान करना' ३।१४ ; तु. *IE. bhad* 'good', *Goth. batiza* 'better'। ऋ. भन्दते धामभिः कविः (अग्निः) ३।३।४। और भी तु. 'भद्र' उज्ज्वल ; शोभन, सुमंगल] उज्ज्वला, प्रदीप्ता। **उपाके** — [विशेषण, आद्युदात्त, द्विवचन < 'उपाका' : तु. ऋ. आ भन्दमाने उपाके नक्तोषासा सुपेशसा १।१४२।७, यजते उपाके उषासानक्ता १०।११०।६। अन्तोदात्तः सिन्धोर् ऊर्मा उपाके आ १।२७।६, प्रभर्ता रथं दाशुष 'उपाके' (इन्द्रः) १७८।२, तव स्वादिष्ठाग्ने संदृष्टिर् इदा चिद् अह्न इदा चिद् अक्तोः, श्रिये रुक्मो न रोचत उपाके ४।१०।५, भद्रं ते अग्ने सहसिन्न् अनीकम् उपाक आ रोचते सूर्यस्य ११।१ सूर उपाके तन्वं दधानः (इन्द्रः) १५।१४, २०।४, ७।२।५ टी. १३३४ ...। निघ. 'अन्तिक' २।१६, 'उपक्रान्ते' नि. ८।११ ('उपगम्य इतरेतरं क्रान्ते' दुर्ग)। < उप √अच् 'चलना'] सन्निकट, पास-पास। '**स्मयेते**' [< √स्मि 'मुस्कराना', *Eng. smile, Swed. smila, Lat. mirari.* 'to wonder'] तु. ऋ. उषा की (१।९२।६, १२३।१०), विद्युत की (१।१६८।८) एवं मेघवाष्पोज्ज्वल आकाश की (२।४।६) [स्मिति; मुस्कराहट का सुन्दर वर्णन] उषा और सन्ध्या दोनों ही सुस्मिता। भोर की फूटती हुई ज्योति और सन्ध्या की म्लानदीप्ति दोनों के साथ ही स्मितहास की उपमा दी जा सकती है। एक आरम्भ और एक अन्त। दोनों की ही प्रशान्ति अग्निदीप्त चेतना के ऊपर एक स्निग्ध प्रसन्नता बिछा देती है। 'मित्र वरुणः मरुत्वान् इन्द्रः' — मित्र और वरुण बृहत् ज्योति के व्यक्त और अव्यक्त प्रभास। उषा और सन्ध्या में उनका प्रतिभास। इन दोनों ज्योति-दुहिताओं की स्मिति से उत्तरपथिक की चेतना में उसी महावैपुल्य की ही प्रातिभद्युति प्रकट होती है। यह द्युलोक की अर्थात् अबाध, अपरिमित ज्योति के राज्य की घटना है। किन्तु उसके पहले अन्तरिक्ष की अनेक बाधाओं को पार करके आना पड़ता है। इन्द्र उन बाधाओं को दूर करते हैं। उनके वज्रवीर्य एवं मरुद्गण अथवा ज्योतिर्मय विश्व प्राण की सहायता से वृत्र की बाधा दूर होने पर ध्यानी की चेतना में फूटता है उषा और सन्ध्या की मुस्कान में मित्र का उदार आलोक और वरुण का अव्यक्त रहस्य। **महोभिः** — तु. ऋ. अरव्यद् देवो (अग्निः) रोचमाना (उषसः) महोभिः ४।१४।१, उषो देवि रोचमाना महोभिः ६।६४।२ ; उभयत्र 'महः' ज्योति है। फिर 'महत्' (< √मह्) बृहत् (निघ. ३।३)। दोनों को मिलाकर जो अर्थ प्राप्त होता है, वह है ज्योति का 'छिटकना, फैल जाना' और यह होता है अँधेरे को पराजित करके। इसलिए उससे शक्ति की व्यंजना का बोध होता है (तु. अधारयतं पृथिवीम् उत द्यां मित्रराजाना वरुणा महोभिः ५।६२।३)। उससे 'मघ' शक्ति। इन्द्र जब 'मघवान्' तब इशारा शक्ति की ओर ; और उषा जब 'मघोनी' तब इशारा ज्योति की ओर। अतएव मनुष्य के भीतर 'मघवान्' कभी यजमान के ऐश्वर्य का बोध कराता है या फिर कभी ऋत्विक की प्रज्ञाशक्ति का। यह 'मघवान्' सर्वत्र ही Patron, यह परिकल्पना

अनुक्रमणिका में आप्रीसूक्त के सप्तम देवता हैं 'दैव्यौ होतारौ प्रचेतसौ'। किन्तु निघन्टु में केवल 'दैव्यौ होतारौ' हैं। विशेषण के रूप में 'प्रचेतसौ' आदिम स्फुरण एवं बिन्दु से सिन्धु होने तक में उसके क्रमिक विस्फारण की सूचना देता है। यह केवल माध्यन्दिन संहिता एवं प्रैष सूक्त में है [१५३८]।

ये दैव्य होता कौन हैं, उसे लेकर वितर्क अथवा विकल्प की सृष्टि हुई है। यास्क के अनुसार वे 'अयं चाग्निर् असौ च मध्यमः' [१५३९] अर्थात अग्नि एवं वायु हैं। ये एक 'होता' निश्चय ही अग्नि हैं क्योंकि वेद में इस संज्ञा पर उनका ही एकाधिकार है – मुश्किल से कहीं इन्द्र, सोम अथवा अश्विद्वय 'होता' हैं। सूर्य को एक स्थान पर 'होता वेदिषत्' [1] कहा गया है किन्तु वहाँ अग्नि-सूर्य की एकात्मता की ध्वनि सुस्पष्ट है। आंगिरस मूर्धन्वान ने सूर्य और वैश्वानर अग्नि दोनों को मिलाकर जिस सूक्त की रचना की है उसमें 'यो होतासीत् प्रथमो देवजुष्टः' है: लक्ष्य करने योग्य है कि एकाधिक स्थानों पर 'दैव्या होतारा प्रथमा' का उल्लेख प्राप्त होता है। [2]

इस भावना से हम भली भाँति परिचित हैं कि अग्नि होता के रूप में आधार में विश्वदेवता का आवाहन करते हैं। सामान्यतया सारे देवता ही 'होता' हैं अर्थात जिस किसी भी इष्ट देवता की उपासना व्यक्ति चेतना को विश्वचेतना में विस्फारित और विस्फुरित करती है- यही वेदसम्मत बृहत् की साधना का मूल भाव है। देवता तब साधक के मेरे भीतर होता अग्नि हैं मेरी 'देवहूति' उनकी ही देवहूति अर्थात मैं होकर उनका स्वयं ही स्वयं को बुलाना है। इस प्रकार मेरे भीतर पहले वे ही 'उशन्' अथवा उतावले होकर उतरते हैं। और वही मुझे भी उद्विग्न कर देता है, मैं उनके निकट पहुँचना चाहता हूँ। उनका पहले उतर आना देवयज्ञ- अर्थात् स्वयं को मेरे भीतर उड़ेल देना है। इसलिए अन्योन्यसम्भावन रूप इस यज्ञ में दो देवहूति - अर्थात एक है अग्नि का आह्वान विश्वदेवता को, और एक है विश्व देवता का आह्वान अग्नि को। अतएव मनुष्य की ओर से अग्नि जिस प्रकार 'दैव्य होता' हैं, उसी प्रकार विश्वदेवता की ओर से वे भी 'दैव्य होता' हैं। ऋक्-संहिता के इस एक मंत्र में इसके कारण की सूचना मिलती है। विहव्य आंगिरस कहते हैं, 'देवगण मेरे भीतर आग्नि स्रोत डाल दें, मुझ में आकांक्षा रहे, देवहूति रहे। और दैव्य होता — जो पुरातन हैं (मेरा) उपभोग करें। हम सब सुवीर्य होकर तनु से निर्दोष-निखोट हों [१५४०]।'

सत्य नहीं। ज्योति, शक्ति और व्याप्ति तीनों के समावेश से 'महः'। उपनिषद में 'महः' ब्रह्मवाचक 'चतुर्थी व्याहृतिः' (तै. १।५।१); निघ. 'उदक' १।१२, अन्तरिक्ष में प्राण का समुद्रवत विस्तार (तु. ऋ. महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना १।३।१२, — अन्तरिक्षचारिणी सरस्वती अपने प्राण और प्रज्ञा की झलक से ज्योति के समुद्र को प्रचेतन करती हैं)। अतएव 'महः' < √ मह 'बड़ा होना, उज्ज्वल होना, समर्थ होना' ॥ मंह 'दान करना', निघ. ३।२० 'बड़ा करना' इसी अर्थ में। तु. नि. ३।१३ IE megh, Gk. megas 'great.' [१५३८] मा. २८।७, ३०; प्रैष. ८। [१५३९] नि. ८।११। [1] ऋ. ४।४०।५। [2] १०।८८।४; १।१८८।७, २।३।७, ३।४।७, १०।११०।७; मा. २९।७। तु. ऋ.

दो दैव्य होता के रूप में एक तो साधक और एक साध्य है। एक जो पृथिवी स्थान अग्नि जिन्हें आध्यात्मिक दृष्टि से तप अथवा अभीप्सा की शिखा कहते हैं, वह स्पष्ट ही समझ में आता है। तो फिर दूसरे को द्युस्थानीय कोई एक देवता कह सकते हैं। आप्रीसूक्त के अतिरिक्त 'दैव्य होतारा' का उल्लेख ऋक् संहिता में और दो स्थानों पर है [१५४१]। प्रथम मंत्र में अग्नि से भिन्न होता वायु हो सकते हैं क्योंकि मंत्र में वायु का अलग उल्लेख है। द्वितीय मंत्र में सायण बतलाते हैं कि ये दो दैव्य होता, अग्नि एवं आदित्य हैं। अग्नि के साथ सूर्य के पूर्वोल्लिखित सायुज्य से सायण की इस परिकल्पना का समर्थन प्राप्त होता है। उसके अलावा आप्री सूक्तों में एकाधिक बार दैव्य होता के साथ अश्विद्वय के सायुज्य का उल्लेख प्राप्त होता है। अश्विद्वय द्युस्थानीय देवताओं में आदि देवता हैं। इसी से दैव्य होता में एक को पृथिवी स्थानीय अग्नि एवं दूसरे को द्युस्थानीय आदित्य के रूप में मानना ही सही है। फिर एक बात और कि दोनों दैव्य होता के मनुष्य सदृश रूप ऋत्विकों में ये कौन हैं? दुर्ग बतलाते हैं कि ये होता एवं मैत्रावरुण हैं। ऋक्-संहिता में मैत्रावरुण का प्राचीन नाम 'उपवक्ता' अथवा प्रशास्ता है। पशु-याग में वे होता को प्रैषमंत्र द्वारा याज्या पाठ की अनुमति देते हैं, होता के सामने दाहिनी ओर दण्ड धारण किए थोड़ा झुक कर खड़े रहते हैं। सोम याग में द्युस्थान मित्रावरुण का शंसन करने के कारण उनका नाम 'मैत्रावरुण' हुआ है। मनुष्य ऋत्विक की यह सब विशेषताएँ यदि दैव्य ऋत्विक में उपचरित होती हैं तो मनुष्य होता के आदर्श स्थानीय एक दैव्य होता जिस प्रकार अग्नि होंगे उसी प्रकार एक और कोई भी लोकोत्तर प्रशास्ता देव अथवा आदित्य मित्रावरुण होंगे।[२] इसलिए सायण की परिकल्पना ही इससे समर्थित होती है। यास्क ने अपनी व्याख्या में संभवत: अन्य किसी एक सम्प्रदाय से सम्बन्धित धारा का अनुसरण किया है। उपनिषद् के प्रमाण से जान पड़ता है यह सम्प्रदाय प्राण ब्रह्मवादी है।

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार 'दैव्यौ होतारौ' प्राण और अपान हैं। [१५४२]। ऋक् संहिता में प्राण आकर्षण और अपान विकर्षण की शक्ति है।[१] इन दोनों में द्वन्द्व का एक दोलन है जो स्वैक्ति पारस्परिक आह्वान जैसा ही है। तो फिर ये दोनों देवता इस आधार में ही हैं।[२]

दैव्या होतारौ ... पूर्वे १०।१२८।२ टी. १५४०।
[१५४०] ऋ. मयि देवा द्रविणम् आ यजन्तां मय्य् आशीर् अस्तु मयि देवहूतिः, दैव्या होतारो वनुषन्त पूर्वे ऽरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः १०।१२८।३। शौ. पाठ: दैवा होतारः सनिषन् एतत् ५।३।५। 'देवाः' विश्वे देवाः — वे सभी होता हैं। मेरे भीतर आग उड़ेल कर वे अनादिकाल से मेरा उपभोग करते हैं, यही उनकी 'हुति' है। उसका ही नामान्तर है विश्वदेव गण द्वारा आधार में अग्निजनन, तु. ऋ. ३।१।४, २।३, १०।८८।८ टी. १४७७।...। [१५४१] ऋ. त्वष्टारं वायुं ... दैव्या होतारा... ईमहे १०।६५।१०; दैव्या होतारा प्रथमा पुरोहिता ६६।१३। १४।४०।५, १०।८८ सूक्त।
२ ऋक् संहिता में एक स्थान पर 'प्रशासन' दिव्य कर्म, (दिव्यस्य प्रशासने १।१२२।३) है, और एक स्थान पर हिरण्यगर्भ का 'व्रत' (उपासते प्रशिषं यस्य देवाः १०।१२१।२) है; अन्यत्र अग्नि का प्रशासन ८।७२।...। उपनिषद में अक्षर का प्रशासन प्रसिद्ध, बृ. ३।८।९। [१५४२] ऐ.ब्रा. २।४। १ ऋ. १०।१८९।२। २ आधुनिक साधनशास्त्र की भाषा में

संहिता में दैव्य होताओं का यही परिचय है। देवहूति जब उनका विशिष्ट व्रत' अर्थात् वह देवता का बुलाना अथवा देवता को बुलाना जिस किसी अर्थ में ही क्यों न हो– तब उनकी वाणी मधुक्षरा होगी। अतः वे 'सुजिह्वा' 'मन्द्रजिह्वा' 'सुवाचसा' हैं [१५४३] वे 'प्रचेतसौ'– अर्थात अग्राभिसारी चेतना की क्रमिक व्याप्ति के निमित्त हैं।[१] वे 'विदुष्टरौ', अथवा सर्ववित्, सर्वज्ञ, 'कवी' अथवा क्रान्तदर्शी एवं 'नृचक्षसा'– अर्थात मनुष्य की ओर निहार रहे हैं, विश्वभुवन को देख रहे हैं।[२] मनुष्य की विद्या की साधना में वे ही प्रेरक हैं, 'प्राचीन ज्योति' के वे ही दिग्दर्शक हैं।[३] वे हमारी अध्वर साधना को ऊर्ध्वगामी करते हैं,[४] भौम वायु के पथ पर चलकर जल उठते हैं,[५] और पार्थिव आधार की नाभि या केन्द्र में सही समय पर चित् शक्तियों को भली भाँति अभिव्यक्त करते हैं फिर उसके बाद उन्हें और भी तीन कूटों या शिखरों पर व्यक्त करते हैं।[६] मनुष्य के यज्ञ में वे ही प्रथम होता हैं क्योंकि मनुष्य होतागण इनके प्रतिनिधि मात्र हैं और मनुष्य यज्ञ देवयज्ञ की ही अनुकृति है।[७] हमारे यज्ञ में वे ही ऋत्विक् हैं, वे ही पुरोहित हैं, उसे द्युलोक में विश्वचेतना के तट पर उत्तीर्ण करते हैं और उसके अन्त में मधुमयी अमृतचेतना का संचार करते हैं। अश्वि-द्वय की तरह वे भी भिषक् हैं, आधार की आधि-व्याधि सब दूर करते हैं।

इस प्रकार उत्सर्ग भावना के सप्तम सोपान पर आए। ज्योति का द्वार सामने खुल गया है, दृष्टि के मुक्त पथ में प्रकाश के ऊपर की ओर अँधेरे का निर्वाक् रहस्य देख रहे हैं। किन्तु उसमें छलाँग लगाने नहीं जा रहे हैं, अव्यक्त में प्रलय नहीं खोज रहे हैं। लोकोत्तर के शीर्ष पर खड़े होकर पृथिवी की ओर देखा। तो देख रहे हैं कि अग्निशिखा जिस प्रकार ऊपर की ओर उठती जा रही है उसी प्रकार फिर ज्योति का प्लावन नीचे की ओर उतरता आ रहा है। भूलोक और द्युलोक में निरन्तर देवहूति की ध्वनि-प्रतिध्वनि सुन रहे हैं। वे दोनों ही 'स्विष्टकृत' अर्थात परम की कामना को इस विश्व में सिद्ध करती हैं। उसमें एक 'इषा' अथवा एषणा द्वारा और एक 'ऊर्जा' अथवा कुण्डली मोचन की शक्ति द्वारा सिद्ध करती हैं। उपचीयमान शक्ति के आनन्द में वे दोनों ही जगतपावन हैं [१५४४]।

कहा जा सकता है कि एक तो जीवशक्ति के रूप में मूलाधार में, नाभि में अथवा हृदय में है, और एक शिव रूप में सहस्रार में, परमव्योम में है। एक-दूसरे को बुला रहे हैं। रामकृष्णदेव कहा करते कि 'मेरे भीतर लगता है कोई बुलाता है, चकवा। ठीक वैसे ही ऊपर से कोई एक उत्तर देता है, चकवी!' यह तो जैसे रात के अँधेरे में चकवा-चकवी के जोड़े के बीच विरह का एक दुस्तर स्रोत बह रहा है। आसमान में उजाला फूटने पर ही वे मिल सकेंगे।

[१५४३] ऋ. १।१३।८, १।१४२।८; १।१८८।७, १०।११०।७, मा. २०।४२। [१] मा. २८।३०, त्रैष, ८। [२] ऋ. २।३।७, १०।७०।७; १।१३।८, १४२।८, १८८।७, मा. २८।७, ३०, त्रैष. ८। ऋ. ८।५।७, मा. पश्यन्तौ भुवनानि विश्वा २९।७। [३] ऋ. प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता १०।११०।७ (तु. मा. २०।४२, २९।७)। [४] ऋ. ऊर्ध्वं नो अध्वरं कृतं हवेषु ७।२।७ मा. २७।१८, शौ. ५।२७।८ [५] ऋ. वातस्य प[illegible]न ईळिता ५।५।७ (वात, द्र. १०।१६८ सू., तु. ऊपर की ओर नाड़ी स्रोत का उद्दीपन, उत्तेजन)। [६] नाभा पृथिव्या अधि सानुष त्रिषु २।३।७ द्र. नाभ टी. १५२३। २।४।७, ३।४।७, १०।११०।७, मा. २९।७, ऋ. पुरोहिताव् ऋत्विजा यज्ञे अस्मिन् १०।७०।७; मा. मूर्धन् यज्ञस्य मधुना दधाना २०।४२। [७] मा. २०।६१, २१।३६, २८।७; अग्नि साधना का अन्तिम २५४

माध्यन्दिन संहिता का कथन है कि और चार अक्षर बढ़ने पर इस बार छन्द हुआ जगती और बछड़ा भी बड़ा होकर शकट वहन करने योग्य हो गया। इन दो प्रतीकों में विश्वभुवन के छन्द में गुम्फित प्राण के समर्थ संचय की छवि उभरती है। ऋषि विश्वामित्र कहते हैं—

'प्रथम इन दो दिव्य होता को (अपने) अन्तर में सिद्ध करता हूं। (देवताहूँ) सात मधुधाराएँ अपने आप में स्थित रहकर आनन्द-मग्न हैं। ऋत को स्वीकार करके ही ऋत की स्तुति करती हैं वे। व्रत के ही अनुकूल है उनका ध्यान [१५४५]।2 अभीप्सा की अग्नि और लोकोत्तर ज्योति के प्रसाद रूप में जो देवता द्युलोक-भूलोक में व्याप्त हैं वे ही सब से पहले आधार में परम ऋद्धि को उतार कर ले आते हैं। जिनकी व्याप्ति विश्वभुवन में है उनको आज अपने भीतर अग्निमंत्र से उद्बुद्ध करता हूँ और उनकी अन्योन्यसंगामिनी धारा की उत्तेजना का अनुभव करता हूँ। उनके स्पर्श से प्राण के पोर-पोर में आनन्द के सात निर्झर छलक उठे – जो स्वप्रतिष्ठ बल के वैभव से अस्थिर हैं, डगमग हैं। ऋतच्छन्दा होने के कारण वे यात्रा-पथ पर ऋतम्भरा वाणी को ही चुपचाप मेरे कानों में गुंजरित करती हैं। परम देवता का जो सत्य संकल्प मेरा जीवन बीज है वे उसकी ही संरक्षिका हैं, वे उनके ही अनुध्यान की आनन्द-मन्दाकिनी हैं।

परिणाम मर्त्य देह को भी विजर विमृत्यु करना (श्वे. २।१२)।

[१५४४] तु. प्रैष. होता यक्षद् दैव्या होतारा मन्द्रा पोतारा कवी प्रचेतसा, स्विष्टम् अद्या न्यः करद् इषा स्वभिगूर्तम् अन्य ऊर्जा, सतवसेमं यज्ञं दिवि देवेषु धत्ताम ... ।

[१५४५] ऋ. दैव्या होतारा प्रथमा न्यृञ्जे सप्त पृक्षासः स्वधया मदन्ति, ऋतं शंसन्त ऋतम् इत् त आहुर् अनु व्रतं व्रतपा दीध्यानाः ३।४।७। नि 'ऋञ्जे'— [√ऋज् सीधे चलना, चलाना; तु. Lat. regere 'to stretch, lead in a straight line, direct, conduct, rule < base reg- 'to straighten, direct'; > 'रजः' ज्योति (नि. रजो रजतेर्, ज्योती रज उच्यते, उदकं रज उच्यते, लोका रजांस्य् उच्यन्ते, असृगहनी रजसी उच्येते ४।१९) 'राजा' संचालक, शासक, 'ऋजु' सीधा। प्रकाश की रश्मि सीधे चलती है, उसी से √ऋज् 'तीर की तरह सीधे चलना या चलाना, विद्युत की तरह आलोकित होना या करना'; नि √ऋज् गहरे में या भीतर आकर्षित करना, नीचे की ओर टानना; वश में करना; सिद्ध करना (नि. ऋञ्जति: प्रसाधनकर्मा ६।२१)। देवता जहाँ कर्म, वहाँ आकर्षण करना एवं आलोकित करना इन दोनों अर्थों का सम्मिश्रण, जिस प्रकार यहाँ है] आधार के भीतर गहरे (नि) सिद्ध करता हूँ, विश्व से आकर्षित करके अपने भीतर उद्दीप्त करता हूँ। **सप्त पृक्षासः** — ['पृक्षः' < √पृच् 'सम्पृक्त होना, युक्त होना, संयुक्त होना'; तु. √स्पृश्॥ पृश्। ऋक् संहिता में पृक्ष के साथ अश्विद्वय का घनिष्ठ सम्बन्ध है (४।४५।१, २, १।३४।४, ४७।६, १३७।३, ४।४३।५, ४४।२, ५।७३।८, ७५।४, ७७।२, १०।१०६।१ ...)। फिर इनके साथ मधु का सम्बन्ध अनेक स्थानों पर है। अतः पृक्ष को मधु का समानान्तर कहा जा सकता है (निघ. 'पृक्षः' अन्न २।७; लक्ष्य करने योग्य. विन्यास 'प्रयः। पृक्षः। पितुः', आगे-पीछे के दोनों शब्दों में ही आनन्द की व्यंजना है)। ऋक् संहिता में दो स्थानों पर 'पृक्षासो मधुमन्तः' का उल्लेख है (४।४५।२; ७।६०।४)। पूजा में 'मधुपर्क' का प्रयोग हम सब जानते हैं (तु. अग्नि 'मधुपृच्' २।१०।६)। मधु गोंद की तरह चिपचिपा, लसदार, इसलिए अनायास ही उसकी संज्ञा 'पृक्ष' हो सकती है। लक्षणीय, पंचामृत के उपादानों में एक गहरी संसक्ति का भाव क्रमशः ही उभरता है जिससे अन्त में मधु रवादार होकर शर्करा हो जाता है। उसी से 'पृक्ष']' आनन्दमय आनन्द-घन अमृतचेतना। पृक्ष के साथ तु. गीता का 'ब्रह्मसंस्पर्श' ६।२८ (प्रति तुलनीय 'मात्रास्पर्श' २।१४, बाह्यस्पर्श ५।२१) = ऋक् संहिता में मित्रावरुण का 'पृक्षासो मधुमन्तः' जब 'आ सूर्यो अरुहच् छुक्रम् अर्णः, यस्मा आदित्या अध्वनो रदन्ति मित्रो अर्यमा वरुणः सजोषाः' — सूर्य उदित हुए दैदीप्यमान लहर के रूप में, जिनके लिए रास्ता तैयार कर देते हैं आदित्यगण अर्थात मित्र, वरुण और अर्यमा (७।६०।४; चित् सूर्य के उदय से व्यक्त और अव्यक्त अनन्तता

आप्री सूक्त के अष्टम देवता हैं **तिस्रो देव्यः** अथवा तीन देवियों का समाहार। ये देवियाँ हैं इला, सरस्वती एवं भारती। माध्यन्दिन संहिता में उनका सामान्य परिचय इस प्रकार दिया गया है — 'आदित्यगण के साथ भारती कामना करें हमारे यज्ञ को सिद्ध करने की, सरस्वती रुद्रगण के साथ हम सब की रखवाली करती रहें; इडा को निकट बुला कर लाया गया है — वसुओं के साथ जिनकी समान तृप्ति; हमारे यज्ञ को ये देवियाँ अमर्त्यों में निहित करें [१५४६]।' यहाँ द्युस्थान देवगण आदित्यों के साथ भारती, अन्तरिक्ष स्थान देवगण रुद्रों के साथ सरस्वती, एवं पृथिवी स्थान देवगण वसुओं के साथ इला के सम्बन्ध का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है।[1] ये तीन देवी तीन लोक में अवस्थित हैं। तंत्र की भाषा में वे एक ही भुवनेश्वरी की त्रिधा-मूर्ति हैं। वैदिक भावना में यही भुवनेश्वरी 'अदिति वाक्' हैं — जो शत-वर्षीया इला के रूप में निर्माण प्रज्ञा की हेतुभूता, सरस्वती रूप में वृत्र-घातिनी ज्योतिरीश्वरी, भारती रूप में आत्माहुति का मंत्र होकर धीरे-धीरे बढ़ती जा रही हैं।[2] इन्होंने ही आम्भृण कन्या के कण्ठ से वाणी के उद्दीपन में स्वयं को आदित्य, रुद्र और वसुगण की सहचारिणी कै

की आनन्दचेतना प्रगाढ़ हुई; अथच अचित्ति के अन्धकार को चीर कर इस उदयन का पथ आनन्त्य के देवता ही रच देते हैं जो अखण्ड सत्-चित्-आनन्द हैं)। आलोच्यमान ऋक् के 'सप्तपृक्ष' का उल्लेख अन्यत्र भी है; 'एष स्य भानुर् उद् इयर्ति युज्यते रथः परिज्मा दिवो अस्य सानवि, पृक्षासो अस्मिन् मिथुना अधि त्रयो दृतिस् तुरीयो मधुनो वि रप्शते। उद् वां पृक्षासो मधुमन्त ईरते रथा अश्वास उषसो व्युष्टिषु, अपोर्णुवन्तस् तम आ परीवृतं स्वर् ण शुक्रं तन्वन्त आ रजः' — ये जो भानु उदित हो रहे हैं, जोता जा रहा है रथ जो चारों ओर सरपट दौड़ेगा इस द्युलोक की चोटी पर; उसमें रखवाया गया है तीन जोड़ा 'पृक्ष'; और चौथा है एक मधुर कोश जो छलक रहा है। (हे अश्विद्वय,) तुम्हारे मधुमय ये पृक्ष छलक-छलक जाते हैं, उछल उछल जाते हैं रथ और घोड़े — उषा की हँसी जब फूटती है; वह तब अपावृत करती है चारों ओर पसरा अँधेरा, और उज्ज्वल स्वर्ज्योति की तरह ढँक लेती है रजोलोक (४।४५।१-२; उदीयमान सूर्य अश्विद्वय का रथ है, उसका प्रकाश प्रत्येक दिशा में फैल जाता है; सूर्य जड़-चेतन की आत्मा हैं इसलिए उनके भीतर सात भुवनों का आनन्द-निर्झर है; अवम भूमि और परम भूमि के एक-एक तत्व मिलाकर एक-एक युग्म हुआ; चौथा दोनों का सेतु हुआ, जहाँ से इसपार-उसपार दोनों ही दिखाई देता है)। Geldner की व्याख्या है कि अश्विद्वय के रथ में सूर्या, तीनों मिल कर एक 'मिथुन' (जोड़ा), और चौथा मधुकोश। किन्तु सप्तपृक्ष का प्रसंग अन्यत्र और भी है: अग्निं विश्वा अभि पृक्षः सचन्ते (संसक्त होता है), समुद्रं न स्रवतः सप्त यह्वीः (जैसे समुद्र में जा गिरे हैं सात चंचल स्रोत) १।७१।७। वस्तुतः 'सप्तपृक्ष' सात मधुनिर्झर हैं, सात मधुवन्ती धाराएँ हैं। पृथिवी और द्युलोक में दो दिव्य होता हैं; उनके बीच सात भुवनों में ये सात आनन्द-निर्झर हैं। अनेक स्थानों पर इनको 'सप्तसिन्धु' कहा गया है — आधार में पत्थर के अवरोध को तोड़कर जिनको मुक्त करना वज्रधर इन्द्र का काम है। 'स्वधया मदन्ति' अपने आप में स्थित आनन्द में मग्न, जिस प्रकार 'विष्णुपद' १।१५४।४, 'अपः' अथवा प्राण की धाराएँ ८।४८।३, १०।१२४।८, पितृगण १०।१४।३...। 'ऋतं शंसन्त ऋतम् इत् ते आहुः' — ये मधुधाराएँ ऋताश्रयी एवं ऋतच्छन्दा हैं। आधार में अमृतचेतना की प्रतिष्ठा होने पर भीतर का आनन्द ऋतच्छन्दा होकर आचरण में भी प्रकट होता है।

[१५४६] मा. आदित्यैर् नो भारती वष्टु यज्ञं सरस्वती सह रुद्रैर् न आवीत्, इडोपहूता वसुभिः सजोषा यज्ञं नो देवीर् अमृतेषु धत्त २९।८। [1] तु. नि. भारती... भरत आदित्यस् तस्य भाः (८।१३; 'इला पृथिवी स्थाना... सरस्वती मध्य स्थाना' दुर्ग)। [2] ऋ. त्वम् अग्ने अदितिर् देव दाशुषे त्वं होत्रा भारती वर्धसे गिरा, त्वम् इला शतहिमासि २।१।

रूप में घोषणा की है।[3] ब्रह्म के साथ समव्याप्त है[4] और परम व्योम में सहस्राक्षरा होने पर भी प्राण-चंचला गौरी के रूप में अव्याकृत कारण-सलिल को विश्व के आकार में नाद शक्ति से व्याकृत करती है।[5] यही वाक् अध्यात्म दृष्टि में मंत्रचैतन्य है—अर्थात् आधार में अभीप्सा की अग्निशिखा के रूप में, तिमिर विदारक शौर्य की वज्रशक्ति के रूप में, एवं सर्व आभासक दिव्य चेतना की दीप्ति के रूप में जिसका त्रिपर्वा स्फुरण होता है। वाङ्मयी त्रयी के इन रूपों का निरूपण क्रमशः सुस्पष्ट होगा।

इन तीन देवियों में पहले **इला** हैं। इस नाम का व्युत्पत्तिगत अर्थ 'एषणा' अथवा 'एषणा का साधन' [१५४७] है। एषणा अथवा अभीप्सा स्वरूपतः अग्निशक्ति है। इसलिए मनुष्य की एषणा का दिव्य रूप ही इला है।[1] अग्नि पृथिवी स्थान देवता तथा मर्त्य मानव के भीतर अमृत की आकूति है। अतः अग्नि शक्ति इला भी 'पृथिवी' है।[2] एषणा का साधन यज्ञ है जिसमें हमें स्वयं को हव्यरूप में अथवा देवता के अन्न के रूप में आहुति देनी होती है। इसलिए इला फिर अन्न भी है।[3] यह अन्न पुरोडाश के रूप में शस्यजात है, सोमरूप में ओषधिजात है, पयः अथवा घृतरूप में गोजात है। अतएव इला जिस प्रकार पृथिवी है, उसी प्रकार 'गो' भी है।[4] फिर हम देखते हैं कि एषणा का साधन 'होत्रा' है जो आहुति एवं देवहूति दोनों ही हो सकती है। इस दृष्टि से इला 'वाक्' है।[5] सब मिलकर इला पार्थिव अग्नि की वह शक्ति है, जो देवहूति एवं आत्माहुति के माध्यम से मनुष्य की द्युलोकाभिसारिणी एषणा के रूप में मूर्त होती है।[6]

दक्षसे त्वं वृत्रहा वसुपते सरस्वती २।१।११। इला 'शतहिमा', मनुष्य भी 'शतहिम' अथवा शतवर्षजीवी (६।१०।७), अतएव इला पार्थिव शक्ति। 'वृत्रहा' अग्नि का विशेषण होते हुए सरस्वती में प्रयोज्य, क्योंकि सरस्वती 'वृत्रघ्नी' (६।६१।७)। उसी प्रकार 'वसुपति' के बारे में भी; तु॰ सरस्वती 'धियावसुः' ध्यानोज्ज्वला १।३।१०। अग्नि यहाँ अदिति एवं उनके ही ये तीन रूप हैं—इला, सरस्वती और भारती। अदिति = गो = वाक् ८।१०१।१५-१६; अदिति 'वाक्' निघ॰ १।११; तत्र इला, भारती, सरस्वती भी हैं। [2] ऋ॰ १०।१२५।१; तु॰ माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाम् अमृतस्य नाभिः (=गो = अदिति = वाक्)- ८।१०१।१५। [4] १०।११४।८ टी॰ ११२५[6]। [5] १।१६४।४१-४२ टी॰ ११२५।४।

[१५४७] < √यज् ॥ इष् (द्र॰ 'ईल')>इड् > इष्। [1] तु॰ ऋ॰ ३।४।८ टीमू॰ १४२३। और भी तु॰ श॰ब्रा॰ इडा में श्रद्धादृष्टि का विधान ११।२।७।२०। श्रद्धा ने ही नचिकेता के अन्तर में सत्यैषणा जाग्रत की। [2] श॰ ४।२; निघ॰ १।१। [3] निघ॰ २।७। तु॰ अग्नये दाशेम (दें) परीलाभिर् घृतवद्भिश्च हव्यैः (जो हव्य अग्नि के संस्पर्श से ही जल उठेगा, वह इला के साथ युक्त) ७।३।७; स (अग्नि) हव्या मानुषाणाम् इला कृतानि पत्यते (एषणा के साथ युक्त हव्य का ईश्वर) १।१२८।७। [4] श॰ गौर् वा इडा ३।२।१।४, १।८।१।२४, २।३।४।३४... निघ॰ २।११; तु॰ ऋ॰ धेनुमती इला ८।३१।४; ऋतस्य सा पयसा पिन्वतेला (ऋत के क्षीर संचय में स्फीत हो गई अर्थात् ऋत की आप्यायनी शक्ति से समृद्धा; इसीलिए धेनु की उपमा) ३।५५।१३। फिर अधियज्ञ दृष्टि में इला 'घृतपदी', १०।७०।८, 'घृतहस्ता' ७।१६।८; 'आ नो मित्रावरुणा हव्यजुष्टिं घृतैर् गव्यूतिम् उक्षतम् इलाभिः (७।६५।४; 'गव्यूति' द्र॰ टी॰ १३३२; 'घृत' द्रव्ययज्ञ का उपकरण है, 'इला' ज्ञानयज्ञ का साधन है। उसी से अग्नि इला द्वारा समिद्ध होते हैं ३।२४।२। [5] निघ॰ १।११। [6] तु॰ ऋ॰ १०।११०।८, ७।१०४।१२; १।१४२।९, ६।१०।७, १।४८।१६, ८।२२।७, ३।२४।२, १।४०।४...।

इला के अध्यात्म एवं अधिदैवत दो रूप हैं। आध्यात्मिक इला हम सब की ज्योतिरग्रा एषणा है, जो उपनिषद् की भाषा में 'नचिकेता की विद्याभीप्सा' है [१५४८]। इस इला से ही आधार में अग्नि प्रज्वलित होती है[१] जिससे आलोत्सर्ग सम्भव होता है,[२] और आधार में जाग उठती है मनु की मंत्रचेतना।[३] यही इला सुवीर्या हैं, अप्रमत्ता हैं, और मुक्त अग्राभियान की प्रवर्तिका हैं,[४] तथा दैवी सम्पद के प्रचय से हमारे भीतर संरम्भ अथवा उद्यम उत्सारित करती हैं।[५] उषा आधार को इला के द्वारा[६] अभिषिक्त करती हैं, सोमउसे उस पार[७] से लेकर आते हैं। एक प्रातिभ संवित् है और एक अमृत आनन्द का देवता; एक देवयान के आदि में है और एक अन्त में है।

देवी इला इसी एषणा की सिद्धि रूपिणी हैं। वे ज्योतिर्मयी हैं — उनके हाथ-पाँव ज्योतिर्मय हैं [१५४९]। आलोक यूथ की माता हैं वे,[१] मित्रावरुण की प्रेषणा द्वारा द्युलोक से निरन्तर निर्झरित होती हैं[२] अग्नि उनके पुत्र हैं,[३] रुद्र अथवा पूषा उनके पति हैं।[४] मनुष्य की प्रशास्त्री हैं।[५] अधियज्ञ दृष्टि से 'इलायास्पदे' अथवा उत्तरवेदि में अग्नि का जन्म होता है — जो पृथिवी की नाभि है।[६] इसी इला के भीतर ही गुहाहित मित्रावरुण का आसन है- जो व्यक्त और अव्यक्त ज्योति की अनन्तता के देवता हैं।[७]

शतपथ ब्राह्मण में देवी इड़ा को हविरूपिणी बतलाया गया है। प्रलय के पश्चात् प्रजापति मनु ने प्रजाकाम होकर जिस पाकयज्ञ का अनुष्ठान किया था, उसमें दी गई आहुति से कन्या रूप में उनका आविर्भाव होता है। मित्रावरुण उनकी कामना करते हैं। मनु की कन्या होने के कारण 'मानवी', फिर मित्रावरुण की संगता (सहचरी) के रूप में वे 'मैत्रावरुणी' [१५५०] हैं।

[१५४८] क. १।२।४। [१] ऋ. ३।२४।२ टी. १३५४। [२] १।१२८।७ टी. १५४६[२]। [३] आ नो यज्ञं भारती तूयम् एत्व् इला मनुष्वद् इह चेतयन्ती (१०।११०।८; मनु; मनुष्यों में सर्व प्रथम अग्नि प्रज्वलित करते हैं इसलिए अग्नि 'मनुर्हित' ३।२।१५, १।१३।४ टी. १५१५, १४।११, ६।१६।९... मनु मंत्रचेतना)। [४] इलां सुवीराम् ... सुप्रतूर्तिम् अनेहसम् १।४०।४। [५] उत नो गोमतस् कृधि हिरण्यवतो अश्विनः, इलाभिः संरभेमहि (८।२२।१७; गो, अश्व एवं हिरण्य क्रमशः श्रद्धा, वीर्य एवं प्रज्ञा के प्रतीक हैं; सं √रभ् 'आरम्भ करना, उद्यमी होना', तु. सम् इषा रभेमहि १।५३।४, ५)। [६] सं नो राया बृहता विश्वपेशसा (विश्वरूप, बहुविचित्र) मिमिक्ष्वा सम् इलाभिर् आ १।४८।१६। [७] यो वसूनां यो रायाम् आनेता य इलानाम्, सोमो यः सुक्षितीनाम् (दिव्य भूमि) ९।१०८।१२।

[१५४९] ऋ. ७।१६।८, १०।७०।८, द्र. टी. १५४६[४]। [१] इला यूथस्य माता ५।४१।१९, यूथ, (तु. 'गव्यूति' टी. १४४६, १५४६[४]) [२] तु. इलां नो मित्रावरुणा-उत वृष्टिम् अव दिव इन्वतं जीरदानू ७।६४।२। [३] ३।२९।३ टी. १३६६[३]। [४] स्तनयन्तं रुवन्तम् इलस् पतिम् (५।४२।१४; रुद्र का वर्णन, अन्तरिक्ष में जो झंझावात का गर्जन है); पूषा सुबन्धुर् दिव आ पृथिव्या इलस् पतिर् मघवा दस्मवर्चाः (जिनकी दीप्ति तिमिरनाशन) ६।५८।४। ल. इला पृथिवी स्थान, रुद्र अन्तरिक्ष स्थान, पूषा द्युस्थान; एषणा, प्राण और प्रज्ञा का दान। [५] इलाम् अकृण्वन् मनुषस्य शासनीम् (देवता गण) १।३१।११। [६] ३।२९।४ टी. १३२२[१]; तु. १०।१।६, ९।१।४ टी. १३४७[२]; १।१२८।१, २।१०।१, ६।१।२ टी. १३५८[२], १०।१९१।१ टी. १३५६। [७] अधिगर्ते मित्रा-साथे वरुणे-ला-स्व् अन्तः ५।६२।५ (तु. १।११५।१, अग्नि और मित्रावरुण के चक्षु सूर्य)।

[१५५०] श. सो (मनुः) ऽर्चञ्छ्राम्यंश् चचार प्रजाकामः। तत्रापि पाकयज्ञेने-जे।... ततः संवत्सरे योषित् सम्बभूव।... तया मित्रावरुणौ सङ्गम्यते।... सा मनुम् आजगाम। तां ह मनुर् उवाच, का-सीति। तव दुहितेति १।८।१।७, ८, ९; उत मैत्रावरुणी-ति, यद् एव

वे सृष्टि यज्ञ की अन्तःस्था हैं, प्रजापति का 'आशीः' अथवा कामना हैं एवं उसकी सिद्धिरूपिणी हैं।[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण में वे 'मानवी यज्ञानुकाशिनी', अर्थात् मनुष्य की अभीप्सारूपिणी मनुकन्या हैं, उसकी उत्सर्गभावना की आद्यन्तविलसिता विद्युत की उद्दीपना जैसी हैं।[2] जिससे संहिता में वे उर्वशी के प्रणयाकांक्षी उस पुरूरवा की माता हैं— जो पुरूरवा मानवात्मा का प्रतीक है जिसको दिवोदुहिता की क्षणिक दीप्ति ने सदा के लिए व्यग्र व बेचैन कर रखा है।[3]

सब मिलाकर इला पार्थिव चेतना की द्युलोकाभिमुखी एषणा एवं अमृत अनन्तता की चेतना में उसका रूपान्तर है। इल अथवा इल, सन्दीप्त यज्ञाग्नि है; इला... एषणा, आहुति एवं सिद्धि के रूप में उसकी ही शक्ति है।

उसके बाद त्रयी की द्वितीय देवी **सरस्वती** है। इस संज्ञा के मूल में 'सरः' है। निघन्टु में उसका अर्थ 'उदक' एवं 'वाक्' दोनों ही [१५५१] है। जिसमें उदक अर्थ ही आदिम है। उससे सरस्वती का मौलिक अर्थ 'स्रोतस्वती', जलधारा है। निघन्टु में सरस्वती से 'नदी'[1] एवं 'वाक्'[2] का बोध होता है। यास्क का कथन है कि 'नदीवद् देवतावच्च च निगमा भवन्ति'[3] अर्थात् नदी एवं देवता इन दोनों रूपों में ही वेद में उनका उल्लेख है। यह चिन्मय प्रत्यक्षवाद का स्वाभाविक परिणाम है। आधिभौतिक दृष्टि से जो जल की धारा है, वही आध्यात्मिक दृष्टि से प्राण की धारा एवं आधिदैविक दृष्टि से विश्वजननी चित्शक्ति का प्रवाह है। ऋक् संहिता में सरस्वती के वर्णन में इन तीनों भावों का ही मिलन हुआ है- जैसे हमारे निकट गंगा एक ही साथ नदी, नाड़ी एव मा है। योगी के निकट गंगा का नाड़ी रूप है किन्तु साधारण लोगों के निकट नदी और मा दोनों एकसमान हैं।

पहले सरस्वती के नदी रूप की ही चर्चा करते हैं किन्तु याद रखना होगा कि इस अधिभूत रूप के पीछे और एक रूप की व्यंजना है जो कभी न कभी अवश्य प्रकट होती है। ऋषि एक स्थान पर विगलित होकर सम्बोधित करते हैं 'तुम जैसी मा नहीं, तुम जैसी नदी नहीं तुम जैसी देवी नहीं, ओ, सरस्वती [१५५२]।' एक और स्थान पर उनके स्तन की प्रशस्ति में सरस्वती की मातृमूर्ति का अभूतपूर्व वर्णन प्रस्तुत किया गया है: 'तुम्हारा उच्छलित स्तन, जो आनन्दमय है जिससे पुष्ट करती हो जो कुछ वरेण्य है, जो निहित करता है रत्न और ढूँढ लेता है ज्योति, जो मुक्त रूप से उंडेल देता है, ओ सरस्वती, उसे यहाँ बढ़ा दो पान करने के लिए।[1] यहाँ मा की छवि में नदी की छवि अन्तर्हित हो गई है।[2]

मित्रावरुणाभ्यां समगच्छत २८। **मनुर्ह एताम** अग्रे ऽजनयत तस्माद् आह मानवीति ११८।१।२६। इडे.व मे मानव्य अग्नि होत्री ११।५।३।५; प्रसूति के प्रति : 'इडासि मैत्रावरुणी' १४।९।४।२८...। [1] श. सा.शीर् असि ११८।११८; तयेमां प्रजातिं प्रजज्ञे।...याम् वेनया कां चा.शिषम् आशास्त, सास्मै सर्वा समार्ध्यत १०। [2] तैब्रा. इडा वै मानवी यज्ञानुकारिन्य आसीत् (१।१।४।४ : इडा नाम गोरूपा काचिद् देवता... यज्ञतत्त्व प्रकाशन समर्था सा)। [3] ऋ. १०।९५।१८। [१५५१] निघ. १।१२ (<√सृ 'सरकना, बहना' तु. 'सलिल') १।११। [1] निघ १।१३ (बहुवचन), [2] १।११। [3] नि. २।२३।

[१५५२] अम्बितमे नदीतमे सरस्वति... अम्ब...२।४१।१६। [1] १।१६४।४९ टी. १३६४। [2] इस प्रकार बाह्य जगत ऋषि कवि के चित्त में उत्तेजना जगाता है, उस समय जड़, फिर जड़ नहीं

सरस्वती नदी के रूप में प्राणोच्छलता की दृष्टि से नदियों में परमा हैं [१५५३], अकेले वे ही चेतनामयी हैं उनमें — शुचि होकर उतर आती हैं (पृथिवी के) गिरि-शिखर और (अन्तरिक्ष के) समुद्र से, विश्व भुवन के विचित्र संवेगों की चेतना है उनमें, ज्योतिर्मय आप्यायन की धारा का उन्होंने दोहन किया है नहुषतनय के लिए।[१] प्रबल उच्छ्वास और ऊर्मियों के उच्छलन से शैल-शिखरों को तोड़ती चलती हैं वे कन्द खोदने वालों की तरह — समुद्र का व्यवधान दूर करते हुए।[२] इस प्रकार कोई और नहीं आता हमारे निकट अन्तरंग होकर जिस प्रकार सरस्वती आती हैं — नदियों द्वारा स्फीत होकर।[३] ओज की साधना से ओजस्विनी हैं वे, गति करती हुई चलती हैं पूषा की तरह हम सब की परम प्राप्ति की दिशा में।[४] जिस प्रकार वे हम सब की प्रियतमा, सब से अधिक प्रिय हैं उसी प्रकार फिर घोरा हैं भीषणा हैं, वृत्रघातिनी हैं, सुनहले (हिरण्मय) आवर्त रचते हुए चलती हैं;[६] देवनिन्दकों को निर्मूल करती हैं और मायावी बृसय (वृत्र के अनुचर) की सन्तानों का विनाश करती हैं; क्षिति अथवा क्षेत्र के लिए खोज लेती हैं प्रणालिका, फिर वे ओजस्विनी शक्तिशाली ढाल देती हैं विष देवनिन्दकों के भीतर।[७] यहाँ सर्वत्र सरस्वती के आधिभौतिक रूप का अतिक्रमण करके उनका आध्यात्मिक रूप उजागर हुआ है

वेद में अनेक स्थलों पर सप्तसिन्धु का उल्लेख है जिनकी अवरुद्ध धारा को मुक्त करना इन्द्र का काम है। सरस्वती इन्हीं सिन्धुओं (नदियों) में 'सप्तथी' अथवा सप्तमी अर्थात परमा हैं, सिन्धु उनकी माता हैं [१५५४], फिर वे सातों एक-दूसरे की बहनें हैं।[१] ऋक् संहिता के नदी सूक्त में

रहता। द्र. नीचे और परे 'पृथिव्यायतन वस्तु' की भूमिका, Geldner का मन्तव्य DR ६|६१, सूक्त।

[१५५३] ऋ. असुर्या नदीनाम् ७|९६|१।[१] एका चेतत् सरस्वती नदीनां शुचिर् यती गिरिभ्य आ समुद्रात्, रायश्चेतन्ती भुवनस्य भूरेर् घृतं पयो दुदुहे नाहुषाय (७|९५|२; नाहुष, ययाति १०|६३|१ टी. १४४६)।[२] इयं शुष्मेभिर् बिसखा इवा रुजत् सानु गिरीणां तविषेभिर् ऊर्मिभिः, पारावतघ्नीम्... (६|६१|२; 'परावत्' सुदूर > 'पारावत'; 'बिसखाः' जो बिस अथवा कन्द का खनन करते हैं; तु. 'त्रिकद्रुक' टी. १२६८; सरस्वती की धारा नाड़ीतंत्र की ग्रन्थि विकीर्ण करती चलती है)।[३] [इन्द्रो नेदिष्ठम् अवसा-गमिष्ठः (आने वालों में निकटतम)] सरस्वती सिन्धुभिः पिन्वमाना (६|५२|६; चिन्मय प्राण की शुभ्र धारा प्रचेतना के समुद्र की ओर जितनी अग्रसर होती है उतनी ही आगन्तुक और भी धाराओं के मिलन से स्फीत होती रहती है; उद्दीप्त प्राणों में बाहर का समस्त अनुभव भी विपुल और महत् हो जाता है; तु. १|२|१२ टी.)।[४] तु. त्वं देवि सरस्वत्य् अवा वाजेषु वाजिनि, रदा पूषे व नः सनिम् (६|६१|६, तु. पूषा के हिरण्मय पात्र का आवरण हटाना ई. १६)।[५] ऋ. उत नः प्रिया प्रियासु ६|६१|१०; [६] घोरा हिरण्यवर्तनिः वृत्रघ्नी ७; [७] तु. सरस्वति देवनिदो नि बर्हय प्रजां विश्वस्य बृसयस्य मायिनः, उत क्षितिभ्योऽवनीर् अविन्दो विषम् एभ्यो अस्रवो वाजिनीवति (३; 'बृसय' वृत्र के अनुचर, तु. १|९३|६ टी. १२३१, १२२८[४]; 'क्षिति' आधार अथवा क्षेत्र' जिसके भीतर से सरस्वती की धारा प्रवहमान है, तु. ६|५२|६ टी. ११४५[२]; 'अवनी' गर्त, नाली अथवा अन्यान्य नाड़ी, उपनदी की तरह; 'वाजिनी' उषा की संज्ञा, क्योंकि उनमें है अँधेरा चीरने वाली वज्रशक्ति; उसी उषा की ज्योतिर्मय प्रसन्नता सरस्वती में भी है इसलिए वे 'वाजिनीवती'।

[१५५४] ऋ. सरस्वती सप्तथी सिन्धुमाता ७|३६|६।[१] ६|६१|१०। सात 'अप्' अथवा 'सिन्धु' (तु. ८|९६|१, ९८|४, १०|१०४|८) सात धामों अथवा भुवनों में सात प्राण की धाराएँ। वे

इक्कीस सिन्धु (नदी) का उल्लेख प्राप्त होता है[2]; उसमें एक स्थल पर एक के बाद एक 'गंङ्गे यमुने सरस्वति'[3] अर्थात् हम सब की सुपरिचित त्रिवेणी का उल्लेख है। एक और स्थान पर सरस्वती के साथ 'सिन्धु' और 'सरयू' का उल्लेख है - जो आर्यावर्त के दो छोर पर हैं। एक समय सरस्वती के किनारे किनारे ही जिस वैदिक संस्कृति का प्रचार-प्रसार हुआ था, उसका उल्लेख ऋक् संहिता में ही है।[4] लगता है, इसके उद्देश्य को ध्यान में रखकर ही आर्यमानस में - सरस्वती की अध्यात्म भावना सुप्रतिष्ठित होती है। फिर एक स्थान पर प्राचीन त्रयी - 'दृषद्वत्याम्... आपयायां सरस्वत्याम्' का उल्लेख प्राप्त होता है।[5] दृषद्वती अन्यत्र अश्मन्वती है।[6] दोनों में ही 'वज्र' की ध्वनि है जो सहज में ही तंत्र की वज्राणी नाड़ी की याद दिला देती है। इन तीन नदियों अथवा नाड़ियों में आग जलने की व्यंजना इस स्थल पर सुस्पष्ट है।[7]

सरस्वती के नदीरूप के अतिरिक्त वेद में और दो भावरूप की परिकल्पना है - एक रूप में वे चिन्मय प्राण हैं और दूसरे रूप में वे वाक् हैं। उनके नदी रूप से ही प्राणरूप की कल्पना विकसित हुई है क्योंकि नदियाँ इन्द्रवीर्य का प्रवाह हैं, इन्द्र की पत्नी हैं, हम सब के आधार में स्थित ऋभुगण के शिल्पनैपुण्य की सृष्टि हैं और सरस्वती उन नदियों में 'नदीतमा' हैं [१५५५]। उनके उच्छलित, सर्वव्याप्त प्राण का परिचय हमें उनके 'अम' अथवा स्वधावीर्य में मिलता है, जो अनन्त अकुटिल प्रज्वल और चरिष्णु है जो तरंगायित है मुखर होकर।[1] इसीलिए जो कर्मकुशला हैं उनमें वे कुशलतमा हैं, रथ की भाँति (प्रधाविता) हैं बृहती होकर, विभूतिवैचित्र्य में व्याकृत, विश्लेषित हैं।[2] विश्वप्राण को नित्य अथवा शाश्वत सहचर के रूप में इन्द्र जिस प्रकार मरुत्वान् हैं, उसी प्रकार सरस्वती भी मरुत्वती हैं, आक्रमण द्वारा विजय प्राप्त की है शत्रुओं पर[3] वृत्रघातिनी के रूप में।[4]

अपने अपने धाम में एक दूसरे की बहनें हैं। किन्तु ऊपर की ओर प्रवाहित होने में सबके ही पारम्य (परमता) की सम्भावना है; तब वे माता हैं। फिर सिन्धु जब व्यक्तिवाचक, तब सभी नदियों की मुख्या अतएव माता (१०|७५|१-४, ७)। [2] प्र सप्त सप्त त्रेधा हि चक्रमुः १०|७५|१, ६४|८। 'त्रेधा' वे जिस प्रकार पृथिवी में हैं उसी प्रकार अन्तरिक्ष और द्युलोक में हैं। [3] १०|७५|५। [4] सरस्वती सरयुः सिन्धुर ऊर्मिभिः ... यन्तु १०|६४|९। संस्कृति का विस्तार तु. चित्र इद् राजा राजका (छोटामोटा राजा) इद् अन्यके यके (वही जो सब) सरस्वतीम् अनु ८|२१|१८। [5] ३|२३|४। [6] १०|५३|८ टी. १४३७। [7] द्र. टी. १२४८२।

[१५५५] ऋ. दमूनसो अपसो ये (ऋभुगण) सुहस्ता - वृष्णः (वीर्यवर्षी इन्द्र की) पत्नीर् नद्यो विभ्वतष्टाः, सरस्वती बृहद्दिवा उत राका दशस्यन्तीर् (मुक्तहस्ता होकर) वरिवस्यन्तु (सभी विपुल, बृहत् हों) शुभ्राः (५|४२|१२) प्रथम पाद में ऋभुगण की ओर संकेत; 'विभ्वा' ऋभुगण में मध्यम, इन्द्रवीर्य की प्रणालिका को उन्होंने ही रचा है; 'राका' पूर्णिमा की देवी; 'बृहद्दिवा' सरस्वती और राका दोनों का ही विशेषण है; आधार में मनुष्य की शिल्पप्रतिभा सक्रिय हुई है, प्रत्येक नाड़ी में ज्योति की धारा प्रवहमान है, पूर्णिमा टरक पड़ी, चेतना बृहत्, प्रशस्त होकर फैलती जा रही है - यह उसीका चित्रण है। [1] यस्या अनन्तो अह्रुतस् त्वेषस् चरिष्णुर अर्णवः अमश् चरति रोरुवत् ६|६१|८। [2] अपसाम् अपस्तमा रथ इव बृहती विभ्वने कृता १३।

मरुद्गण के साथ सरस्वती का विशेष सम्बन्ध ध्यातव्य है। अन्य नदियों की तरह सरस्वती भी 'मरुद्वृधा' [१५५६] हैं — उनकी छाती फूल उठती है झंझावात के झकोरों से, 'मरुत्सखा' होकर उनकी महिमा का प्रसाद लेकर वे जाग उठती हैं हमारे भीतर बहुत गहरे, और दो अन्ध, असंस्कृत धाराओं के मध्य में बहती हुई उनकी शुभ्र धारा प्रचोदित, प्रेरित करती रहती है महानों, महापुरुषों की ऋद्धि को।[1] एक स्थल पर देखते हैं कि सरस्वती 'वीरपत्नी' हैं।[2] यह 'वीर' कौन है? मरुद्गण को अनेक स्थानों पर 'वीराः' कहा गया है।[3] एवं ये सब ही एक स्थान पर 'वीरास ... मर्यासो भद्रजानयः' हैं।[4] और सरस्वती भी 'भद्रम् इद् भद्रा कृणवत्'।[5] इससे सरस्वती और मरुद्गण के बीच पत्नी-पति के सम्बन्ध की कल्पना की जा सकती है। तब वे दोनों एक चिन्मय प्राण के दो रूप होते हैं। उनके युगनद्ध होने के कारण ही 'सरस्वती मरुत्सु देवेष्व् अर्पिता' हैं।[6]

पुनः देखते हैं कि सरस्वती वीरपत्नी होकर भी 'वज्रजाता कुमारी हैं, चिन्मय प्राणशक्ति का आधार हैं' [१५५७]। वे ही फिर बृहत् द्युलोक से आविर्भूत होने के कारण[1] बृहद्दिवा रूप में विश्व की माता हैं जिस प्रकार त्वष्टा विश्व के पिता हैं।[2] उस समय सरस्वती भरपूर पूर्णिमा की देवी राका के साथ युक्ता हैं[3] — अर्थात् सरस्वती, राका एवं इन्द्रपत्नी नदीगण सभी शुभ्रा एवं महावैपुल्य की विधात्री हैं।[4] यहाँ हम केवल ज्योति की छवि का दर्शन करते हैं और अन्यत्र भी देखते हैं कि सरस्वती शुभ्रा हैं,[5] शुचि हैं।[6]

---

[3] मरुत्वती धृषती जेषि शत्रून् २।३०।८। [4] २।१।११ टी. १५४६[2]।

[१५५६] ऋ. १०।७५।५; 'मरुद्वृधा' सामान्यतः प्रधान नदियों का विशेषण है अथवा स्वतन्त्र नदी भी हो सकती है। यह शब्द और एक बार ऋक्संहिता में अग्नि का विशेषण है, ३।१३।६। हवा से आग जोर पकड़ती है। आध्यात्मिक दृष्टि से नदियाँ नाड़ियों में प्राणाग्नि का स्रोत हैं। [1] उभे यत् ते महिना शुभ्रे अन्धसी अधिक्षियन्ति पूरवः, सा नो बोध्य् अवित्री मरुत्सखा चोद राधो मघोनाम् ७।९६।२। वाजपेय में सोमग्रह और सुराग्रह का विधान है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार — 'प्रजापतेर् वा एते अन्धसी यत् सोमश् च सुरा च। ततः सत्यं श्रीर् ज्योतिः सोमो ऽनृतं पाप्मा तमः सुरा।' ५।१।२।१०। सौत्रामणी में 'अन्धसो विपानम्' है, उसमें सोम के साथ सुरा मिलाई जाती है (वही १२।७।३।४-५; ता. १४।११।२६)। सोम एवं सुरा दोनों ही 'अन्धः' अर्थात् तामस। सुरा तो निश्चय ही तामस है, सोम भी यदि संस्कार के द्वारा 'पूत' न हो तो फिर वह भी 'अन्धः' है। शतपथ ब्राह्मण में दोनों के 'उज्जय' की बात कही जा रही है। पुरु अर्थात् सारे मनुष्य इन दो अन्धः अथवा असंस्कृत धाराओं के तट पर वास करते हैं। सरस्वती अपनी शुभ्र धारा के अनुग्रह से इन दोनों धाराओं के ही ऊपर की ओर उनको ले जाती हैं। अन्व. तु. Geldner। [2] ऋ. ६।४९।७। [3] १।८५।१, ६।२६।७, ६६।१०, १०।७७।३... [4] ५।६१।४। [5] ७।९६।३। [6] १।१४२।९ (उसी प्रकार इळा और भारती भी)।

[१५५७] ऋ. पावीरवी कन्या चित्रायुः सरस्वती वीरपत्नी धियं धात् ६।४९।७। पावीरवी < पवीरु॥ पवीरु 'इन्द्र का प्रहरण, वज्र; तु. शोषन् (वृत्र के सारे अनुचर सो जाएँ) तु त इन्द्र सस्मिन् योनौ (एक ही उत्स में, जहाँ से वे उठकर आए थे अर्थात् अन्धतमिस्रा में) प्रशस्तये (जिसके फलस्वरूप तुम्हारी ही प्रशस्ति) पवीरवस्य (वज्रयुक्त तुम्हारी) मह्ना (शक्ति से, महिमा से) १।१७४।४; यो (इन्द्र) जनान्

बृहत्‌ज्योतिरूपा ये कुमारी कन्या सब की ईश्वरी हैं — अपनी महिमा या कीर्ति द्वारा अन्य जो वेगवती, प्राणप्रवाहिणी हैं, उनमें महीयसी होकर चेतना में कौंध जाती हैं सब का अतिक्रमण करते हुए [१५५८]। वे त्रिलोकव्यापी, त्रिकूटस्था हैं, सात धामों में सात रूपों में विराजिता हैं अर्थात पार्थिव भूमि को प्रशस्त, द्युलोक और अन्तरिक्ष को आपूरित कर रखा है; पंचजन की संवर्धयित्री होने के कारण ओज की साधना के प्रत्येक सोपान पर उनका आवाहन किया जाता है।[1] पृथिवी में अग्नि और अन्तरिक्ष के समीपवर्ती इन्द्र हैं; किन्तु ये दोनों ही 'सरस्वतीवान' हैं अर्थात सरस्वती के ओज की शक्ति इनमें निहित है।[2] इस प्रकार देवयान के आलोक-पथ को आच्छादित किए रहने के कारण वे हमें नित्य ले जाती हैं उत्तर-ज्योति की ओर,[3] और समस्त विद्वेषियों के अवरोधों को दूर करके हमें उसी तरह बिखेर देती हैं अपनी अन्य बहनों का अतिक्रमण करके- जिस प्रकार सूर्य बिखेर देते हैं दिन का प्रकाश।[4]

सरस्वती बृहद्दिवा रूप में जिस प्रकार परमा हैं उसी प्रकार फिर ये प्राणरूपिणी चिन्मयी ही जीव के जन्म के मूल में हैं। इसलिए सिनीवाली और अश्विद्वय के साथ उनका आवाहन इस प्रकार किया जाता है: 'भ्रूण को आहित करो सिनीवाली, भ्रूण को आहित करो सरस्वती! आश्वी दोनों देवता तुम्हारे भीतर भ्रूण को आहित करें कमल की माला पहन कर [१५५९]।' सिनीवाली में पूर्व अमावस्या का निविड अन्धकार, और सरस्वती में राका की पूर्ण ज्योत्स्ना का लावन- दोनों मानो, वारुणी शून्यता में अस्तित्व के कुमेरु और सुमेरु के संकेत हैं। उसके ही भीतर आलोकस्पन्दन के देवता अश्विद्वय का तिमिरविदारक अभियान उदयतीर्थ की पद्मराग सूचना के साथ शुरू होता है अर्थात सब मिलकर जीव के जन्मरहस्य की एक अपरूप व्यंजना है। सरस्वती यहाँ राका की प्रतिनिधि हैं अर्थात गर्भाशय में आहित चिदाभास के क्रमिक उपचय या पुष्टि, वृद्धि की नेपथ्यचारिणी विधात्री हैं।[1]

महिषाँ इवा. (वे चाहे जितने शक्तिशाली क्यों न हों) अतितस्थौ (अतिक्रमण कर गए) युध्वा (युद्ध करके) १०।६०।२; और पवीरवान् उता पवीरवान (हाथ में उनके वज्र रहे या न रहे) इन्द्रोपासक की संज्ञा है 'रुशम पवीरु' ८।५१।९। [1] ६।४३।११। [2] 'माता बृहद्दिवा' 'पिता त्वष्टा' के साथ तु. १०।६४।१०। ये बृहद्दिवा सरस्वती भी हो सकती हैं, क्योंकि गर्भाधान सूक्त में देखते हैं कि गर्भकर्तृत्व दोनों का ही है, लक्ष्य करने योग्य है- वहाँ जीवसत्ता का आधान सरस्वती करती हैं और रूप गढ़ते हैं त्वष्टा; यह जैसे माता और पिता की सामान्य व्याप्रिया या क्रिया का व्यतिक्रम हो। किन्तु देवपत्नियाँ त्वष्टा की नित्य सहचरी हैं (द्र. टी. १५६८[3]), त्वष्टा निश्चित रूप से इन मातृकाओं की सहायता से ही रूप गढ़ते हैं। वाक्‌सूक्त में माता जिस प्रकार पिता को भी पीछे छोड़ गई हैं (१०।१२५।७), यहाँ भी वह होना संभव। किन्तु इस मंत्र में बृहद्दिवा का परिचय अस्पष्ट है, द्र. टी. ११७८ [3] ५।४२।१२ द्र. टी. १५५३। [4] यहाँ 'बृहद्दिवा' विशेषण न होकर विशेष्य होने से इन तीन देवियों को पाते हैं — जिस प्रकार हम दुर्गा के अगल-बगल में लक्ष्मी और सरस्वती को पाते हैं। [5] ७।९५।६, ८।६।२। ६७।९५।२, ११४२।९।

[१५५८] ऋ. प्र या महिम्ना महिनासु चेकिते द्युम्नेभिर् अन्या: ६।६१।१३। [1] आपप्रुषी पार्थिवान्य् उरु रजो अन्तरिक्षम्... त्रिषधस्था सप्तधातु: पंचजाता वर्धयन्ती, वाजे-

किन्तु प्राणरूपिणी सरस्वती वागदेवी कैसे हुईं? यास्क का कहना है कि निरुक्तकारों की दृष्टि में, सरस्वती माध्यमिका वाक् हैं [१५६०] पृथिवी में सरस्वती नदीरूपिणी; किन्तु तत्वत: वे प्राण का शुभ्र स्रोत हैं।[1] प्राण का स्वधाम अन्तरिक्ष है। यहीं वज्र और विद्युत का प्रहरण लेकर वृत्र के साथ इन्द्रशक्ति का संग्राम, प्राण के अवरोध को मुक्त करने के लिए हुआ करता है। उस संग्राम का कोलाहल ही 'माध्यमिका वाक्' अथवा अन्तरिक्ष लोक का शब्द है। झंझावात का गर्जन और वज्रनाद, इसी वाक् के ये दो रूप हैं। इनमें एक के अधिष्ठाता मरुद्गण हैं, वे तेज़ आँधी के देवता हैं; और एक की अधिष्ठात्री सरस्वती हैं, वे 'पावीरवी' अथवा वज्रकन्या हैं। वज्रबाहु इन्द्र 'सरस्वतीवान' हैं। नीचे गूँगी पृथिवी और ऊपर निस्तब्ध आकाश है। जड़ और चैतन्य के बीच यही प्राण का कुरुक्षेत्र है, संग्राम का कोलाहल है। संग्राम में जब कूद पड़ते हैं तब मरुद्गण और सरस्वती दोनों ही घोर, विकराल हो जाते हैं।[2] किन्तु संग्राम के अन्त में मरुद्गण कान्त हो जाते हैं और सरस्वती कल्याणी हो जाती हैं। झंझावात और वज्रनाद के ठहर जाने पर पर्जन्य का मूसलाधार वर्षण और लगातार रिमझिम से सुमंगल मातृत्व की आसन्न सम्भावना में पृथिवी रोमांचित हो जाती है। उस समय संग्राम का कोलाहल मरुद्गण के कंठ से गीत के रूप में फूटता है—वे 'अर्किण:' हैं[3]; और हम सब की कल्पना में सरस्वती वीणावादिनी। इस प्रकार अधिदैवत दृष्टि से सरस्वती माध्यमिका वाक् हैं।

पुन:, आध्यात्मिक दृष्टि से प्राण की आकूति मनुष्य द्वारा उच्चारित वाक् में फूटती है। देवकाम की वह वाक् मंत्र है। मंत्र चित्त की एकाग्रता का परिणाम है, इसलिए उसकी एक और संज्ञा 'धी' हुई। यह वाक् अथवा मंत्र अथवा धी जिनकी प्रेरणा से स्फुरित होती है, वे ही वागदेवी सरस्वती हैं। उनका पूर्ण रूप अम्भृणकन्या वाक् के सूक्त में प्रस्फुटित हुआ है [१५६१]। वहाँ हम उनको सर्वदेवमयी, विश्व-जननी और ईश्वरी तथा प्राण और प्रज्ञा के समाहार रूप में पाते हैं। वे जब जिसको चाहती हैं उसको वज्रतेजा, बलवान बना सकती हैं, ब्रह्मविद्, ऋषि एवं सुमेधा अथवा मेधावान, ज्ञानवान बना सकती हैं।[1] तब सरस्वती सावित्री शक्ति हैं, 'धी' का प्रचोदन, प्रेरण उनका विशेष कार्य है। वे ध्यानलभ्य ज्योति हैं,[2] वीर पत्नी होकर हमारे भीतर धी को निहित करती हैं,[2] ध्यान को सिद्ध

वाजे हव्या भूत् ६।६१।११-१२। [2] तु. आ.हं सरस्वतीवतोर् इन्द्राग्न्योर् अवो वृणे ८।३८।१० [3] सरस्वत्य् अभि नो नेषि वस्य: ६।६१।१४। [4] सा नो विश्वा अति द्विष: स्वसॄर् अन्या ऋतावरी, अतन्न् अहेव सूर्य: ६।६१।९। 'अन्या: स्वसॄ:' अन्य नाड़ियों के, क्योंकि सरस्वती 'सप्तथी' अथवा 'परमा' हैं (टी. १५५२) वे हमारे भीतर प्रचेतना का समुद्र उद्वेलित कर देती हैं (१।३।१२)।

[१५५९] ऋ. गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति, गर्भं ते अश्विनौ देवाव् आ धत्तां पुष्कर स्रजा १०।१८४।२। [1] वे ही आहित, स्थापित गर्भ की आत्मा हैं। इसीलिए पौराणिक सरस्वती हंसवाहिनी। इस प्रसंग में तु. सरस्वती का पुंरूप 'सरस्वान्' है। (१।१६४।५२, ७।९५।३, ९६।४-६)। प्रथम मंत्र में वे 'दिव्य सुपर्ण बृहत वायस:' जो अग्नि अथवा सूर्य दोनों ही समझे जा सकते हैं। अग्नि जीवात्मा है, सूर्य परमात्मा। सरस्वती का हंस दोनों का ही प्रतीक है।

[१५६०] नि. ११।२७। [1] ऋ. त्वे विश्वा सरस्वति श्रिता यूंषि देव्याम् २।४१।१७। [2] सरस्वती ६।६१।७;

करती हैं,[४] समस्त ध्यानवृत्तियों में विराजमान हैं,[५] धी की संरक्षिका हैं,[६] धीसमूह से जुड़ी हुई हैं,[७] हमारे भीतर लोकमंगल, कल्याण चिन्तन अथवा सौमनस्य की चेतना विकसित करती हैं,[८] चित्ति या चिन्तन की दीप्ति में ज्योति-तरंग की प्रचेतना ले आती हैं।[९] यहाँ हम देखते हैं कि धी, चित्ति और प्रचेतना के साथ उनका नित्य सम्बन्ध है। इस प्रकार वाग्देवी सरस्वती प्रज्ञा की भी देवता हैं।

माध्यन्दिन संहिता, ऐतरेय ब्राह्मण एवं शतपथ ब्राह्मण इत्यादि के अनुसार कुछ विद्वानों का कहना है कि वाग्देवी के रूप में सरस्वती की कल्पना परवर्ती समय में की गई है [१५६२]। किन्तु सरस्वती और वाक् के तादात्म्य की सूचना ऋक् संहिता में ही है। मनुसंहिता में ब्रह्मयज्ञ के फलस्वरूप दूध, दही, घृत और मधु के क्षरण का उल्लेख है। ऋक् संहिता में भी हम पाते हैं कि 'पावमानी' ऋचाओं का जो अध्ययन करता है, सरस्वती उसके लिये दोहन करती हैं दुग्ध, घृत, मधु एवं उदक।[१] यहाँ वेदाध्ययन के साथ सरस्वती का सम्बन्ध सुस्पष्ट है।

उसके पश्चात देवी **भारती** का कुछ विशेष परिचय संहिता में नहीं प्राप्त होता। केवल, यही दिखाई पड़ता है कि आप्रीसूक्त के अतिरिक्त ऋक् संहिता में जहाँ भी उनका उल्लेख किया गया है वहाँ ही उनका विशेषण 'होत्रा' [१५६३] है। पहले ही हमने देखा है कि 'होत्रा' का व्युत्पत्तिगत अर्थ आहुति अथवा आह्वान दोनों ही हो सकता है।[१] निघण्टु में भी होत्रा यज्ञ एवं वाक् दोनों का ही बोधक है।[२] इससे भारतीका यज्ञ के साथ सम्बन्ध मात्र सूचित होता है किन्तु उनका स्वरूप क्या है वह स्पष्टतः समझ में नहीं आता। इस संज्ञा के मूल में 'भारत' एवं 'भरत' ये दो शब्द हैं। ये दोनों शब्द अत्यन्त प्राचीन एवं प्रसिद्ध हैं, और ऋक् संहिता के प्रत्येक आर्ष मण्डल में ही 'जन' अथवा 'अग्नि' के बोध के लिए उनका उल्लेख है।[३] जान पड़ता है आर्यों में जो वेदपंथी थे और

मरुद्गण १।१६७।४, १६९।७। [३] १।१३८।१५। [४] उनका यह रूप ऋग्वेद में नहीं है किन्तु उसका बीज वहाँ ही है।

[१५६१] ऋ. १०।१२५ सूक्त। [१] तु. यं कामये तंतम् उग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तम् ऋषिं तं सुमेधाम् १०।१२५।५। [२] धियावसुः १।३।१०। [३] ६।४९।७। [४] साधयन्ती धियं नः २।३।८। [५] धियो विश्वा वि राजति १।३।१२। [६] धीनाम् अवित्री ६।६१।४। [७] शं सरस्वती सह धीभिर् अस्तु ७।३५।११, १०।६५।१३। [८] चेतन्ती सुमती नाम् १।३।११। [९] महो अर्णः सरस्वतीः प्र चेतयति केतुना १।३।१२।

[१५६२] तु. मा. वाचा सरस्वती भिषक् १९।१२, ऐ. वाक् तु सरस्वती ३।१,२,३७, ६।७; श. ७।५।१।३१, ११।२।४।९, २।५।४।६ ...; तै. १।३।४।५, १।६।२।२ ...; ता. ६।७।७, १६।५।१६; ...। [१] ऋ. पावमानीर् यो अध्येत्य् ऋषिभिः संभृतं रसम्, तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर् मधूदकम् ९।६७।३२। नदी सरस्वती यज्ञ के साथ विशेष रूप में जुड़ी है क्योंकि उसके किनारे-किनारे ही याज्ञिकी संस्कृति का विस्तार (तु. १।३।१०-११, ८।२१।१८ टी. १५५२, ३।२३।४; और भी तु. ऐब्रा. २।१९ कवषोपाख्यान)। यज्ञ मंत्रसाध्य है, वस्तुतः मंत्र मनुष्य के मन में दैवी वाक् का स्फुरण है। अतएव परम्परा के क्रम में वाक् के साथ सरस्वती का अन्वित या युक्त होना नितान्त ही स्वाभाविक है।

[१५६३] ऋ. १।२२।१०, २।१।११, ३।६२।३; आप्रीसूक्त में १।१४२।९। [१] द्र. टी. १५२८। [२] निघ. २।१७, २।७०

यज्ञ-साधना करते, 'भरत' उनके ही आदि पुरुष हैं। भरतजन यज्ञाग्नि वहन करते अथवा यज्ञाग्नि के निकट हव्य वहन करते अत: उनकी संज्ञा के ये दो अर्थ ही हो सकते हैं।४ यज्ञ साधक के रूप में वे अग्निहोत्री,५ और उनके मुख्य देवता भी वही 'भारत' अथवा 'भरत' हैं। ब्राह्मण में भी देखते हैं कि आधिदैवत दृष्टि से इन दोनों संज्ञाओं की व्याख्या अग्नि के पक्ष में की गई है एवं अध्यात्म दृष्टि से 'प्राण' कहा गया है।६ तो फिर भारती स्वरूपत: अग्निशक्ति हैं।

आप्रीदेवगण की संरचना या ढाँचा अत्यन्त प्राचीन है, उस में 'तिस्रो देव्य:' के अन्तर्गत भारती को भी तो अतिप्राचीन काल से ही स्थान दिया गया है। 'इला' यज्ञ का हव्य, यज्ञ का अनुष्ठान होता 'सरस्वती' के किनारे, और 'भारती' होत्रा अर्थात् मंत्र अथवा आहुति — इन तीनों में ही अग्नि का सम्बन्ध सुस्पष्ट है। द्रव्ययज्ञ में हव्यमात्र ही पार्थिव अतएव इला पृथिवीस्थाना, प्राण की धारा के रूप में सरस्वती अन्तरिक्षस्थाना; इसलिए परिशेष न्याय से भारती द्युस्थाना हुई- क्योंकि याज्ञिक की अग्नि 'त्रिषधस्थ' है, और अग्निसाधना का लक्ष्य ही सूर्य में पहुँचना होता है। ~~यह~~ ~~जिस~~ प्रकार हव्य के चिन्मय विपरीत परिणाम से [१५६४], प्राण की ऊर्ध्वस्रोता धारा में, उसी प्रकार देवकाम मंत्र अथवा मनन की शक्ति से वहाँ पहुँचती है।१ इसलिए भारती, देवहूति अथवा दिव्या वाक् हैं — दोनों अर्थ में ही। अतएव वे द्युस्थाना हैं, वे 'आदित्य की भाँति' या दीप्ति हैं।२ ऋक्संहिता में ही देखते हैं कि वे अदितिरूपी अग्नि का ही एक विभाव हैं और होत्रा के रूप में वर्धित होती रहती है उद्बोधिनी वाणी द्वारा,३ वे 'विश्वतूर्ति' अथवा तीव्र संवेग से सब का अतिक्रमण कर जाती हैं,' वे सर्वव्याप्त ध्यान चेतना हैं, वे सुदक्षिणा हैं।४ संक्षेप में

१।११। ३ द्र॰ 'भारत' अग्नि २।७।१, ५; 'भरत' जन अथवा यजमान ३६।२; 'भारत' जन ३।५३।१२; भारत अग्नि ४।२५।४; 'भरत' जन अथवा यजमान ५।११।१, ५४।१४; बार्हस्पत्य भरद्वाज स्वयं को 'भरत' कहते हैं ६।१६।४; 'भारत' अग्नि ६।१६।१९, ४५; 'भरत' जन अथवा यजमान ७।८।४, ३३।६। उसके अतिरिक्त भी 'भरत' अग्नि १।९६।३। ४ भरतगण अग्नि और सूर्य दोनों के उपासक। पृथिवी की अग्नि सूर्य में समापन्न होगी, वैदिक साधना का यही मूल तत्व है। एक ही अग्नि पृथिवी में अग्नि, अन्तरिक्ष में विद्युत्, और द्युलोक में सूर्य — 'वे त्रिषधस्थ वैश्वानर' हैं (६।८।७) इस दृष्टि से भरतगण के इष्टदेवता 'भारत' अग्नि और उनकी शक्ति 'भारती' भी त्रिषधस्था हैं (६।६१।१२)। तत्वत: वे अदिति — अर्थात् शतहिमा इला, सरस्वती एवं होत्रा भारती उनकी त्रिधा मूर्ति है (२।३।११)। भरतजन के सम्बन्ध में विद्वानों का अनुमान है कि भरत एवं त्रित्सु एक ही व्यक्ति का नाम है (Ludwig) अथवा तृत्सुजन भरत जन के राजा (Geldner) एक समय पुरुओं के साथ भरतों का कलह होते हुए भी तृत्सुओं, भरतों एवं पुरुओं को मिलाकर 'कुरु' नाम से जन का निर्माण होता है। उनका जनपद ही कुरुक्षेत्र है जो ब्राह्मण्य धर्म का आदिक्षेत्र कहा जा सकता है। ५ द्रष्टव्य. निघ॰ में 'भरता:' 'कुरव:' ये दो जन ऋत्विक् अर्थ रूढ़ (३।१८)। ६ शांखायन ब्राह्मण की व्युत्पत्ति : 'अग्निर् वै भरत:, स वै देवेभ्यो हव्यं भरति ३।२। श॰ब्रा॰ १।४।२।२, १।५।१।८; ऐ॰ प्राणो भरत: २।२४, श॰ एष (अग्नि:) उ वा इमा: प्रजा: प्राणो भूत्वा बिभर्ति... १।५।१।८, १।४।२।२। यहाँ 'भरत' पहले देवता का नाम, उसके बाद जन का नाम है।

[१५६४] तु॰ सु॰ आहुतियाँ यजमान को सूर्यरश्मि की सहायता से वहन करके ब्रह्मलोक में ले जाती हैं १।२।५-६। १ तु॰ गूळ्हं ज्योति: पितरो अन्वविन्दन् सत्यमंत्रा

वे हमारे भीतर बीजरूपी मंत्रचेतना को आदित्य भास्वर विश्वचेतना में विस्फारित करती हैं एवं सिद्धि के सम्प्रसाद अथवा निरभ्रता में हृदय को उषा की ज्योति में छितरा देती हैं।

आप्री सूक्तों में इन तीन देवियों के सामान्य वर्णन में देखते हैं कि वे यज्ञिया हैं [१५६५] हमें प्रेरित करती हैं परम कल्याण की ओर;[1] वे कल्याणरूपा हैं[2] कल्याणकर्मा हैं;[3] वे इन्द्रपत्नी हैं,[4] तीव्र सोम की धारा निचोड़ दे रही हैं इन्द्र के लिए।[5]

इस बार उत्सर्ग-भावना के अष्टम सोपान पर उतरे। जहाँ ऊपर-नीचे की मिलनभूमि पर खड़े होकर अग्नि और सूर्यरूपी दो मेरुओं या ध्रुवों के बीच विद्युद्-विसर्पिणी शक्ति की मुक्तधारा का अनुभव करते हैं। माध्यन्दिन संहिता के अनुसार सप्तम सोपान पर ही अक्षरप्रचय की बारी जगती छन्द में समाप्त हो गई, इसलिए इस बार छन्द 'विराट्' [१५६६]; और शकटवहन योग्य वृषभ के पार्श्व में धेनु के रूप में पयस्विनी महाशक्ति को देखते हैं।[1] त्रिभुवन चित्‌शक्ति का विच्छुरण है, अब इसी शक्ति के अनुभव के ऐश्वर्य के साथ ऊपर-नीचे को एक करके उतर आने की बारी है। विश्वामित्र कहते हैं:[2]—

'आओ भारती भारतीगण को साथ लेकर समरस होकर, (आओ) इला देवताओं को लेकर, मनुष्यों को लेकर अग्नि आओ। सरस्वती सारस्वतों को लेकर (आओ) यहाँ। तीनों देवी इस बर्हि पर आसन ग्रहण करो [१५६७]' अर्थात् इस आधार में अदितिचेतना

अजनयन्न् उषासम् ७।७८।४ टी. १३७७[3]। [2] तु. नि. भारती ... भरत आदित्यस तस्य भा: ८।१३। द्र. श. स हैष (सूर्य:) भर्ता ४।६।७।२१। [3] २।१।११ टी. १५४६[2]। [4] २।३।८; मा. २०।४३। [5] ऋ. आ ग्ना (देवपत्नियों को) अग्न इहा-वसे होत्रां यविष्ठ भारतीं वरूत्रीं धिषणां वह १।२२।१०। यहाँ लगता है भारती सब देवियों की अधिनायिका है, वे धिषणा के साथ एक हैं। धिषणा वाक् (निघ. १।११)॥ ध्यान-शक्ति। [6] ऋ. अस्मान् वरूत्री: शरणैर् अवन्त्व् अस्मान् होत्रा भारती दक्षिणाभि: २।६२।३। 'वरूत्री:' तु. 'ग्ना:' अथवा देवपत्नियाँ १।२२।१०। 'दक्षिणा' द्र. दक्षिणा-सूक्त १०।१०७; १।१२५। दक्षिणा केवल यजमान का दान नहीं, बल्कि देवता का भी दान है-अर्थात् उनकी शक्ति और ज्योति का प्रसाद है (तु. सा ते ... इन्द्र दक्षिणा मघोनी २।११।२१)। इसलिए उषा भी 'दक्षिणा' (१।१२३।१; द्रष्टव्य. दक्षिणा सूक्त के आरम्भ में भी सूर्योदय की यह एक सुन्दर छवि है — यज्ञ के अन्त में यजमान, ऋत्विक और विश्वप्रकृति सब के भीतर मानो उषा का दाक्षिण्य प्रस्फुटित हुआ)।

[१५६५] ऋ. १।१४२।९। [1] ता नश् चोदयत श्रिये १।१८८।८। [2] ७।२।८; तु. मा. २८।३१। [3] ऋ. १०।११०।८; तु. श्रै. ७। [4] मा. २०।४३, २८।८। [5] मा. २०।६३। वृत्रहन्ता इन्द्र के लिए इन तीन देवियों के तीन लोक में सोमधारा के निचोड़ देने के साथ तुलनीय तंत्र का ग्रन्थि भेद।

[१५६६] तु. 'विराड् वै छन्दसां ज्योति:' ता. ६।३।६, १०।२।२; 'बृहद् विराट्' तैब्रा. १।४।४।७, ऋक्संहिता में 'तस्माद् विराल् अजायत' १०।९०।५। [1] मा. २१।१९, २८।३१। [2] यही ऋचा सप्तम मण्डल के आप्री सूक्त की आठवीं ऋचा है। ऐसा साम्य सूक्त के अन्त तक है। इस से विश्वामित्र और वसिष्ठ की सगोत्रता की सूचना मिलती है।

[१५६७] ऋ. आ भारती भारतीभि: सजोषा इला देवैर् मनुष्येभिर् अग्नि:, सरस्वती

की दीप्ति,[1] अपनी त्रिधामूर्ति की सहस्त्र किरण सुषमा के छन्द में फैल जाए। मेरे मर्त्य शरीर को इन्धन बनाकर अनन्तता की एषणा अग्निशिखा होकर प्रज्वलित हो जाए और विश्वचेतना की ज्योति ले आए। पूर्वपुरुषों की अभीप्सा के अविराम प्रवाह के रूप में आग जलती रहे। चिन्मय प्राण का प्रवाह उतर आए और साधन-सम्पदा की शक्ति प्रदान करे। देखो यह उन्मुख, उत्सुक हृदय का आसन उन तीन ज्योतिष्मती देवियों के निमित्त बिछा दिया। वे मेरे आधार में अधिष्ठित हों, आविष्ट हों।

आप्री सूक्त के नवम देवता त्वष्टा हैं। नाम की निरुक्ति देते हुए यास्क कहते हैं कि 'निरुक्तकारों की दृष्टि में वे शीघ्रव्यापी होने के कारण 'त्वष्टा' हैं। फिर दीप्त्यर्थक त्विष धातु अथवा करणार्थक त्वक्ष् धातु से भी व्युत्पत्ति हो सकती है।... उनके कथनानुसार त्वष्टा माध्यमिक देवता हैं क्योंकि उनका पाठ अन्तरिक्ष स्थान देवताओं के अन्तर्गत है। शाकपूणि का कहना है कि वे अग्नि हैं [१५६८]।' इस त्वष्टा के तीन लक्षण प्राप्त होते हैं — वे सर्वव्यापी हैं, दीप्तिमान हैं और कर्ता हैं। आकाश सर्वव्यापी है, उसी आकाश में सूर्य दीप्यमान, प्रकाशमान हैं एवं विश्व के कर्ता हैं — उस समय यही छवि मन में उभरती है। ऐसा कहा जा सकता है कि यह त्वष्टा का दिव्य रूप है। वायु अथवा विद्युत् रूप में वे माध्यमिक हैं फिर अग्नि के रूप में पृथिवीस्थान हैं। यास्क की व्याख्या में हम देखते हैं कि आदित्य, वायु अथवा विद्युत् एवं अग्निरूप में तीनों लोकों में ही त्वष्टा का अधिष्ठान है।

वस्तुतः तक्ष् अथवा त्वक्ष् धातु से ही त्वष्टा की व्युत्पत्ति, शब्द और अर्थ दोनों दृष्टियों से ही सही है [१५६९]। बढ़ई जिस

सारस्वतेभिर् अर्वाक् तिस्रो देवीर् बर्हिर् एदं सदन्तु ३।४।८। भारतीभिः' भारती, आदित्यदीप्ति अथवा अद्वैत चेतना। आदित्य एक, किन्तु उनकी अनेक रश्मियाँ हैं। वे भी भारती हैं अर्थात् एक ही अद्वय तत्व का बहुधा विच्छुरण। 'सजोषाः' अर्थात एक भारती अन्य सभी भारती के साथ सुष्ठु रूप में ग्रथित होकर। जो एक अनेक को कमल के शतदल की तरह धारण कर सकता है, वही यथार्थ अद्वैत है। 'इला' पृथिवी स्थाना, अनन्तता की एषणा। किन्तु उनके साथ रहें विश्वदेवता (देवैः) क्योंकि वह एषणा विश्वचेतना की ही एषणा है। 'अग्निः मनुष्येभिः' ये मनुष्य पितृपुरुष। उनकी अभीप्सा की ही अनुवृत्ति होती रहती है हमारे भीतर 'सारस्वतेभिः' — अर्थात् चिन्तन में प्राण की विचित्र धारा की व्यंजना को लेकर। [1] तु. २।१।११।

[१५६८] नि. 'त्वष्टा तूर्णम् अश्नुते इति नैरुक्ताः। त्विषेर् वा स्याद् दीप्तिकर्मणः, त्वक्षतेर् वा स्यात् करोतिकर्मणः। माध्यमिकस् त्वष्टा इत्य् आहुः, मध्यमे च स्थाने समाम्नातः। अग्निर् इति शाकपूणिः' ८।१४। यास्क की अनेक व्युत्पत्ति की तरह इन व्युत्पत्तियों में प्रथम दो शब्दगत नहीं बल्कि अर्थगत हैं। पहले ही बतलाया है कि शब्दविज्ञान की दृष्टि से असंगत होने पर भी ये किस भाव के वाहन हैं वह समझने में सहायता करते हैं। वह उपेक्षणीय नहीं। यास्क की व्युत्पत्ति से यह बोध हुआ कि त्वष्टा एक विशाल ज्योति का समर्थ उद्भास हों जैसे। इतना जानना मर्मज्ञ के लिए लाभदायक है। [१५६९] त्वक्ष् ॥ AV. thwaks।—

लकड़ी को काट-छाँटकर मूर्ति गढ़ता है उसी प्रकार त्वष्टा भी विश्व के अरूप उपादान से रूप गढ़ते हैं।[1] उपनिषद की भाषा में अव्याकृत को व्याकृत करते हैं। इसी अर्थ में वे यास्क की दृष्टि में 'कर्ता' अर्थात रूपकृत हैं, रूपकार हैं। संहिता में बार-बार इस बात का उल्लेख किया गया है।[2] अतएव त्वष्टा स्पष्टतः स्रष्टा ईश्वर अथवा 'प्रजापति' हैं।[3] किन्तु वे सृष्टि करते हैं 'होकर'; इसलिए वे 'विश्वरूप' हैं।[4] इसके अलावा वे बाहर विश्वरूप हैं किन्तु अन्तर में 'सविता' हैं।[5] ऋक् संहिता में यही उनका लक्षणीय परिचय है।

पुनः विश्वरूप त्वष्टा को 'विश्वकर्मा' के साथ मिलाकर देखना होगा [१५७०]। सृष्टि के सम्बन्ध में विभूतिवाद और निर्माणवाद ये दो वाद सम्भव हैं। विभूतिवाद के ईश्वर विश्वरूप हैं — वे यह सब कुछ 'हुए हैं'; और निर्माणवाद के ईश्वर विश्वकर्मा हैं — उन्होंने सब कुछ 'किया है'। परवर्ती युग में एक धारा का अवतरण वेदान्त में हुआ है और एक का न्याय में।[1] किन्तु वेद में इन दो धाराओं में किसी प्रकार के विरोध की सृष्टि नहीं की गई है। वहाँ हम देखते हैं कि विश्वरूप त्वष्टा के हाथ में लोहे का बसूला है,[2] फिर विश्वकर्मा की चारों ओर आँखें हैं, हर ओर बाँहें हैं और हर ओर पैर हैं; किन्तु उन्होंने दो बाहों से और अनेक डैनों से फूंक मारी, जब भूलोक और द्युलोक को रचा एक देव होकर।[3] त्वष्टा जिस प्रकार विश्वरूप हैं[4] उसी प्रकार फिर 'सुकृत सुपाणिः स्ववाँ ऋतावा' हैं[5] अर्थात वे सब कुछ कर रहे हैं, सब कुछ हो रहे हैं तथा अपने आप में स्वयं अवस्थित हैं। स्रष्टा ईश्वर के सर्वप्राचीन एवं सर्वांगीण रूप की कल्पना हमें त्वष्टा में प्राप्त होती है। तत्वचिन्तन के फलस्वरूप रूप से परे वे ही ब्रह्मणस्पति, वाचस्पति एवं प्रजापति रूप में दीखते हैं।

ऋक् संहिता में है, इन्द्र का 'त्वक्षः' १।१००।१२, ६।१८।९, मरुद्गण का ८।२०।६; त्वक्षीयसा वयसा २।३३।६; त्वक्षसा वीर्येण ४।२७।२। निघ. 'त्वक्षः' बल २।९। उसके साथ तुलनीय 'ऊर्ज' चेतना का रूपान्तरण और अरूप से रूप को प्रस्फुटित करना — ये दोनों बलक्रियाएँ एक प्रकार की हैं। [1] तु. ऋ. गौरीः...सलिलानि तक्षती १।१६४।४१; किं स्विद् वनं (काठ, लकड़ी) क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः १०।८१।४। [2] य इमे द्यावापृथिवी जनित्री (जनक जननी) रूपैर् अपिंशद् भुवनानि विश्वा (१०।११०।९ = मा. २९।३४); अयं (अग्नि) यथा न... यहाँ तूलिका से रूप उभारने की ध्वनि है, आभुवत् (आविष्ट हुए) 'त्वष्टा' रूपेव तक्ष्या (जिनका तक्षण करना होगा उन सब रूपों में) ८।१०२।८; त्वष्टा रूपाणि हि प्रभुः (ईश्वर) १।१८८।९; मा. २८।३२, त्वष्टेदं विश्वं भुवनं जजान बहोः कर्तारम् इह यक्षि होतः २९।९ ऋ. त्वष्टा रूपाणि पिंशतु १०।१८४।१। [3] तु. 'इन्दुर इन्द्रो वृषा हविः पवमानः प्रजापतिः' अर्थात त्वष्टा ही वीर्यवर्षी इन्द्र और स्वर्णवर्ण पवमान इन्दु हैं, वे ही प्रजापति हैं ९।५।९। [4] १।१३।१०; मा. त्वष्टारं पुरुरूपम् २८।९ [4]. १०। [5] ऋ. जनिता... देवस् त्वष्टा सविता विश्वरूपः १०।१०।५, देवस् त्वष्टा सविता विश्वरूपः, पुपोष प्रजाः पुरुधा जजान, इमा च विश्वा भुवनान्य् अस्य। ३।५५।१९।

[१५७०] ऋ. १०।८१, ८२ सूक्त। [1] तु. सांख्य की 'प्रकृति' कर्त्री॥ 'विश्वकर्मा' कर्ता; किन्तु वे फिर 'विश्वशम्भूः' १०।८१।७, विश्व के आँख-मुँह, हाथ-पाँव वे ही हैं ३। [2] वाशीम् एको बिभर्ति हस्त आयसीम् (लोहे का) अन्तर् देवेषु निध्रुविः (गहरे निश्चल) ८।२९।३ विश्वरूप त्वष्टा का मंत्र है किन्तु नाम नहीं। पूरे सूक्त में नाम न देकर प्रधान देवताओं का वर्णन किया गया है। [3] विश्वतश्चक्षुर् उत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुर् उत विश्व-

संहिता में त्वष्टा का यही परिचय प्राप्त होता है। वे जिस प्रकार विश्वरूप में सब कुछ हुए हैं, उसी प्रकार, उसके भी पहले समस्त रूपों के उस पार अवस्थित हैं [१५७१]। वहाँ से वे सब के पहले जन्म लेते हैं और सब के पुरोधा के रूप में ज्योति के रक्षक होकर चलते हैं; उस समय वे प्रजापति हैं, पवमान इन्दु की स्वर्ण-धारा, इन्द्र-वीर्य से आन्दोलित, अस्थिर।[1] सृष्टि के उस आदि लग्न से सभी देवताओं और देवशक्ति के वे गणपति हैं।[2] बृहद्दिवा विश्व की माता हैं और वे पिता हैं — देवपत्नियाँ उनकी नित्य संगिनी, शाश्वत सहचरी हैं।[3] वे विश्वकर्मा हैं, इसलिए 'सुपाणि' हैं[4] कर्मियों में सर्वापेक्षा मंगलमय हैं, कल्याणयुक्त हैं, क्योंकि वे 'माया' जानते हैं।[5] उनकी इस निर्माण प्रज्ञा और कौशल का परिचय विश्व का रूप गढ़ने में नहीं बल्कि इन्द्र के वज्र और ब्रह्मणस्पति के परशु या कुठार के तक्षण में भी है — जिसके द्वारा वे अन्धकार का आवरण विदीर्ण करते हैं।[6] माता बृहद्दिवा के साथ पिता होकर विश्वभुवन को वे तो गले लगाए हुए हैं ऐसी बात नहीं बल्कि वे सविता होकर हम सब के अन्तर में भी हैं[7] — अचित्ति के नेपथ्य से कीर्णरश्मि होकर हम सब का मूर्द्धन्य महाकाश उद्भासित करते हैं। तब वे हमारे देवयान मार्ग के दिग्दर्शक हैं और इस देहरथ को उन्होंने ही अमृत की खोज में दौड़ाया है।[8] हमारी अभीप्सा की अग्नि तब उनका पुत्र,[10] हमारी प्रातिभ चेतना

तस्पात्, सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर् द्यावाभूमी जनयन् देव एकः १०।८१।३। लोहार की उपमा प्रच्छन्न रूप में : ये दो बाहें लोहार की, और पंखे या डैने धौंकनी के भीतर से लोहार की ही फूत्कार (फूँक), और उसी से विश्वभुवन की विसृष्टि; रूपायन। ब्रह्मणस्पतिर् अथच वह विश्व के ही हैं। लोहार अथवा कर्मकार की स्पष्ट उपमा : एता सं कर्मार इवाधमत् १०।७२।२।[4] और भी विश्वरूप का वर्णन १०।९०।१; उस समय वे 'पुरुष' — विशेष कोई देवता नहीं। वे ही सब कुछ हुए हैं — 'पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च च भव्यम्' २। फिर इन्द्र विश्वरूप ३।५३।८ टी. १५००, ६।४७।१८, ३।३८।४; वैश्वानर द्र. ५।१८२।२...।[5] ऋ. ३।५४।१२। [1] त्वष्टारम् अग्रजां [१५७१] ऋ. इह त्वष्टारम् अग्रियं विश्वरूपम् उप ह्वये १।१३।१०। गोपाम् पुरोयावानम् ...७।५।८; द्र. टी. १५६८२। [2] त्वष्टर् देवेभिर् जनिभिः सुमद्गणः २।३६।३, (तु. ६।५०।१३)। जैसे पिता त्वष्टा और माता बृहद्दिवा अनेक देवयुग्मों में परिकीर्ण हो रहे हैं। [3] तु. उत माता बृहद्दिवा शृणोतु नस् त्वष्टा देवेभिर् जनिभिः पिता वचः १०।६४।१०। त्वष्टा और देवपत्नीगण तु. १।१६१।४ (द्र. 'ऋभुगण'), २।३१।४, ७।३५।६, १०।६६।३। [4] ३।५४।१२, प्रथमभाजं (आदिदेव के रूप में गण्य होने के योग्य) यशसं (ईशान) वयोधां (तारुण्य के आधाता) सुपाणिं देवं सुगभस्तिम् ('गभस्ति' किरण और कर दोनों का ही बोध होता है; सूर्य के साथ साम्य) ऋभ्वम् (कुशली) होता यक्षद् यजतं पस्त्यानाम् (घर-घर में उनका यजन, क्योंकि वे सुप्रजनन के देवता हैं) अग्निस् त्वष्टारं सुहवं विभावा (विभाशाली अग्नि) ६।४९।९, ७।३४।२०। [5] १०।५३।९ टी. १४३८। [6] इन्द्रः अहन्न् अहिं पर्वते शिश्रियाणां (आधार की गहराई में कुण्डली मारे वृत्र अथवा अविद्या) त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं (ज्योति की तैयारी) ततक्ष १।३२।२, ५।३१।४, ६।१७।१०, १०।४८।३; ब्रह्मणस्पतिः १०।५३।९ टी. १४३८। ५२।७, ६।१६; ८।५।९, ५।२।१४, ६।१७।१०, १०।४८।३; [7] जनिता सविता १०।१०।५, पोष्टा ३।५५।१९। [8] उत स्य देवो भुवनस्य सक्षणिः २।३१।४। भुवनस्य सक्षणिस् त्वष्टा ग्नाभिः सजोषा जूजुवद् (दौड़ा देते हैं) रथम्, इला भगो बृहद्दिवोत रोदसी पूषा पुरन्धिर् अश्विनाव् अधा पती (वे दो जो सूर्या के पति हैं) २।३१।४। भूलोक से द्युलोक तक ज्योति के सभी देवता दिग्दर्शक हैं। फिर घाते हैं त्वष्टा, बृहद्दिवा एवं देवशक्ति गण। [10] १।९५।२, त्वष्टा यं त्वा सुजनिमा जजान १०।२।७,

अथवा सरण्यू उनकी कन्या[11] हमारा प्राण अथवा वायु उनका जामाता,[12] हम सब का मंत्रचैतन्य अथवा ब्रह्मणस्पति उनका जातक, जिनको वे प्रत्येक साम से कवि होकर जन्म देते हैं।[13] हम जिस मधु अथवा अमृतचेतना के प्यासे हैं, वह उनका ही मधु है।[14] उनके ही दिव्य धाम में हमारी वृत्रघाती इन्द्रचेतना पान करती है शतधाराओं में निर्झरित सौम्य मधु।[15] इसी आधार में इसी चन्द्र के घर में उनकी ही एक गुप्त किरण सुषुम्ण रश्मि होकर उतर आती है।[16]

यहाँ हमने देखा कि त्वष्टा परमपुरुष, विश्वपिता, विश्वरूप, चेतना के उत्क्रमण में सविता के रूप में हमारी धी के प्रचोदयिता हैं, प्रेरक हैं; हमारा परमार्थ जो सौम्य आनन्द है वे ही उसके शतधार उत्स हैं किन्तु इस सोमपान को लेकर ही संहिता में कहीं-कहीं इन्द्र के साथ विरोध का उल्लेख है। संहिता में एक स्थान पर हम कुछ इस प्रकार पाते हैं 'जिस दिन जन्मे तुम हे इन्द्र, उस दिन ही अपनी इच्छा से गिरिस्थित सोमांशु का पीयूष पान किया; वह तुम्हारी जन्मदात्री तरुणी माता ने महान पिता के घर में उंडेल दिया था सब से पहले, स्तन्यदान के पूर्व।... त्वष्टा को इन्द्र ने जन्मते ही अभिभूत करके उनका सोमपान किया था चमसस्थित [1562]।' तैत्तिरीय संहिता के अनुसार इन्द्र त्वष्टा के पुत्र की हत्या करते हैं इसलिए उनको छोड़ कर ही त्वष्टा ने सोम का आहरण किया था; किन्तु इन्द्र ने बलपूर्वक उनके सोम का पान कर लिया।[1] त्वष्टा जिस प्रकार विश्वरूप हैं, उसी प्रकार उनके पुत्र का नाम भी 'त्वाष्ट्र विश्वरूप' है। वह 'त्रिशीर्षा सप्तरश्मि' है। यही विशेषण अग्नि का भी है।[2] इसी त्वाष्ट्र विश्वरूप ~~को इन्द्र की प्रेरणा~~ से त्रित इन्द्र ने स्वयं ~~[illegible]~~ उसके चंगुल से आलोकयूथ को मुक्त किया था।[3] त्वष्टा के साथ इन्द्र के विरोध का सूत्र यही हो सकता है। किन्तु ऋक्-

---

४६।८। [11] तु. १०।१७।१-२, सरण्यू॥ सूर्यपत्नी संज्ञा (द्र 'सरण्यू')। १२ ८।२६।२१-२२। किन्तु विवस्वान भी त्वष्टा के जामाता १०।१७।१। विवस्वान प्रज्ञा, वायु प्राण। प्रातिभ-संवित दोनों की ही जाया अथवा शक्ति। वस्तुतः प्रज्ञा और प्राण एक ही तत्व के अगले पिछले भाग हैं (कौउ. 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इन्द्र की उक्ति ३।२; यो वै प्राणः सा प्रज्ञा... ३)। सूर्य 'जीवो असुः' ऋ. १।११३।१६ टी. १२८९; १३१३। १३ विश्वेभ्यो हि त्वा भुवनेभ्यस् परि त्वष्टाजनत् साम्नः साम्नः कविः २।२३।१७ (तु. छा. वाच ऋग् रसः ऋचः साम रसः १।१।२)। १४ ऋ. 'त्वाष्ट्रं मधु' १।११७।२२ (तु. ११६।१२; बृ. २।५।१६-१९)। १५ ऋ. त्वष्टुर् गृहे अपिबत् सोमम् इन्द्रः शतधन्यम् ४।१८।३ टीमू. १५७०[4]...। १६ १।८४।१५ टी. १२४८।

[1562] ऋ. यज् जायथास् तद् अहर् अस्य कामे अंशोः पीयूषम् अपिबो गिरिष्ठाम्, तं ते माता परि योषा जनित्री महः पितुर् दम आ असिञ्चद् अग्रे।... त्वष्टारम् इन्द्रो जनुषा, भिभूया, मुष्या सोमम् अपिबच् चमूषु ३।४८।२, ४। **अंशु** > आँश (आँस) सोम-लता के तन्तु, रेशे; तन्तु साम्य में 'किरण', क्योंकि सोम उज्ज्वल (तु. ९।७४।२ टी. १२१०[3])। इसी अंशु अथवा सोमतन्तु अथवा अमृतकिरण का **पीयूष** (तु. २।१३।१, १०।९४।८) आप्यायिनी धारा (< √प्याय + (ऊ) स)। द्युलोक के साथ ही उसका सम्बन्ध है (९।५१।२, ८५।९, ११०।८; अन्यान्य प्रयोग सोम के समय)। यही पीयूष **गिरिष्ठा** (प्रायः सोम का विशेषण ९।१८।१, ६२।४, ८५।१०, ९८।४)। आध्यात्मिक दृष्टि से 'गिरि' मूर्धा, सोम का निवास 'मूजवान्' गिरि उसका रूपक (१०।३४।१)। दिव्य सौम्य धारा वहाँ से झर रही है। [1] तैसं. २।४।१२।१; विस्तृत वर्णन शब्रा. ११।६।३।१...। [2] ऋ. १।१४६।१ टी. १३०७[4]; बृहस्पति सप्तरश्मि ४।५०।४।

संहिता में ही हम फिर देखते हैं कि त्वष्टा के घर में इन्द्र शतधार सोम पान करते हैं।[4] किन्तु वहाँ विरोध का कोई आभास नहीं एक ही क्रिया की दो प्रकार की विकृति – यह भी एक विरोध है। उसका समाधान क्या है?

ऋक संहिता में हम देखते हैं कि त्वष्टा जगत पिता हैं; वे स्वयं विश्वरूप हैं एवं उनका पुत्र भी विश्वरूप। उनमें एवं उनके पुत्र में कोई अन्तर नहीं। जिस प्रकार त्वष्टा देवता हैं, उसी प्रकार उनका पुत्र विश्वरूप भी देवता। अर्थात आग्नि, बृहस्पति अथवा इन्द्र की तरह वे भी 'सप्तरश्मि' हैं। दर्शन की भाषा में इसका तात्पर्य यह है कि यदि परमपुरुष ही इस जगत के रूप में हैं तो फिर उनमें और जगत में भेद हो नहीं सकता। यूरोपीय विज्ञान इस मत को Pantheism कहते हैं एवं यह उनके निकट एक आतंक है। इस प्रकार का कठिन दुर्बोध Pantheism तो हमारे दर्शन में कहीं नहीं है, यह बात हम पहले ही बतला चुके हैं। निस्सन्देह वे ही सब हुए हैं किन्तु होकर समाप्त नहीं हुए हैं। विश्वरूप में वे ही सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष एवं सहस्रपात हैं तब भी वे इस भूमि को 'विश्वतोवृत' करके दश अंगुल ऊपर अवस्थित रहते हैं। यह विश्वभूत उनका एक पाद मात्र है, उनका त्रिपाद द्युलोक में अमृत रूप में है [१५६३]। जितना उनका अमृत है, अमरणशील है उसके साथ आपाततः इस मर्त्य का विरोध है। किन्तु तत्व की दृष्टि से 'अमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः'— अर्थात अमर्त्य और मर्त्य का एक ही उत्स है।[1] त्वष्टा विश्वरूप अमृत हैं किन्तु त्वाष्ट्र विश्वरूप अमृतकल्प मर्त्य है। आधुनिक वेदान्त की भाषा में इस भावना का तर्जुमा या भाषान्तर यह है कि ब्रह्म अमृत हैं, वे ही जगत हुए हैं; किन्तु जगत माया है यद्यपि वह सन्मूल, सदायतन और सत्प्रतिष्ठ है। अतएव त्वाष्ट्र विश्वरूप परम देवता का पुत्र होकर भी असुर हैं, वह वृत्र है।[2] वह त्रिशीर्षा है, उसके तीन मुँह हैं। वह एक मुँह से सोमपान करता है, एक मुँह से सुरापान करता है और एक मुँह से साधारण खाद्य पदार्थ खाता है। अर्थात त्वाष्ट्र एक ही साथ असुर एवं मनुष्य है। हमने असुरों के सोने, चाँदी और लोहे के इन तीन पुरों का उल्लेख अन्यत्र पाया है।[3] सर्वत्र वही एक बात है कि विश्वमूल अमृत

इन्द्र भी २।१२।१२; किन्तु यह इन्द्र ही फिर वृत्रहन्ता। सप्तरश्मि वृत्र सप्तशती के शुम्भ की तरह बनावटी शुम्भ। २ त्रिशीर्षाणं सप्त रश्मिं जघन्वान् त्वाष्ट्रस्य चिन् निः ससृजे त्रितो गाः १०।८।८; इन्द्रः ... त्वाष्ट्रस्य चिद् विश्वरूपस्य गोनाम् आचक्राणस् त्रीणि शीर्षा परा वर्क् ८।। अस्मभ्यं तत् त्वाष्ट्रं विश्वरूपम् अरन्धयः (अधीन कर दिया था) साख्यस्य (सख्य हेतु, हमारे साथ तुम्हारा सख्य है इस कारण) त्रिताय (यहाँ ऋषि, सायण) २।११।१९।

[१५६३] ऋ. १०।५०।१,३। लक्षणीय; 'वृत्वा' जिससे 'वरुण' एवं 'वृत्र' दोनों ही निकलते हैं। एक ने सब आच्छादित कर
इनमें एक ज्योति का आवरण है और एक अँधेरे का।
रखा है और एक ढँके है। तु. ईशोपनिषद का 'हिरण्मय पात्र' १५। [1] १।१६४।३०।
२ तु. नि. तत को वृत्रः? मेघ इति नैरुक्ताः। त्वाष्ट्रोऽसुर इत्य् ऐतिहासिकाः।... अहिवत् तु खलु मंत्रवर्णा ब्राह्मणवादाश् च। विवृद्ध्या शरीरस्य स्रोतांसि निवारयाञ्चकार। तस्मिन् हते प्रसस्यन्दिरे आपः २।१६। [3] तु. श. तस्य सोमपानम् -

शुद्ध और अपापविद्ध है; किन्तु विश्व मृत्युस्पृष्ट, व्यामिश्र एवं पापविद्ध है। अथच उसके अन्तर में अमृत की प्यास है। इस मर्त्यरूप को नष्ट करके अमर्त्य विश्वरूप के धाम में हमें जाना होगा, वहाँ जाकर अमृत पान करना होगा। बलपूर्वक करना होगा।[4] जो इस माया के मूल मायी हैं, वे ही हमारे प्रतिद्वन्द्वी हैं। उनको पराजित करके उनके पास से अमृत छीन कर लाना होगा। यह भी उनकी ही इच्छा है। अतएव सप्तशती में देवी के मुख से सुनते हैं कि 'जो मुझे संग्राम में जीतेगा, मुझको पराजित करेगा, जो मेरे दर्प को दूर करेगा, जगत में जो मेरा प्रतिस्पर्द्धी होगा, वही मेरा भर्ता होगा।'[5]

विश्वरूप की हत्या करके त्वष्टा के घर में जाकर अमृतपान करना होगा- इसी भावना की अभिव्यंजना उपनिषद के नेतिवाद में है। याज्ञवल्क्य उसके विशिष्ट प्रवक्ता हैं और बुद्ध उनके उत्तराधिकारी हैं। किन्तु यह भी सम्यक् दर्शन नहीं। पुराणकार कहते हैं, विश्वरूप के वध के बाद इन्द्र को ब्रह्मवध का अभिशाप झेलना पड़ता है [१५६४]। यह एक गहरी बात है। अखण्ड दर्शन की दृष्टि से जगत को खारिज कर देने पर ब्रह्म को भी खारिज कर दिया जाता है। इसलिए विश्वरूप का वध ब्रह्मवध के अन्तर्गत है। किन्तु इसी विश्वरूप ने ब्रह्म को आवृत कर रखा है। उस आवरण को दूर करने में इन्द्रवीर्य को प्रकट करना ही पड़ता है और बलपूर्वक ही त्वष्टा के घर में जाकर सोमपान करना पड़ता है। किन्तु संहिता में देखते हैं, कि इन्द्र के सोमपान का केवल यह एक प्रकार ही नहीं है। अन्ततः ये तीन प्रकार हैं। देखते हैं कि जन्म के दिन ही इन्द्र माँ की कृपा से 'महान पिता के घर में,' सब से पहले इच्छानुसार सोमपान करते हैं।[1] इस अमृत-पान में उनका सहज अधिकार है। यह पान 'अग्रे', अर्थात विश्वातीत भूमि पर है।[2] उसके बाद 'विश्वरूपी' पृथिवी पर[3] विश्वरूप त्वष्टा को पराजित करके वे सोमपान करते हैं।[4] इस अभिभव या पराजय की शक्ति भी उनकी जन्मगत (जनुषा) है। उसके बाद फिर इसी विश्वरूप त्वष्टा के घर में ही वे 'शतधन्य' अथवा शतधाराओं में सोमपान करते हैं।[5] यहाँ और अभिभव का उल्लेख नहीं है। यह फिर उसी आदिम सहज अधिकार को आसानी से वापस प्राप्त करना है। हमारे अध्यात्म-जीवन में भी एक जैसी ही रीति है।[6]

एकं मुखम् आस, सुरापानम् एकम्, अन्यस्मा अशनायै-कम् १।६।३।२। ततो असुरा एषु लोकेषु पुरश्चक्रिरे। अयस्मयीम् एवास्मिन् लोके, रजताम् अन्तरिक्षे, हरिणीं दिवि २।४।४।३ [4] तु. ऋ. ३।४८।४। [5] यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति, यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्ता भविष्यति (५।१२०)।

[१५६४] जान पड़ता है इसका आभास ऋक् संहिता में भी है। तु. किम् उ स्वित् ... इन्द्रस्या-वद्यं (निन्दनीय; अन्याय) दिधिषन्त (पकड़ा था) आपः (जिनको उन्होंने मुक्त किया वृत्र का वध करके) ? ४।१८।७। उनकी मुक्त धारा में वह पाप बह गया - यही ध्वनि है।

[1] ३।४८।२ टीमू. १५६०। [2] मह: पितुर् दम आ-सिञ्चद् अग्रे (वही)। [3] तैब्रा. १।७।६।७। [4] ३।४८।४ टीमू. १५६०। [5] ४।१८।३ टी. १५६१[15]। [6] इसी कहानी के त्वष्टा को किसी-किसी ने इन्द्र के पिता के रूप में कल्पना की है। ३।४८।२ के 'महान् पिता', सायण के अनुसार 'कश्यप' (॥ कच्छप, महाकाश)। उसके बाद चतुर्थ ऋक् के त्वष्टा के पूर्वोक्त 'महान पिता' होने पर सर्वोपरि संगति नहीं बैठती। ४।१८।१२ के 'पिता' के साथ इन्द्र के विरोध का उल्लेख स्पष्ट है एवं यही 'पिता' त्वष्टा हो सकते हैं - साधारण रूप में। किन्तु वे इन्द्र के पिता हैं, यह परिकल्पना संशयरहित नहीं। याद रखना होगा कि त्वष्टा रूपकार हैं,

आप्री सूक्तों में त्वष्टा का जो रूप उभर कर सामने आया है, उसमें उनकी सृजनशक्ति के ही ऊपर अधिक बल देते हुए कहा गया है कि वे 'वृषा,' 'भूरिरेता:', 'सुरेता वृषभ;' एवं 'रेतोधा:' हैं [१५६५]। गर्भाधान मंत्र में त्वष्टा का आवाहन है, यह हम पहले ही बतला चुके हैं। आप्री सूक्तों में भी सुप्रजनन के साथ उनके सम्बन्ध का अनेक बार उल्लेख किया गया है।[1] यही त्वष्टा का लौकिक रूप है। सृष्टि एवं पुष्टि, दोनों के साथ ही वे युक्त हैं।[2] और यह भी ध्यातव्य है कि आप्री सूक्तों में त्वष्टा के साथ इन्द्र के विरोध का कोई संकेत तो नहीं ही है बल्कि बार-बार दोनों देवताओं के सायुज्य की बात ही कही गई है।[3] सभी देवता 'सजोषा:' हैं, उनके बीच विरोधाभास किसी आध्यात्मिक रहस्य का ही अभिद्योतक है।

ऐतरेय ब्राह्मण की विवृति में हम देखते हैं कि त्वष्टा वाक् हैं [१५६६]। गौरी रूप में वाक् 'सलिलानि तक्षती' हैं और उसी से कारण-समुद्र चारों ओर छलक पड़ता है एवं 'तत: क्षरत्य अक्षरम्'।[1] वाक भी सृष्टि की आदि प्रवर्तिका हैं त्वष्टा की तरह। कौशिक सूत्र में त्वष्टा सविता एवं प्रजापति हैं; मार्कण्डेय पुराण में वे विश्वकर्मा एवं प्रजापति हैं, अन्यत्र आदित्य हैं तथा महाभारत एवं भागवत में सूर्य हैं।

हम दिव्य भावना के नवम सोपान पर आ गए। इस बार सिद्धचेतना में सिसृक्षा का प्रवेग, आत्मरूप की विसृष्टि का उद्वेलन जागा अर्थात् उत्तरसत्य को पृथिवी के वक्ष पर मूर्त करने की साधना में कहीं भी त्रुटि न हो, इस तरह की अबन्ध्य, अनिवार्य कामना जाग्रत हुई। माध्यन्दिन संहिता के अनुसार इस बार का छन्द 'द्विपदा विराट्' हुआ और वृषभ को 'उक्षा:' अथवा वीर्यवर्षण में समर्थ रूप में देखते हैं [१५६७]। विश्वामित्र कहते हैं— 'वही जो है हमारा त्वरित स्रोता और पोषक (वीर्य) है ज्योतिर्मय त्वष्टा, अकृपण होकर उसका बन्धन खोल दो— जिससे वीर कर्मण्य, सुदक्ष सोमकामी (पुरुष) जन्म ले जो देवकाम, देवाभिलाषी हो' [१५६८]। जो समस्त जगत के रूपकार या शिल्पी हैं वे अकृपण दाक्षिण्य की मुक्तधारा बनकर हम सब के भीतर छलक पड़ें, इतने समय तक उनकी जो शक्ति आधार को पुष्ट करती आई है उसकी तेज़ धारा को मुक्त करें। उस धारा से जन्म ले वही वीर साधक जो कर्म-कुशल हो, सुकर्मी हो, जिसका संकल्प अबन्ध्य हो, जो सोमयाग का रहस्य जानता है और जिसके भीतर परमदेवता को पाने की अनिर्वाण अभीप्सा हो।

उनका स्वरूप सम्भूति की ओर प्रवृत्त है। और 'महान् पिता उसके ऊपर हैं, वे ही इन्द्र के पिता हैं। इस पिता के साथ इन्द्र का कोई विरोध हो नहीं सकता। उनका विरोध त्वष्टा के साथ है जो उनके पिता नहीं हैं।

[१५६५] वृषा ऋ॰ ८।५।८, मा॰ २०।४४, भूरिरेता: मा॰ २०।४४; सुरेता वृषभ: मा॰ २१।३८, २८।८, ३२; रेतोधा प्रै॰ १०। [1] ऋ॰ १।१४२।१०, २।३।८, ३।४।८; मा॰ २१।२०, २७।२०, २९।९। [2] ऋ॰ १।१४२।१०, ३।४।८, ५।५।८; मा॰ २७।२०, २८।३२ प्रै॰ १०। [3] तु॰ ऋ॰ ८।५।८; मा॰ २०।४४, ६४, २१।३८, २८।८, ३२।...

[१५६६]. ऐब्रा॰ वाग् वै त्वष्टा, वाग् घी दं सर्वं त्वाष्टी व २।४। [1] १।१६४।४१-४२ टी॰ १२६७।

[१५६७] मा॰ २१।२०, २८।३२।

[१५६८] ऋ॰ तन् नस् तुरीपम् अध पोषयित्नु देव त्वष्टर् वि रराण: स्यस्व, यतो वीर: कर्मण्य: सुदक्षो युक्तग्रावा जायते देवकाम: ३।४।८। तुरीपम— [तु॰ १।१४२।१०; < √तुर॥ त्वर त्वरा + √ अप् 'बहते रहना'; तु॰ अन्तरीप, प्रतीप, अनूप इत्यादि॥ खरस्रोता। सा॰ रेत: (अनुमेय)।

आप्री सूक्त के दशम देवता **वनस्पति** हैं। यास्क की व्युत्पत्ति के अनुसार 'जो वनों की रक्षा करते हैं, पालन करते हैं, वे वनस्पति हैं [१५७९]।' वन के साथ कामना अथवा आकूति के सम्बन्ध की कल्पना करने पर वनस्पति का रहस्यमय अर्थ होता है 'जो उच्छ्रित, ऊँची अभीप्सा का नायक' है। शाकपूणि के मतानुसार वनस्पति 'अग्नि' है।[1] आध्यात्मिक दृष्टि से ऐतरेय का कथन है कि 'प्राण ही वनस्पति' है।[2] इन दोनों मतों को मिलाकर हम पाते हैं कि वनस्पति प्राण की वह आग है जो मर्त्य-चेतना की जड़ता को तोड़कर हज़ारों शिखाओं में लपलपाती हुई द्युलोक की ओर उठ गई है: यह एक आश्चर्यजनक, अद्भुत कविदृष्टि है। ऋषि वनस्पति को इस प्रकार देख रहे हैं जैसे पृथिवी की वक्ष 'उद्भेद' कर या फोड़कर जरारहित, हरित प्राण की सहस्रशाख एक (दिव्य) महिमा उजागर हुई है जो स्वर्णिम ज्योति से दमक रही है।[3] वनस्पति जिस प्राण का प्रतीक है, वह माध्यन्दिन संहिता के एक स्थान पर 'अश्व' का बोधक बतलाया गया है।[4]

किन्तु देवता वनस्पति केवल अग्नि ही नहीं बल्कि वे सोम भी हैं। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार 'सोमो वै वनस्पतिः' [१५८०] इस उक्ति का समर्थन ऋक् संहिता में है- जहाँ सोम को एक स्थान पर 'प्रियस्तोत्रा वनस्पतिः'[1] और एक स्थान पर 'नित्यस्तोत्रो वनस्पतिः' कहा जा रहा है।[2] साधक की चेतना में जब प्राण की धारा ऊपर की ओर प्रवाह के प्रतिकूल प्रवाहित होती है तब वनस्पति अग्नि है और सिद्ध-चेतना में वह प्राण ही फिर जब दिव्य-चेतना की भूमि से सहस्र धाराओं में नीचे की ओर आता है तब वनस्पति सोम है।

ऊर्ध्वमूल अवाक्शाख 'अश्वत्थ' के वर्णन में वनस्पति का एक और परिचय प्राप्त होता है। कठोपनिषद् के अनुसार 'यह अश्वत्थ ही शुक्र-ज्योति है, वही ब्रह्म है; उसे ही अमृत कहते हैं, सारे लोक उसी के आश्रित हैं। कोई भी उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता [१५८१]।' ऋक् संहिता में ही हमें इस ब्रह्म-वृक्ष का परिचय प्राप्त होता है। वहाँ इसका वर्णन इस प्रकार है— 'बोध-हीन (शून्यता में) राजा वरुण ने वृक्ष के ऊर्ध्व पुंज को (स्थान) दिया है पूतसंकल्प होकर। वे नीचे की ओर उतर आए हैं जिनका बोध है ऊपर— हमारे भीतर ही जिससे निहित रह सकती हैं चिति (-रश्मियाँ)।'[1] एक स्थान पर इसे सुपलाश

'कर्मण्यः' — तु. १।९१।२०। कर्म का पारिभाषिक अर्थ है, देवोद्दिष्ट कर्म। 'युक्तग्रावा' सोम कूटने-पीसने के पत्थरों से जो युक्त हैं, सोमाभिषवकारी, सोमयाजी। 'देवकामः'— तु. य उशता मनसा सोमम् अस्मै सर्वहृदा देवकामः सुनोति १०।१६०।३। उद्विग्न आत्म-निवेदन की सुन्दर छवि।

[१५७९] नि. वनानां पाता वा पालयिता वा ८।३। द्र. टीमू. १२६७...। [1] नि. ८।१८।
[2] ऐब्रा. २।४; १०। [3] ऋ. ७।५।१० टी. १२३१[1]। [4] मा. २९।१०।
[१५८०] शा. ३।८।३।३३। [1] ऋ. १।९१।६। [2] ७।१२।७।
[१५८१] क. ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषो अश्वत्थः सनातनः, तद् एव शुक्रं तद् ब्रह्म तद् एवामृतम् उच्यते २।३।१। [1] ऋ. अबुध्ने राजा वरुणो वनस्योर्ध्वं स्तूपं ददते पूतदक्षः, नीचीनाः स्थुर् उपरि बुध्न एषाम् अस्मे अन्तर् निहिताः केतवः स्युः १।२४।७। महाशून्य 'अबुध्न'— जैसे अप्रकेत, अस्पष्ट नीला आकाश। उसके ही भीतर उलटे औंधे वृक्ष का मूल— एक स्तूप, पुंज अथवा गुच्छे की तरह। वही है 'बुध्न'— जैसे उसी आकाश में

वृक्ष' कहा गया है जिसके नीचे यम देवताओं के साथ सोमपान करते हैं।[2] और एक स्थान पर वर्णन के अनुसार जान पड़ता है कि यह एक ज्योतिर्मय पीपल का वृक्ष है।[3] शौनक संहिता में एक देवसदन अश्वत्थ वृक्ष का उल्लेख है जिसका अवस्थान तृतीय द्युलोक में है; उसमें अमृत का दर्शन होता है।[4] ऋक् संहिता के मूल वर्णन का अनुसरण करने पर विष्णु सहस्रनाम में विष्णु का एक नाम 'वारुणो वृक्षः' है। गोभिल सूत्र में वारुणवृक्ष अथवा ब्रह्मवृक्ष अश्वत्थ नहीं बल्कि 'न्यग्रोध' अथवा वटवृक्ष है जिसकी जटा नीचे की ओर उतरती है।[5] ऋक्-संहिता में अश्वत्थ भी दिव्य वृक्ष है।[6] विष्णुसहस्र नाम में न्यग्रोध उदुम्बर (गूलर) एवं अश्वत्थ ये तीनों अगल-बगल पाए जाते हैं।[7]

ब्रह्मवृक्ष की पीपल अथवा अश्वत्थ रूप ही संभवत: प्राचीनतम कल्पना है; वही आदिम वनस्पति है। वनस्पति जब अग्नि तब उसका मूल नीचे रहेगा और डालें, पत्ते ऊपर की ओर फैल जाएँगे। किन्तु ब्रह्मवृक्ष का मूल ऊपर की ओर है और डाल-पात नीचे की ओर उतर आए हैं। यह वर्णन या व्याख्या सन्ध्या भाषा में सोमात्मक वृक्ष का वर्णन है। न्यग्रोध अथवा वटवृक्ष ही ऐसा वृक्ष है जिसमें हम देखते हैं कि, जिस प्रकार शाखाएँ ऊपर की ओर फैलती हैं उसी प्रकार जटाएँ भी नीचे की ओर उतरती हैं। अर्थात् वैदिक भावना के अनुसार यह वृक्ष अग्नि सोमात्मक है। वारुण वृक्ष इस कारण अश्वत्थ को छोड़कर न्यग्रोध हुआ कि नहीं यह विवेच्य है। गीता में संसारवृक्ष का वर्णन है [१५८२], वहाँ उसका नाम अश्वत्थ है। किन्तु वहाँ कहा जा रहा है कि उसकी शाखाएँ ऊपर-नीचे दोनों ओर ही गई हैं। जान पड़ता है, यहाँ न्यग्रोध की कल्पना का छायापात हुआ है। किन्तु बौद्धशास्त्र का बोधिद्रुम न्यग्रोध है। यह 'न्यग्रोध' और ऋक् संहिता का 'नैचाशाख' सगोत्र हैं।[1] वेद के ऋषि नैचाशाख के प्रति अप्रसन्न, असन्तुष्ट दीखते हैं, यह ध्यातव्य है। उसमें ऋषिपंथा और मुनिपंथा के चिरप्रचलित विरोध का संकेत प्राप्त होता है।

जिस प्रकार ब्रह्मवृक्ष एवं संसारवृक्ष की कल्पना है उसी प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि से देह 'वृक्ष' की कल्पना है। इस कल्पना या भावना का मूल ऋक् संहिता में है। वहाँ हम देखते हैं कि एक ही वृक्ष पर दो पक्षियों का निवास है, उनमें एक पिप्पलाद है, मीठे फलों का भोक्ता है और एक अभोक्ता है, द्रष्टा मात्र है। यह वृक्ष पिप्पल (पीपल) है [१५८३]। बौद्ध चर्यापद का 'काआ तरुवर' स्मरणीय।

सौरमण्डल। वहाँ से रश्मियाँ नीचे की ओर उतर आई हैं (तु. १।१८९।२; शब्रा. २।३।३।७)। यह सोमवृक्ष का वर्णन है। वरुण के साथ सोम का घनिष्ठ सम्बन्ध है। [2] ऋ. यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः १०।१३५।१ (द्र. वे.मी. प्रथम खण्ड) ३ ५।५४।१२ टी. १२९/२, तु. १।१६४।२२ टी. १२८९। [4] शौ. अश्वत्थो देवसदनस् तृतीयस्याम् इतो दिवि ५।४।३ (=६।९५।१, १९।३९।६)। [5] गोभिल गृ. ४।७।२० ...। [6] तु. ऋ. १।१२५।८, १०।९७।५। [7] महा. अनुशासन-१४९।१०१।

[1] ऋ. ३।५३।१४ टी. १२०४[3]।

[१५८२] गी. १५।१-३। ऋक् संहिता का 'स्तूप' क्या शाखा भी है?

[१५८३] ऋ. १।१६४।२० टी. १२८९; तु. ११६४ टी. वही।

साधारणतया देखने पर हाथ-पाँव के साथ मानव-देह एक उलटे हुए वृक्ष जैसी है। सूक्ष्म दृष्टि से देह-वृक्ष का स्वरूप नाड़ीजाल में प्रस्फुटित होता है, जहाँ मूर्द्धा अथवा मस्तिष्क उसका ऊर्ध्वमूल है, वहाँ से नाड़ियों की शाखाएँ-प्रशाखाएँ नीचे की ओर फैल रही हैं। उसी ऊर्ध्वमूल से सोम की धारा नीचे उतरकर आधार को प्लावित करती है। किन्तु उस समय मेरुदण्ड के भीतर से होकर एक अग्निस्रोत ऊपर की ओर भी प्रवाहित होता रहता है। अर्थात् इन दो वनस्पतियों के अग्निसोमात्मक अन्योन्य-संगम का अनुभव चेतना में एक साथ प्रस्फुटित होता है। वनस्पति के भावना-प्रसंग में इस बात को ध्यान में रखना होगा।

शाकपूणि वनस्पति को 'अग्नि' कहते हैं और कात्थक्य याज्ञिकों की दृष्टि से 'यूप' कहते हैं [१५८४]। यूप अग्नि का ही उच्छ्रित, उत्थित रूप है। ऋक्संहिता के यूपसूक्त में प्रकारान्तर से 'द्रविणोदा' के रूप में उसका वर्णन करने में इस भावना की सूचना प्राप्त होती है।[1] आध्यात्मिक दृष्टि से जब यजमान यूप के साथ एकात्मता का अनुभव करते हैं[2] तब वह उनका मेरुदण्ड है। इसी यूप में बाँधकर पशुओं का 'संज्ञपन' किया जाता है अर्थात् उनके अल्पप्राण को महाप्राण में मिला दिया जाता है।[3] उस समय पशु या प्राण-चेतना सम्पूर्ण विश्व में फैलकर 'परम सधस्थ' अथवा सर्वदेवायतन परम व्योम में उतर जाती है।[4] जिस यूप के माध्यम से यह घटित होता है, उस समय वह 'शतवल्श' अथवा शतशाख वनस्पति' अर्थात् ऊर्ध्वस्रोता प्राणाग्नि का मूर्त विग्रह होता है और उसके साथ-साथ हम सब भी 'सहस्रवल्श' होते हैं।[5] ऋक्संहिता में अनेक स्थानों पर वनस्पति से साधारणतया वृक्ष का बोध होता है [१५८५]। किन्तु अनेक स्तोत्रों में ही साधारण वृक्ष के साथ अग्नि अथवा दिव्य वृक्ष की व्यंजना जुड़ी हुई है।[1] एक स्थान पर रहस्य-पूर्ण अर्थ में उलूखल-मुसल को वनस्पति कहा गया है।[2] और एक स्थान पर वनस्पति के विस्फारण में 'सप्तवध्रि' की मुक्ति का उल्लेख है।[3] सप्तवध्रि अविद्या से अपहत पुरुष है। इसके साथ प्रयुक्त उपमा से जान पड़ता है कि यह नाड़ी का मुँह खुल जाने की व्याख्या है।[4]

[१५८४] नि॰ ८।१८। [1] ऋ॰ अञ्जन्ति त्वाम् अध्वरे देवयन्तो वनस्पते मधुना दैव्येन, यद् ऊर्ध्वस्तिष्ठा द्रविणेह धत्ताद् यद् वा क्षयो (निवास) मातुर् अस्या (पृथिवी के) उपस्थे ३।८।१। वस्तुतः 'आज्य' द्वारा अञ्जन (लेप) अथवा यूप को घी से मलने की विधि है। किन्तु उसको 'दैव्य मधु' कहा जा रहा है, जिससे अग्नि-सोम की ध्वनि आती है। फिर ब्राह्मण में यूप आदित्य है (तु॰ ऐ॰ 'असौ वा अस्य [अग्निहोत्रस्य कर्तुः] आदित्यो यूपः ५।२८; तै॰ २।१।५।२) -अग्निस्तम्भ का लक्ष्य। द्र॰ टी॰ १२६०[2]। तु॰ ऐब्रा॰ यजमानो वै यूपः २।३; तै ब्रा॰ ११२।७।३, ३।७ ५।२; श॰ ३।७।१।११...। बैठा हुआ यजमान उच्छ्रित यूप जैसा। उसकी मूर्द्धा के ऊपर आदित्य मधुमय आज्य-लेपन से शरीर योगाग्निमय, प्रत्येक नाड़ी में अग्नि-स्रोत। [2] तु॰ ऋ॰ न वा उ एतन् म्रियसे न रिष्यसि देवाँ इद् एषि पथिभिः सुगेभिः १।१६२।२१। [4] तु॰ उप प्रागात् परमं यत् सधस्थम् १।१६२।१२; तु॰ अश्वमेध का अश्व विश्वव्याप्त बृ॰ १।१।१। [5] ऋ॰ वनस्पते शतवल्शो विरोह सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम ३।८।११। तु॰ द्रविणोदाः = वनस्पति २।३७।३; फिर यूप भी वनस्पति ३।८।१, ३, ६, ११; अतएव यूप भी द्रविणोदाः। [१५८५] ऋ॰ १।३७।५, १६६।५, ५।७।४, ६।४८।१७; ८।७।५, २०।५, १०।६०।७, ६५।११। [1] १।९०।८, १५७।५, ३।३४।१०, ५।४१।८, ४२।१६, ८४।३, ६।१५।२, ४७।२७, ७।३४।२३, ८।२३।२५, २८२

आप्री सूक्त के वनस्पति में अग्नि एवं सोम दोनों की ही व्यंजना है। इसके अतिरिक्त सूक्तों का विनियोग पशुयाग में किया जाता है, इसलिए उनमें यूप का प्रसंग भी आया है। अनेक स्थानों पर स्पष्टतया अग्नि के रूप में उनका उल्लेख किया गया है [१५८६]। उनके पक्ष में विशेष रूप से क्षरण, वर्षण या झरने के अर्थ में 'अवसृज' धातु का प्रयोग अग्नि के साथ सोम का सम्बन्ध सूचित करता है। हव्य को वे सुस्वादु करते हैं, बार-बार यह कथन भी उनके आनन्ददायक स्वभाव की ओर संकेत करके सोम-सम्बन्ध का परिचय दे रहा है।[1] इसके अलावा 'शमिता'[2] के रूप में यूप के साथ उनका सम्बन्ध सुस्पष्ट है। वृक्ष के रूप में वे सहस्रशाख, हिरण्मय एवं हिरण्यपर्ण हैं।[3]

अब हम दिव्य भावना के दशम सोपान पर आए। सम्बुद्ध सिद्धचेतना यहाँ वनस्पति की भाँति है। जिस प्रकार उसके भीतर पृथिवी के रस का संचय अग्निस्रोत के रूप में ऊपर की ओर प्रवाहित होता है, उसी प्रकार द्युलोक की सौम्य आनन्दधारा निरन्तर निर्झर रूप में झरती रहती है। ज्वार-भाटे की इन दो धाराओं के बीच 'दैव्य शमिता' का प्रशान्त है — जो देवताओं का जन्म-रहस्य और उनके गुह्य नाम जानता है [१५८७]। इसी प्रशम को लक्ष्य करके ही माध्यन्दिन संहिता में बतलाया गया है कि इस बार छन्द 'ककुभ' हुआ, जिससे व्याप्ति एवं तुङ्गता का बोध होता है और धेनु हो गई 'वशा' अथवा बन्ध्या या 'वेहत्' जिसे गर्भ होने पर भी गर्भ नहीं रहता। सत्ता के भीतर यही निस्तरंग प्रशम की अवस्था है। किन्तु चेतना तब परिव्याप्त एवं उत्तुंग तथा विसृष्टि के आनन्द में नित्य निर्झरित होती रहती है। विश्वामित्र ने कहा —

'हे वनस्पति निर्झर की तरह उतार दो इस आधार में देवताओं को। जो अग्नि (प्राण के) प्रशमिता हैं (मेरे) हवि को सुस्वादु करें वे। वही तो होता हैं सत्यतर, (मेरा) यज्ञ वे (उसी प्रकार) करें, जिस प्रकार उन्हें देवताओं के जन्म की जानकारी है [१५८८]।' अर्थात् हे दिव्य कामना की ऊर्ध्वशिखा, अपने प्राणों की सारी प्रवृत्तियों को तुम्हारे निकट निवेदित

... शिश्नं मुसलम् ७।४।२७।२, ५४।४, १०।६४।८। [2] १।२८।६, ८; तु. शब्रा. योनिर् उलूखलं ... १।३८। [3] ऋ. ५।७८।५-६। ४ वि जिहीष्व (फैल जाओ) वनस्पते योनिः सूष्यन्त्या (प्रसूति) इव श्रुतं में आश्विना हवं सप्त वध्रिं च मुञ्चतम् ५। अनुक्रमणिका में गर्भस्राविण्युपनिषत् इसी से। यह विनियोग परवर्ती। [1] ऋ. १।१२।११, १८८।१०, १४२।११, २।३।१०, ३।४।१०, १०।११०।१०; मा. २७।२१, २९।३५। [1] ऋ. १।१४२।११, १८८।१०; मा. २७।२१, २९।३५।
[१५८६] ऋ. १।१८८।१०, २।३।१०, ३।४।१०, १०।११०।१०; मा. २७।२१, २९।३५। ऋ. १।१४२।११, १८८।१०, १४२।११, २।३।१०, ३।४।१०, १०।११०।१०; मा. २७।२१, २९।३५; प्रैष ११ २।३।१०, ३।४।१०, १०।७०।१०, १०।११०।१० मा. २०।४५, २७।२१, २८।१०, ३३, २९।३५; प्रैष ११ (तु. ऋक् संहिता के 'सुपर्ण' जो 'पिप्पलं स्वाद्व् अत्ति' १।१६४।२०; क. मध्वद जीवात्मा २।१।५। [2] ऋ. २।३।१०, ३।४।१०, १०।११०।१०; मा. २०।४५, ६५; २१।२१, ३०, २७।२१, २८।१०, ३३, २९।३५; प्रै. ११। [3] ऋ. ९।५।१०; मा. २८।३३।
[१५८७] ऋ. ३।४।१०, यत्र वेत्थ वनस्पते देवानां गुह्या नामानि, तत्र हव्यानि गामय ५।५।१० (सोम भी वही करते हैं ९।९५।२)।
[१५८८] ऋ. वनस्पते अव सृजोप देवान् अग्निर् हविः शमिता सूदयाति, से.द उ होता सत्यतरो यजाति यथा देवानां जनिमानि वेद ३।४।१०। **शमिता** - [<√शम् 'उपशान्त करना'; द्र. टी. १४११] शमिता पशुघातक। पशु के गले में फन्दा डालकर उसका दम घोट कर बलि दी जाती। यह क्रिया प्राण के प्रशमन का अनुकरण है। इसे 'संज्ञपन' कहा जाता। बाहर का शमिता मनुष्य (व्यक्ति) किन्तु भीतर का शमिता अग्नि अथवा अभीप्सा है। **सूदयाति** - [<√ सूद॥ स्वद्॥ ※ स्वद्

किया है। तुम उन्हें प्रशान्त करो, देवभोग्य करो। उस प्रशान्त चिन्मय प्राण के ऊपर विश्वदेवता की चितशक्ति की मुक्त धारा को उतार लाओ। मैं नहीं बल्कि तुम ही उनके यथार्थ होता या आवाहनकर्ता हो। तुम ही जानते हो कि उत्सर्ग की भावना किस प्रकार सत्य होगी और कैसे इसी आधार में विश्वचेतना की अबन्ध्या दीप्ति विचित्र रूपों में कौंध उठेगी।

आप्री सूक्त के एकादश अथवा अन्तिम देवता 'स्वाहाकृतय:' हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में प्रश्न किया जाता है कि 'ये सारे स्वाहाकृति देवता कौन हैं'? उत्तर में बतलाया जाता है कि वे 'विश्वदेवगण हैं' [१५८९]। पुन: अन्यत्र देखते हैं कि 'सारे स्वाहाकृति यज्ञ की प्रतिष्ठा हैं' अर्थात् उनमें ही यज्ञ का अवसान एवं अविकृत पूर्णता है।[1] स्वाहा का अर्थ आवाहन एवं आत्मोत्सर्ग दोनों ही है।

अन्तिम प्रयाज में विश्वदेवता का ही आवाहन किया जाता है [१५९०]। तब भी विशेष रूप से इन्द्र का आवाहन अनेक मंत्रों में ही पाया जाता है।[1] इन्द्र के अतिरिक्त विशेष उल्लेख वरुण का है, जो अव्यक्त आनन्त्य के देवता हैं।[2] उसके अतिरिक्त अदिति वायु, मरुद्गण, बृहस्पति, सूर्य और सोम का भी उल्लेख है। किन्तु सारे आप्री देवता अग्नि के रूप हैं — इस मूलभूत तथ्य को हमेशा याद रखना होगा। यजमान की अभीप्सा की आग ही विश्वदेवता को लेकर आधार में उतर रही है — यह भाव प्रत्येक मंत्र में है। इस अग्नि के सम्बन्ध में विशेष रूप से 'पुरोगा:'[2] अथवा जो सबके आगे चलते हैं एवं 'सद्योजात:'[4] इन दो विशेषणों का प्रयोग किया गया है। वे प्रजापति की तप:शक्ति से संवर्धित होते हैं — इसका उल्लेख भी एक स्थान पर है।[5] हिरण्यगर्भ की तप:शक्ति, उनके सत्य संकल्प एवं हम सबकी अभीप्सा के रूप में सहसा जल उठती है एवं आधार में विश्वचेतना का आवेश उतार कर ले आती है — इसी सत्य की व्यंजना इन विशेषणों में है।

आप्रीसूक्त के देवता विश्वचेतन अग्नि हैं, और स्वाहा आहुति का मंत्र है। उनको क्या देंगे आहुति के रूप में? हव्य एवं सूक्त दोनों ही [१५९१]। हव्य द्रव्ययज्ञ का, सूक्त ज्ञानयज्ञ का उपकरण है।[1] स्वाहाकृति का हव्य क्या है?

'सुस्वादु करना, रोचक करना', तु. Gk. hedus, Lat. suavis, Goth. suts, Eng. sweet। अग्नि के साथ इस धातु का विशेष सम्बन्ध है, तु. ऋ. ४।४।१४, १।७१।८, ७।१६।७] लौकिक अग्नि अपक्व को पक्व और सुस्वादु करती है। उसी प्रकार दिव्य अग्नि अपने तेज द्वारा आधार को दग्ध और निर्मल करके रूपान्तरित करते हैं। उपनिषद् की भाषा में तब शरीर योगाग्निमय हो जाता है (श्वे. २।१२। आहुति मेरी अपनी ही आत्माहुति, अपने देह-प्राण-मन की आहुति। प्रशम द्वारा अग्नि उनमें दिव्य आनन्द का आविर्भाव करवाएंगे।

[१५८९] ऐब्रा. 'का देवता: स्वाहाकृतय: ? विश्वे देवा इति' २।१२। सारे देवता ही एक की विभूति हैं — इस ओर दृष्टि रखकर हम 'विश्वेदेवा:' के अर्थ में विश्वदेवता अथवा विश्वदेवगण समझेंगे। [1] ऐब्रा. २।४। द्र. वहाँ सायण। [2] द्र. टी. १५९२।

[१५९०] द्र. १।१३।१२*, ३।४।११*, ५।५।११*, ७।२।११*, १०।७०।११*, १०।११०।११ मा. २०।४६* २७।२२*; शौ. ५।२७।१२*। [1] तारांकित के अतिरिक्त भी ऋ. १।१४२।१३, ९।५।११, मा. २०।६६, २९।४०, २८।११, २८। [2] ५।५।११, १०।७०।११; मा. २९।२२; ४०, २८।३४। [2] ऋ. १।१८८।११, १०।११०।११;

पहले ही हमने बतलाया है[2] कि पशुयाग के दश प्रयाज देवताओं के समय हव्य आज्य है, केवल अन्त के इस याग में ही हव्य, पशु की 'वपा' या नाभि के पास का मेद (चरबी) है एवं अशरीरत्व के द्योतक के रूप में वपाहुति एक अमृताहुति है। वपा, रेत: (वीर्य) की तरह ही शरीर के भीतर शुभ्र अशरीर का चिद् बीज है। इस वपा की आहुति पाँच भागों में देनी होगी। क्योंकि पुरुष स्वयं 'पांक्त' अथवा पंचपर्वा है अर्थात लोम, त्वक्, मांस, अस्थि एवं मज्जा यही पाँच उसके उपादान हैं। पशु की वपा उसकी सत्ता की रहस्यमय धातु मज्जा का स्थानापन्न है। अतएव वपाहुति देवजन्म के लिए यजमान की आत्मसत्ता की निगूढ़ धातु की आहुति देना है।[3]

ब्राह्मण ग्रन्थों की विवृति से पशुयाग का तात्पर्य समझा जा सकता है। पशु, प्राण का प्रतीक है। अतएव पशुयाग अन्नप्राणमय आधार को हिरण्य ज्योतिर्मय करने की साधना है। आधार यदि यज्ञ का वेदिस्वरूप हो तो फिर उसका मध्य भाग नाभि अग्निस्थान देवयोनि अथवा चित्कुण्ड हुआ। और यही वपा अथवा चिद्बीज है। इसी बीज को अग्नि में निषिक्त करना होगा। योग में निषेक की पद्धति एक प्रकार का मुद्रा साधन है। उसमें क्रमश: लोम से मज्जा की ओर शरीरबोध की गति अन्तर्मुखी होती है। साधक इसी शरीर में ही हिरण्मय पुरुष का सायुज्य प्राप्त करते हैं। ब्राह्मण में संकेतित इसी साधना का प्रचार उपनिषद एवं तंत्र में है।

अब हम दिव्यभावना के एकादश सोपान पर आए, जहाँ देवता के साथ यजमान के सायुज्य में अध्यात्म सिद्धि की पूर्णता है। जो हिरण्य-गर्भ अथवा चिद्बीज उनके भीतर अन्तर्गूढ़ था, वह उनकी ही अभीप्सा की अग्नि में निषिक्त होकर पड़ा उनका हिरण्य शरीर। इसी आधार में ही विश्वचेतना का उल्लास छलक पड़ा। उनके लोकोत्तर के महाकाश में अदिति-वरुण की रहस्यपूर्ण स्तब्धता प्रस्फुटित हुई, उसके ही वक्ष में सोम-सूर्य की युगनद्ध चिन्मय दीप्ति और सविता की प्रेरणा उजागर हुई, द्युलोक के अन्तिम छोर पर गोत्रभित् इन्द्र-बृहस्पति का वज्र निर्घोष मन्द्रित हुआ, अन्तरिक्ष में मरुद्गण और वायु के अनिरुद्ध प्राण का प्लावन प्रवाहित हुआ और पृथिवी में सद्योजात अग्नि की प्रच्छटा बिखर गई [१५.२]। उस समय यजमान विश्व रूप हो गया। यही उनकी देवताति और सर्वताति है अर्थात् देवता होकर सब कुछ होना है। विश्वामित्र के कण्ठ से सुनते हैं—

'आओ, हे अग्नि, समिद्ध होते होते इस आधार में— इन्द्र को लेकर और त्वरित गति से विश्वदेवगण को लेकर एक ही रथ में। हम सब के (प्राण के) बर्हि पर आसीन हों अदिति के सुपुत्रों को लेकर। स्वाहा। विश्वदेवता मृत्युहीन होकर मत्त हो उठें और मत्त कर दें (मुझे) [१५.३]'— हमने अपनी आकूति में तुम्हें प्रज्वलित कर लिया है, हे तपोदेवता। इस बार इस आधार को दीप्त करो अपनी शिखाओं से। तुम्हारे आने से ही आएगी वज्र की दीप्ति और क्षण भर में

चित् शक्तियाँ सहस्रदल की सुषमा के साथ फूट पड़ेंगी। यह जो भूमानन्दमय प्राण का आसन अदिति के निमित्त बिछा दिया है, उनकी दिव्य विभूति का कल्याणमय आविर्भाव हो हमारे भीतर। आओ आओ, हे देवता – अपना सर्वस्व तुमको दिया। इस बार मृत्युजित् चित् शक्ति का पुंजद्युति आनन्द मेरे अन्तर में छलक उठे।

आप्री सूक्तों में जिस भावना और साधना का संकेत है, अब उसकी एक संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत है।

पशुयज्ञ द्रव्ययज्ञ है किन्तु उसकी भित्ति ज्ञानयज्ञ में है। जिस किसी भी क्रिया के मूल में भाव होता है, पहले भाव फिर उसके अनुसार क्रिया। वैदिक ऋषियों में भाव की अभिव्यक्ति जिस क्रिया में होती है, उसके दो रूप हैं अर्थात् एक वाचिक कविकृति है और एक आंगिक अनुष्ठान है। प्राचीन परिभाषा में एक का परिणाम सूक्त-प्रवचन में है और दूसरे का परिणाम यज्ञ में है – जिसका मुख्य अंग हव्य की आहुति है। देवताओं में कोई सूक्तभाक्, कोई हविर्भाक् और फिर कभी-कभी तो दोनों ही हैं।

यज्ञानुष्ठान बाहर की साधना है और मंत्रभावना आन्तर साधना है। मंत्र का विनियोग इन दोनों ही साधनाओं में होता है। अर्थज्ञान दोनों के पक्ष में ही आवश्यक है। अतएव दोनों क्षेत्रों में ही भावना अथवा ज्ञानयोग प्रधान है एवं वह निश्चित रूप से सार्वजनीन भी है। विशेष किसी भी अनुष्ठान के अधिकार को लेकर तर्क-वितर्क हो सकता है किन्तु भावना का अधिकार सब के लिए ही है। यह व्यवस्था चिरकालीन है। दुर्गापूजा के अनुष्ठान के लिए

मा॰ २९।११। ४ ऋ॰ १०।११०।११। ५ मा॰ २९।११।

[१५९१] द्र॰ मा॰ २८।११ प्रैष १३। १ देवताओं में कोई हविर्भाक् और कोई सूक्तभाक् हैं; फिर कोई दोनों ही हैं (नि॰ ७।१३)। २ द्र॰ टीमू॰ १४८८। ३ ऐब्रा॰ २।१४। तु॰ श॰ मज्जानो ज्योतिः १०।२।६।१८।

[१५९२] तु॰ ऋ॰ ३।४।११, ५।५।११, ७।२।११, ९।५।११, १०।७०।११, ११०।११; मा॰ २१।२२, ४०, २९।२६।

[१५९३] ऋ॰ आ याह्यग्ने समिधानो अर्वाङ् इन्द्रेण देवैः सरथं तुरेभिः, बर्हिर् न आस्ताम् अदितिः सुपुत्रा स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम् ३।४।११। 'तुरेभिः' < √तृ 'अभिभूत करना' अथवा < त्वर् 'तेज़ दौड़ना'। **स्वाहा** – निघण्टु में स्वाहा 'वाक्' (१।११)। नि॰ स्वाहेत्य् एतत् सु आह इति वा, स्वा वाग् आह इति वा, स्वं प्राह इति वा, स्वाहुतं हविर् जुहोतीति वा ८।२१। स्वाहा 'वाक्' अथवा एक विशिष्ट मंत्र है। निरुक्त व्याख्या के द्वितीय विकल्प में दुर्ग ब्राह्मणोक्त व्युत्पत्ति का उद्धरण देते हैं – 'तं स्वा वाग् अभ्यवदत् जुहुधीति। तत् स्वाहाकारस्य जन्म'। इस व्याख्या से जान पड़ता है कि स्वाहा उत्सर्ग का मंत्र है। किन्तु इस शब्द की व्युत्पत्ति में √हु उपयुक्त नहीं लगता। 'स्वाहा' और 'स्वधा' यदि युग्म समान मंत्र हों (तु॰ ऋ॰ याँश् च देवा वावृधुर् ये च देवान्त् स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति १०।१४।३) तो फिर स्वधा की तरह स्वाहा का भी विश्लेषण होगा 'स्व + आहा'। गत्यर्थक √हा है, 'आ' के जुड़ जाने पर वह आगमन का बोधक होगा। तो फिर स्वाहा का एक और अर्थ हो सकता है 'अपने आप आना'

अभिज्ञ अथवा विशेषज्ञ को बुलाना पड़ता है किन्तु देवी की भावना के लिए किसीको बुलाना नहीं पड़ता। पशुयाग के समय भी वही होगा। बाह्य याग आनुष्ठानिक है, उसके लिए साधन, उपकरण चाहिए, सूक्ष्मत: उसका विधि-निषेध पालन करना चाहिए। अन्तर्याग का मार्ग सीधा है, वह सब के लिए खुला है।

पशुयाग अति प्राचीन एवं सार्वजनीन है और वैदिक साधना का मूल स्तम्भ है। देखने में आता है कि प्रत्येक विशिष्ट ऋषि कुल के ही आप्री सूक्त हैं। उनमें देवता-विन्यास का क्रम भी एक ही है। अतएव अति प्राचीन काल से ही वैदिक समाज में इस उपलक्ष्य में जिस एक विशिष्ट साधनपंथा या साधनामार्ग का साधारणत: अनुसरण किया जाता, वह भलीभाँति समझ में आता है।

इस साधना का लक्ष्य प्राण का ऊर्ध्वायन अथवा उदात्तीकरण है। पशु प्राण का प्रतीक है। सूक्ष्म दृष्टि से प्राण नाड़ी संचारी है। शरीर के नाड़ी-संस्थान अथवा स्नायु-तंत्र का आश्रय लेकर अग्नि-शक्ति की सहायता से प्राण को ऊर्ध्वस्रोता किया जाता है। वही पशुयाग का अध्यात्म रूप है।

आप्री सूक्तों में प्राण को ऊपर की ओर प्रवाहित करने के ग्यारह सोपानों का वर्णन है। संक्षेप में हम उनका पुन: उल्लेख करते हैं। सर्वत्र ही समझना होगा कि यह प्राण का स्रोत शरीर में स्पष्ट अनुभूत तरल अग्नि का स्रोत है। देवता सर्वत्र ही अग्नि अर्थात साधक के श्रद्धाप्त आधार में अभीप्सा की शिखा है। और इस साधना का मुख्य आलम्बन मंत्र अथवा मनन की शक्ति है।

पहले अग्नि समिन्धन अथवा आधार में सर्वतोदीप्त एक ताप की सृष्टि करनी होगी। आधार में ताप है ही; वह धी अथवा एकाग्र मनन के फलस्वरूप उद्दीप्त होता है। उसके बाद उसी उद्दीप्त तपो-ज्योति के परिमण्डल में नक्षत्र बिन्दु जैसे चित्सत्व अथवा चिन्मय सूक्ष्म उपादान के एक भ्रूण का आशा और प्रकाश के एक अणु का अनुभव करना होगा। उसी बिन्दु चेतना से एक ऊर्ध्वमुखी शिखा का आविर्भाव होगा। वह शिखा ज्योतिरग्र एषणा के सूच्यग्र (सूई के नोक) के रूप में हृदय में प्रतिष्ठित होगी, वहीं देवता का आसन बिछाना होगा। उस समय हार्दज्योति के आलोक में देवयान-मार्ग पर सात ज्योति-तोरण दिखाई देंगे। उसके बाद उस ज्योति के ऊपर की ओर अव्यक्त विश्रान्ति का कृष्ण छायापथ दिखाई देगा। तब ज्योति के सहारे अँधेरे

जिस प्रकार स्वधा 'आत्मप्रतिष्ठा'। तब मंत्र का एक और तात्पर्य आवाहन:- 'तुम स्वयं आओ, क्योंकि तुम "सुहव" हो।' और फिर आवाहन के साथ जुड़ी है अभ्यर्थना। उससे 'सु + आहा' यह विश्लेषण भी हो सकता है जिसका अर्थ है 'तुम्हारा आगमन सुमंगल हो'। आवाहन, अभ्यर्थना, उत्सर्ग ये तीनों भावनाएँ ओत-प्रोत हैं। ... 'स्वाहा' देवगण का मंत्र है और 'स्वधा' पितृगण का मंत्र है। इन में एक आत्मोत्सर्ग के मार्ग को और एक आत्मप्रतिष्ठा के मार्ग को सूचित करता है। एक से देवता मनुष्य के भीतर उतर रहे हैं और एक से मनुष्य देवता की ओर ऊपर उठ रहा है।